ओंतत्सत्

श्रीधर्मकल्पद्रुम

द्वितीय खण्ड

[श्रीसत्यार्थविवेक]



AS THE BASIS OF
ALL RELIGION AND PHILOSOPHY.



पूज्यपाद श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजद्वारा विरचित

श्रीभारतधर्ममहामण्डल शास्त्रप्रकाशन विभागद्वारा प्रकाशित

काशी

द्वितीय संस्करण

सम्वत् २०३३] [मूल्य १०.००

ओंतत्सत्

श्रीधर्मकल्पद्रुम

द्वितीय खण्ड

[श्रीसत्यार्थविवेक]



AS THE BASIS OF
ALL RELIGION AND PHILOSOPHY.



पूज्यपाद श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजद्वारा विरचित

श्रीभारतधर्ममहामण्डल शास्त्रप्रकाशन विभागद्वारा प्रकाशित

काशी

द्वितीय संस्करण

सम्वत् २०३३] [मूल्य १०.००

श्रीभारतधर्ममहामण्डल

हिन्दूजातिकी यह अखिलभारतीय महासभा है। सनातनधर्मके प्रधान-प्रधान धर्माचार्यगण इसके संरक्षक हैं। इसके कई श्रेणीके सदस्य तथा अनेक शाखा सभाएँ हैं। हिन्दू नर-नारीमात्र इसके साधारण सदस्य बन सकते हैं। साधारण सदस्योंको केवल पाँच रुपया वार्षिक चन्दा देना होता है। उनको मासिकपत्र बिना मूल्य प्राप्त होता है। पत्र-व्यवहारका पता यह है :—

मन्त्री
श्रीभारतधर्ममहामण्डल
प्रधान कार्यालय जगतगंज,
वाराणसी—२२१००१

* श्रीविश्वनाथो जयति *

श्रीधर्मकल्पद्रुम ।

(सत्यार्थविवेक)

द्वितीयखण्ड सम्बन्धी विज्ञापन

धर्मकल्पद्रुमके द्वितीय खण्डका यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। भगवत्-पूज्यपाद महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज प्रभुके सुयोग्य शिष्य पूज्यपाद स्वामी दयानन्द-जी महाराजद्वारा लिखित और सम्पादित धर्मकल्पद्रुम नामक महान ग्रन्थ वस्तुतः सनातन धर्मविषयक कल्पद्रुम अर्थात कल्पवृक्ष ही है। यद्यपि भगवान् व्यासने अपने अठारह पुराणों तथा उपपुराणोंमें विविध प्रकारसे सनातनधर्मके अंगप्रत्यंगोंका जनसाधारणके बुद्धिगम्य बनानेकेलिये विविध आख्यायिकाओंके रुपमें वर्णन किया है, परन्तु आधुनिक समयके मनुष्य-समाजको उन्हें अध्ययन करने तथा मनन करनेकेलिये अवकाश नहीं है। उसका तो अपने तथा अपने पोष्यवर्गके भरण-पोषणके प्रयासमें ही जीवनका अधिकांश बहुमूल्य समय व्यतीत हो जाता है। भले ही आजकलके बुद्धिवादी लोग ईश्वरकी सत्ताको न मानते हों क्योंकि परमेश्वर उनके वैषयिक बुद्धिका विषय नहीं है, किन्तु मृत्युको तो वे भी इनकार नहीं कर सकते हैं और यह भी प्रत्यक्ष है कि, इस संसारका सारा वैभव, ऐश्वर्य, प्रियजन, स्वजन और सम्बन्धी कोई भी मृत्युके समय जीवके साथ नहीं जाता है, परन्तु उसकेद्वारा किये हुए शुभ या अशुभ कर्म विना अपना फल भोगाये कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते हैं। इसी सत्यको गोस्वामी सन्त तुलसीदासने कहा है कि—

कर्म प्रधान विश्वकरि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥

जगत्में देखा जाता है कि, बड़े पुण्यात्मा एवं धार्मिक नर-नारी भी अनेक प्रकारके कष्ट भोगते हैं, यह देखकर यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि, ऐसे पुण्यात्मा नर-नारी भी क्यों कष्ट भोगते हैं ? इस प्रश्नका सरल उत्तर यही है कि, वे जो कष्ट भोगते हैं, वह उनके पूर्व जन्मार्जित पाप कर्मोंका ही फल है। इस जन्ममें जो वे पुण्य संचय करते हैं, उसका सुखरूपी फल उन्हें अगले जन्ममें मिलेगा। कर्मके फलदाता परमेश्वर बड़े ही न्यायशील हैं, इस कारण पापी लोग भी अपने अर्जित पुण्यका फल सुख यहाँ भोगते हैं। हम मनुष्यों जैसे क्रुद्ध होकर शत्रुतावश सर्वेश्वर परमात्मा किसी जीवके पुण्यके फलके उपभोगसे उसको कदापि बंचित नहीं करते हैं।

धर्मका पालन करनेसे ही नर-नारी अपने चिरवांछित फल सुखको प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु धर्मका विषय इतना सूक्ष्म और दुरुह है कि, जनसाधारणकेलिये अपनी बुद्धिसे उसको

समझ पाना और धर्माधर्मका निर्णय कर पाना असम्भव है। भगवत्पूज्यपाद अनन्त-श्रीवभूषित महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजप्रभु अपने योग्यतम शिष्यद्वारा धर्मकल्प-द्रुम नामक ग्रन्थका प्रणयन करवाया था। निष्पक्ष व्यक्तिको यह अवश्य मानना पड़ेगा कि सनातनधर्मका ऐसा ग्रन्थ जिसको विश्वकोष कहना अत्युक्ति नहीं होगा। भगवत्पूज्य-पाद अनन्त श्रीविभूषित महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजप्रभुने इस धर्मके इस महान् विश्वकोषका भारतधर्म महामण्डल प्रधान कार्यालयके शास्त्रप्रकाश विभागद्वारा प्रकाशित करवाया था।

कालके प्रभावसे वर्तमान समयमें जनसाधारणकी रुचि धर्मकी ओर नहीं है, तथापि जब यौवनका उन्माद निवृत्त हो जाता है, जब इस जीवनके अन्तरुपी मृत्युकी छाया दिखायी देने लगती है, तब मनुष्योंको धर्म और परमात्माका स्मरण प्रायः आता है। ऐसे जिज्ञासुओं-की धर्मसम्बन्धी जिज्ञासा धर्मकल्पद्रुमसे अवश्य तृप्त होगी। धर्मसम्बन्धी ऐसा ग्रन्थ हिन्दी भाषामें अबतक प्रकाशित नहीं हुआ है। आशा है धर्मप्रेमी नरनारी इससे उचित लाभ उठायेगें।

कागज तथा प्रकाशन सम्बन्धी महर्घताके कारण इसका मूल्य १०) रखना पड़ा है।

मंत्री

श्रीभारतधर्ममहामण्डल

प्रधान कार्यालय लहुरावीर, वाराणसी—१

श्रीधर्मकल्पद्रुम द्वितीय खण्ड

विषय सूची प्रथम खण्ड

तृतीयसमुल्लास



तृतीयसमुल्लास



साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म



प्रथमसमुल्लास में साधारण धर्म्म का साधारण स्वरूप और उसके अङ्गों का विस्तारित विवरण कर चुके हैं। इस समुल्लास में साधारण धर्म्म से विशेष धर्म्म की विशेषता और विशेष धर्म्मों का रहस्य वर्णन किया जाता है। पूज्यपाद महर्षि भरद्वाजजी ने कहा है कि:—

> धारणाद्धर्म्मः ।
> अभ्युदयकरः सत्त्वप्राधान्यात् ।
> कर्म्माऽवसाने निःश्रेयसकरः शक्तिमत्त्वात् ।
> नियन्तृत्वात्ताद्रूप्यं धर्म्मस्य ।

विश्व ब्रह्माण्ड तथा उसके सब अङ्गों को धर्म्म ही धारणा करता है इस कारण उसको धर्म्म कहते हैं। जीव धर्म्म के प्रभाव से क्रमशः उन्नति को प्राप्त होता है। धर्म्म सत्त्वगुणवर्द्धक है इस कारण जीव क्रमशः धर्म्म की उन्नति द्वारा अपने में सत्त्वगुण बढ़ाता हुआ अभ्युदय अर्थात् उन्नति को प्राप्त करता है। धर्म्म का पूर्णाधिकारलाभ होने पर जब कर्म्म का अवसान होता है तो जीव को कैवल्य की प्राप्ति होती है। धर्म्मही एकमात्र विश्वका नियामक है इस कारण धर्म्म ही श्रीभगवान् का स्वरूप है। धर्म्म में और श्रीभगवान् में कुछ भेद नहीं है ऐसा कह सकते हैं।

यह साधारण धर्म्म की साधारण ऐसी शक्ति का ही कारण है कि धर्म्म-शक्ति के प्रभाव से जीव क्रमशः उद्भिज्ज से स्वेदज, स्वेदज से अण्डज, अण्डज से जरायुज और पुनः मनुष्ययोनि को प्राप्त हो जाता है। विश्वनि-यन्ता परमेश्वर के नियामकरूपी धर्म्म के प्रभाव से विश्वनियामक साधारण धर्म्मशक्ति के बल से उद्भिज्ज की अनन्त योनियों से जीव स्वेदज की योनियों में पहुँचता है। उद्भिज्ज योनि में केवल एकमात्र अन्नमय कोष का

विकाश था, उस समय सत्त्व गुण की एक ही कला प्रकाशित हुई थी। जब जीव धर्म्म की ऊर्द्ध करनेवाली शक्ति के प्रभाव से आगे बढ़कर स्वेदज योनि में पहुंचता है तो उसमें अन्नमय और प्राणमय दोनों कोष का विकाश होता है, उस समय सत्त्वगुण की दो कलाके विकाश होने से स्वेदज योनियों के जीवों में कुछ और ही चमत्कार देखने में आता है। तदनन्तर जीव क्रमशः धर्म्म की अदमनीय शक्ति से स्वेदज योनि से अण्डज योनियों के राज्य में पहुंचता है, उस समय धर्म्म के ही बल से अन्नमय प्राणमय और मनोमय इन तीन कोषों के विकाश होने से उसमें सत्त्वगुण की तीन कला का विकाश हो जाता है। तत्पश्चात् जीव अण्डज योनि से जब जरायुज योनि के राज्य में पहुंच जाता है तो धर्म्म ही के बल से जीव में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय, इन चारों कोषों का विकाश होकर सत्त्व गुणको चार कला का विकाश हो जाता है। अन्त में जीव श्रीभगवान् की नियामक धर्म्मशक्ति के ही प्रभाव से अपने आप ही मनुष्य योनि में पहुंचकर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, इन पांचों कोषों के विकाश का मनुष्य देह प्राप्त करके पूर्ण जीव बन जाता है। मनुष्य में पांचों कोषोंका विकाश है इसी कारण मनुष्य आनन्दमय कोष के विकाश का प्रत्यक्ष लक्षण हास्य का अधिकार प्राप्त करता है। मनुष्य के सिवाय और कोई जीव आनन्दप्रकाशक हास्य नहीं कर सकता है। मनुष्य में पञ्चकोष का साधारण विकाश है व मनुष्य में सत्त्वगुण की पांच कला विकसित हुई हैं इस कारण मनुष्य पूर्ण जीव है। मनुष्य में पूर्णता है इस कारण मनुष्य धर्म्माधर्म्मविचार करने में समर्थ है। मनुष्य में पूर्णता है इस कारण मनुष्य ज्ञानका अधिकारी है। मनुष्य में पूर्णता है इस कारण मनुष्य पाप पुण्य-भोग का अधिकारी होता है। मनुष्य को पूर्णता का अधिकार दियागया है इस कारण साथ ही साथ उसको पाप पुण्य भोगने का प्रातिभाव्य (जिम्मेवरी) दिया गया है। मनुष्य से इतर जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज योनियों के और और सब जीव केवल अपने अपने ब्रह्माण्ड की ब्रह्माण्ड-धारिका साधारण धर्म्मशक्ति के प्रभाव से क्रमशः अपने आप ही अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार उत्तरोत्तर जन्म लेते हुए स्वभावतः मनुष्य की योनि में पहुँच जाते हैं। वे पराधीन हैं, इस कारण ब्रह्माण्डप्रकृति उनको अपने अपने

अधिकार के अनुसार क्रमशः आगे बढ़ादेती है। परन्तु मनुष्य पञ्चकोष के सब अधिकारों को प्राप्त करके स्वाधीन बन जाते हैं। मनुष्य स्वाधीन होने के कारण अपनी अपनी इच्छाशक्ति को चलाकर अपनी अपनी नवीन इच्छा के द्वारा स्वाधीनता के साथ आहार निद्रा भय मैथुनादि कर्म्मों को करने में समर्थ होते हैं। इसी कारण मनुष्य प्रातिभाव्य (जिम्मेवरी) को प्राप्त करके पाप पुण्य के अधिकारी होते हैं। अन्य जीवों में धर्म्म का ऊर्द्ध्वगामी स्रोत बेरोकटोक आगे को बढ़ता रहता है। मनुष्ययोनि में वह ऊर्द्ध्वगामी धर्म्म का स्रोत नियमित धर्म्म करने से जारी रहता है परन्तु अधर्म्म करने से रुकजाता है। यदि मनुष्य शास्त्र और गुरु की सहायता से अथवा राजदण्ड और समाजदण्ड के भय से अपने में धर्म्माधर्म्म दोनों की पृथक्ता समझता हुआ केवल धर्म्म का ही अवलम्बन रखता हो तो उसमें जो अविरुद्ध अभ्युदयकारी धर्म्मप्रवाह था सो बराबर समानरूप से बना रहता है। तब मनुष्य क्रमशः असभ्य से सभ्यजाति, अन्त्यज से शूद्रजाति, शूद्र से वैश्यजाति, वैश्य से क्षत्रियजाति और क्षत्रिय से ब्राह्मणजाति में पहुँच जाता है। इसी प्रकार मनुष्य क्रमशः धर्म्म के बल से सत्त्वगुण बढ़ाता हुआ विद्वान्, शास्त्रज्ञ, तत्त्वज्ञानी और आत्मज्ञानी बनकर मुक्तिपद को क्रमशः प्राप्तकरके कृतकृत्य हो जाता है। जिस मनुष्यजाति में वर्णाश्रम धर्म्म की सुव्यवस्था नहीं है वे भी साधारण धर्म्मके बल से अभ्युदय प्राप्त करसकते हैं।

विशेष धर्म्म का रहस्य कुछ विशेष ही है। इसी कारण श्रीमहाभारत में भगवान् वेदव्यासजी ने कहा है कि :—

> यं पृथग्धर्म्मचरणाः पृथग्धर्म्मफलैषिणः।
> पृथग्धर्म्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्म्माऽऽत्मने नमः ॥

धर्म्म का महत्त्व विशेष धर्म्म के स्वरूप से ही विशेषरूप से प्रकट होता है इस कारण वेदव्यासजी ने कहा है कि पृथक्-पृथक् धर्म्मफल की इच्छा करनेवाले साधक जिसको पृथक्-पृथक् धर्म्म के आचरण से उपासना करते हैं उस धर्म्मस्वरूप भगवान को नमस्कार है। श्रीमहाभारत के इस महावाक्य के द्वारा विशेष धर्म्म का स्वरूप और विशेष धर्म्म का महत्त्व भली भांति प्रकट होता है। साधारण धर्म्म से विशेष धर्म्म की महिमा

अपार है, क्योंकि जीव विशेष धर्म्म के साधन द्वारा ही अपने अपने अधिकार की भूमि पर खड़ा रहकर अपनी उन्नति कर सकता है। जिस प्रकार पृथिवी पर चलनेवाला मनुष्य यदि जल में तैरने के समान पुरुषार्थ करे तो वह विफलमनोरथ ही नहीं होगा किन्तु उसका सब शरीर अवसादग्रस्त होगा और छिल जायगा, उसी प्रकार यदि जल के ऊपर मनुष्य तैरने का पुरुषार्थ न करके यदि चलने लगे तो डूब जायगा। ठीक उसी उदाहरण के अनुसार अपने अपने अधिकार के अनुसार विशेष धर्म्म का साधन समझना उचित है। यदि स्त्री पुरुषधर्म्म को पालन करना चाहे तो वह विफलमनोरथ ही नहीं होगी बल्कि पतित हो जायगी। उसी प्रकार पुरुष यदि पुरुषधर्म्म को छोड़कर स्त्रीधर्म्म के पालन करने में यत्न करे तो विफलकाम ही नहीं होगा किन्तु संसार में उन्मादग्रस्त कहलावेगा। यदि संन्यासी अपने निवृत्तिधर्म्म को छोड़कर गृहस्थ के प्रवृत्तिधर्म्म को पालन करने के लिये यत्न करता हुआ कामिनी-काञ्चन का संग्रह करेगा तो अवश्य ही पापग्रस्त होकर अधोगति को प्राप्त करेगा। उसी प्रकार यदि कोई गृहस्थ अपने गार्हस्थ्यधर्म्म को छोड़कर यतिधर्म्म को पालन करने लगे तो वह विफलमनोरथ ही नहीं होगा बल्कि कर्त्तव्यच्युत होने के कारण पापग्रस्त होगा। इस महावाक्य का तात्पर्य्य यही है कि जिसको पूर्व्वकर्म्म, और वर्त्तमान प्रकृति और प्रवृत्ति और अधिकार के अनुसार जैसे धर्म्म करने का अवसर प्राप्त हुआ है उसीके अनुसार वह जीव विशेष धर्म्म का आश्रय लेता हुआ अभ्युदय प्राप्त करे तभी ठीक है। नारी को नारीधर्म्म पालन करते हुए, पुरुष को पुरुषधर्म्म पालन करते हुए, संन्यासी को संन्यासधर्म्म पालन करते हुए और गृहस्थ को गृहस्थधर्म्म पालन करते हुए अग्रसर होने से हो उनके धर्म्मोन्नति और साथही साथ आत्मोन्नतिके पथमें बाधा नहीं होगी।

स्मृतिशास्त्र में साधारण धर्म्म के दस उपाङ्ग ऐसे कहे हैं कि जिनके पालन करने से पृथिवी भरकी सब मनुष्यजाति, और सब धर्म्म और उपधर्म्म सम्प्रदाय कल्याण को प्राप्त करसकते हैं। मनुसंहिता में लिखा है कि :-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥

धृति, क्षमा, दम, 'अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, ये दस धर्म्म के लक्षण हैं। अर्थात् ये दसों ऐसी सर्व धर्म्म से अविरुद्ध और उन्नत धर्म्मवृत्तियां हैं कि इनके द्वारा नर नारी, प्रवृत्तिमार्गगामी निवृत्तिमार्गगामी आर्य्य जाति अनार्य्य जाति, सभी समानरूप से धर्म्म प्राप्त कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इन्हीं साधारण धर्म्मवृत्तियों को जब विशेष धर्म्माधिकार से मिलाया जायगा तो स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि साधारण स्वरूप इन वृत्तियों का कुछ भी हो विशेष अधिकारियों के अधिकार के साथ इनके प्रत्येक के स्वरूप में कुछ विलक्षणता आजायगी। पतिके साथ सहमरण की इच्छा करनेवाली सती पत्नी की धृति में और पुत्रवात्सल्ययुक्ता शिशु के पालन में नियुक्ता माताकी धृति में बड़ा भारी अन्तर होगा। उसी प्रकार कर्म्मकाण्ड में प्रवृत्त ऋत्विक् ब्राह्मण की कर्म्मपरा धृति और कर्म्मकाण्डविमुख चतुर्थाश्रमी यति की कर्म्म से विमुखकारिणी धृति में आकाश पातालसा अन्तर होगा। दण्ड के महत्त्व को जाननेवाले कर्त्तव्यपरायण राजा के निकट दोषी को दण्ड देते समय क्षमावृत्ति का बल उस नरपति के चित्त में गौण हो जायगा, परन्तु हानि लाभ सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से अतीत मुक्तात्मा संन्यासी के निकट क्षमावृत्ति का पूर्ण स्वरूप सदा ही जाज्वल्यमान रहेगा। मानसिक तप के साधन में तत्पर वानप्रस्थ आश्रमी अथवा संन्यासाश्रमी विना दम के साधन किये कदापि अपने आश्रमधर्म्म की रक्षा नहीं करसकता परन्तु कूटनीतिपरायण एवं राजशासन में तत्पर राजा यदि शत्रुजय की चिन्ता को छोड़कर केवल मानसिक तप के अभ्यास में तत्पर हो तो वह राजा अपने राजधर्म्म से च्युत होगा। ब्राह्मण के अस्तेय में और वैश्य के अस्तेय में आकाश पातालसा अन्तर होगा। व्रतपरायण ब्राह्मण और आपद्ग्रस्त रोगी के शौच में अवश्य ही विशेष व्यवधान रहेगा। स्त्रीत्यागी यति के इन्द्रियनिग्रह में और सहधर्मिणीरत गृहस्थ के इन्द्रियनिग्रह में विशेष भेद रहेगा इसमें सन्देह ही क्या है। सकाम साधक और निष्काम साधक की शास्त्रानुगमन करानेवाली धी में विशेष अन्तर पड़ेगा। प्रथम ज्ञानभूमि के अधिकारी ज्ञानी व्यक्ति और सप्तम ज्ञानभूमि के अधिकारी ज्ञानी व्यक्ति के आत्मसाक्षात्कार में अनुमान और प्रत्यक्ष कासा महान् अन्तर रहेगा, इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है। महाभारत में कहा है कि:—

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाऽभिभाषणम् ।

इसी प्रकार परमपूज्यपाद परमाराध्य श्रीभगवान् व्यासदेवजीने कहा है कि प्राणिमात्र का जिसके द्वारा हित हो वही सत्य है, यथार्थ बोलना ही केवल सत्य नहीं हो सकता है। यदि यही सत्य का लक्षण है तो अवस्थाभेद से सत्य के स्वरूप में अवश्य ही भेद पड़ेगा। और इसी प्रकार जगत् के कल्याण धर्म्म की रक्षा और सत्य की रक्षा के लिये आवश्यकीय क्रोध और साधारण अक्रोध अवस्था दोनों ही धर्म्मवृद्धि के कारण होंगे इसमें सन्देह नहीं। पूर्व्वकथित विचारों से यही सिद्ध हुआ कि ये दस धर्म्मवृत्तियाँ साधारण धर्म्म के विचार से सब अधिकारियों के लिये साधन करने योग्य होने पर भी विशेष विशेष देश काल और पात्र में इनकी उपयोगिता में अन्तर पड़ जायगा इसमें सन्देह नहीं। और एक उपाङ्ग विशेष विशेष देश काल पात्र से विशेष धर्म्माधिकार को प्राप्त करके कैसे रूपान्तर को प्राप्त हुआ करता है इसका कुछ विवरण "धर्म्म" नामक अध्याय में पहले ही कहा गया है साधारण धर्म्म का कोई अंग हो अथवा उपागों में से कोई उपाङ्ग हो, विशेष विशेष देश काल पात्र में उनकी शक्ति व प्रयोग में तारतम्य हुआ करता है। इसी कारण विशेष अधिकार प्राप्त विशेष धर्म्म अति कठिन और परम आवश्यकीय है। उसके अधिकार समझने में कठिनता होती है और बिना विशेष धर्म्म के साधन किये धर्म्ममार्ग सरल नहीं हो सकता। इसी कारण श्रीभगवान् वेदव्यासजी ने धर्म्म को नमस्कार करते समय विशेष धर्म्मात्मक स्वरूप को ही नमस्कार किया है।

धर्म्मरहस्य और धर्म्मवैचित्र्य समझाने के लिये साधारण धर्म्म, विशेष धर्म्म और असाधारण धर्म्म इन तीनों को लक्षण और उदाहरण के साथ विस्तारित समझाना उचित होगा। जगन्नियन्ता श्रीभगवान् के जगन्नियामक आज्ञारूप से सर्व्वजीवहितकर व सर्व्वजीव-उन्नतिकारी जो नियम है वही साधारण धर्म्मपदवाच्य है। विशेष विशेष अधिकारी के उपयोगी पृथक् पृथक् देश काल पात्र के उन्नतिवर्द्धक जो नियम हैं वे विशेष धर्म्म कहाते हैं। और जब विशेष धर्म्म का अधिकारी अपनी विशेष धर्म्म की मर्यादा को छोड़कर प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा कोई असाधारण फलकी सिद्धि करे तो उस दशा में जो धर्म्मसाधन होता हो उसको असाधारण

धर्म्म कहेंगे। उदाहरणस्थल पर नारीजाति का धर्म्म विचारने योग्य है। श्रीपूज्यपाद महर्षि भरद्वाजजी ने कहा है कि :—

याग‍परः पुरुषधर्म्मः।
तपःप्रधानो नार्य्याः।

यज्ञप्रधान पुरुष धर्म्म और तपोधर्म्मप्रधान स्त्रीजाति का धर्म्म है। इससे यही सिद्ध हुआ कि पुरुषजाति के जितने धर्म बताये गये हैं वे सब यज्ञलक्षण से संयुक्त हैं और स्त्रीजाति के जितने धर्म निश्चय किये गये हैं सो सब तपधर्ममूलक हैं। स्त्रीजाति के सब धर्म तपधर्ममूलक कैसे हैं इसका विस्तारित विचार आगे किया जायगा। स्त्रीजाति के धर्म्मों के वर्णन करते समय वेद और शास्त्रों में स्मृतिकारों ने यह कहा है कि स्त्री जाति की स्वतन्त्रता कभी भी नहीं हो सकती क्योंकि स्वतन्त्रता आजाने से तप की रक्षा नहीं हो सकती। इसी विज्ञान के अनुसार आदर्श सती स्त्री के लक्षण वर्णन करते समय शास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि सर्व्वोत्तम सती स्त्री वह कहावेगी कि जिसकी धारणा इतनी दृढ हो कि वह सती स्त्री पृथिवी भर के सब पुरुषों को स्त्रीरूप देखे और अपने पति को ही पुरुषरूप देखे। उससे नीचे दर्जे की उत्तम सती वह कहावेगी कि जो सब पुरुषों को पुरुषरूप देखने पर भी अपने से बड़े आयु के पुरुषों को पितारूप, अपने से समान आयु के पुरुषों को भ्रातारूप और अपने से छोटी आयु के पुरुषों को पुत्ररूप देखती हुई केवल अपने पति को ही पतिरूप में देखा करे। मध्यम सती वह कहाती है कि जो धर्म्म के भयसे मनको भी पवित्र रख सके। और अधम सती वह कहाती है कि जो लोकलाज और सदाचार के विचार से अपने शरीर की ही पवित्रता रक्षा करने में समर्थ हो। इस प्रकार से सतीत्वधर्म्म का पालन नारीजाति के विशेष धर्म्म का उदाहरण है। इस पवित्र धर्म्म के पालन करनेवाली सीता और सावित्री आदि प्रातः-स्मरणीया स्त्रियों का नाम पुराणों में मिलता है। असाधारण धर्म्म के उदाहरण में द्रौपदी का उदाहरण ग्रहण करने योग्य है। द्रौपदी घटनाचक्र से नारीजाति का पूर्व्वकथित विशेष धर्म्मपालन करने में असमर्थ हुई थी परन्तु योगियों को भी दुर्लभ प्रबल धारणा के साधन द्वारा वह पांच

पति की सेवा करके भी शरीर और मन से पातिव्रत्य धर्म्म का पालन कर सकी थी, और प्रबल पुरुषार्थ द्वारा एक पति की सेवा करते समय दूसरे पति का पतिसम्बन्ध का आभास तक अन्तःकरण में आने न देने से प्रातः-स्मरणीया बन रही है। रम्भा-बलात्कार का दृष्टान्त जो पुराणों में पाया जाता है वह नारीजाति के साधारण धर्म्म का दृष्टान्त है। कुबेर और रावण दोनों भ्राता थे। रावण त्रिलोकजयी सम्राट् और कुबेर पराजित व्यक्ति होने पर भी, जब रावण रम्भा अप्सरा को पकड़ने को चला, तब रम्भा अप्सरा रावण के सब प्रलोभनों का त्यागकरके रावण को रोकती रही और उसने यही कहा कि मैं वेश्या होने पर भी आज की रात्रि के लिये तुम्हारे भ्राता कुबेर को वरण की हुई हूँ अतः आज मैं तुम्हारी भ्रातृवधू हूँ, इस कारण अगम्या हूँ। रम्भा वेश्या होने से सतीधर्म्मपालन की सर्व्वथा अयोग्या होने पर भी नारीधर्म्म के साधारण अंग के पालन करने में समर्था हुई थी। साधारणधर्म्म, विशेष धर्म्म और असाधारणधर्म्म इन तीनों का विज्ञान अतिजटिल है इस कारण किसी एक ही चरित में तीनों धर्म्म दिखाने के लिये पुनः यत्न किया जाता है। महर्षि विश्वामित्र का चरित्र स्मरण करने योग्य है। विश्वामित्रजी का राजधर्म्म विशेष धर्म्म है। आपत्काल में विश्वामित्र का कुकुरमांस तक ग्रहण करके शरीररक्षा करना साधारण धर्म्म है और प्रबल तपस्या द्वारा एक ही जीवन में असाधारण योगशक्ति के द्वारा क्षत्रिय से ब्राह्मण हो जाना असाधारण धर्म्म की परा-काष्ठा का उदाहरण है। धर्म्म अति दुर्ज्ञेय है इसी कारण श्रीमहाभारत में कहा गया है कि "धर्म्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्,,। साधारण मनुष्य इन सूक्ष्म भेदों को समझ नहीं सकता है इसी कारण स्मृत्यादि धर्म्मशास्त्र द्वारा विस्ताररूप से धर्म्म और अधर्म्म का निर्णय किया गया है।

असाधारण धर्म्म साधन करने का मौका असाधारण तौर पर असा-धारण व्यक्तियों में कदाचित् हुआ करता है। असाधारण धर्म्म करने का अवसर विशेषधर्म्म के अधिकारियों को कभी कभी मिला करता है अतः उसको अलग न समझकर विशेष धर्म्म के अन्तर्गत ही समझना चाहिये क्योंकि विशेष धर्म्म का अधिकार अतिविस्तृत है। विशेष धर्म्म ही जटिल और यथार्थरूप से अपने अपने यथायोग्य अधिकारी का परम हितकर है।

साधारणधर्म्म से जीव यद्यपि कल्याण-प्राप्त कर सक्ते हैं परन्तु उसमें प्रकृति प्रवृत्ति और अधिकार यथायोग्य विचारणीय न रहने के कारण उसका अधिकार भ्रमरहित, भयरहित और निश्चित फलदायी नहीं है। उदाहरण के द्वारा समझ सक्ते हैं कि तपःप्रधान नारी धर्म्म होने के कारण सतीत्वधर्म्म के उपदेश द्वारा प्रत्येक स्त्री को स्वर्ग और मोक्ष की ओर अग्रसर किया जा सकता है और ऐसे उपदेश द्वारा भय, भ्रम और विफलता की कोई भी सम्भावना नहीं है, दूसरी ओर एक असती बुद्धिमती स्त्री को योग और ज्ञानमार्ग द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर बढ़ा सक्ते हैं परन्तु यह साधारण धर्म्म स्त्री जाति के लिये साधारणतः भय, भ्रम और कठिनता से युक्त है, इसमें सन्देह नहीं।

पृथिवी भरके जितने उपधर्म्म हैं उनमें साधारण धर्म्म का लक्षण तो पाया जाता है परन्तु विशेष धर्म्म का विस्तारित अधिकार केवल सनातन वैदिक धर्म्म में ही पाया जाता है। वैदिकधर्म्म साधारणधर्म्म के पूर्ण विज्ञान और विशेष धर्म्म के अत्यन्त सूक्ष्म विचारों से पूर्ण है इसी कारण वैदिक धर्म्म अभ्रान्त, सर्व्व अंगों से पूर्ण और सर्वलोकहितकर है। सम्प्रदाय, पन्थ और उपधर्म्म में इस प्रकार के धर्म्मविचारों का कैसा न्यूनाधिक सं-बन्ध होता है सो अन्य समुल्लास में विस्तारित रूप से दिखाया जायगा, परन्तु यह तो इस समय कहना ही उचित है कि अन्य उपधर्म्मों में विशेष धर्म्म का कुछ भी विचार न रहने के कारण उनमें अधिकार और अधिकारी-भेद, वर्ण और आश्रमभेद, स्वर्ग और मुक्तावस्था का भेद, नर और नारी के प्रातिभाव्य (जिम्मेवरी) का भेद, आचार और आध्यात्मिक लक्ष्य का भेद इत्यादि सूक्ष्म विज्ञान के विषय हैं ही नहीं। जैसे गड़रिया एक ही लाठी से सब भेड़ों को हाँकता है उसी प्रकार उक्त उपधर्म्मों के आचार्य्यों ने एक ही प्रकार के नियमों से सब अधिकारियों को एक ही मार्ग पर च-लाने का यत्न किया है। चाहे बालक हो चाहे युवा हो और चाहे वृद्ध हो, चाहे नर हो चाहे नारी हो चाहे निर्ब्बल हो चाहे बलवान् हो, चाहे रोगी हो चाहे नीरोग हो, सब को एक प्रकार का पथ्य देना और एक ही चाल में सबको चलाने का यत्न करना जिस प्रकार सुफल नहीं प्रदान करसकता, उसी प्रकार विभिन्न प्रकृति प्रवृत्ति और अधिकार के अधिकारियों

के लिये एक ही प्रकार का धर्म्माचार कदापि सुफल देनेवाला नहीं हो सक्ता। सनातन धर्म्म की पूर्णता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वह विशेष धर्म्म की मर्य्यादा को भली भांति समझता है और अलग अलग अधिकार, अलग अलग अधिकारी, अलग अलग प्रकृति, अलग अलग प्रवृत्ति और अलग अलग साधकों के लिये यथायोग्य तप, कर्म्म, उपासना ओर ज्ञानाधिकार का निर्द्देश बड़े सूक्ष्म विचार के साथ करता है। एक ही धर्म्मानुशासन सब अधिकारियों के लिये कदापि उपयोगी नहीं हो सक्ता। इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि थोड़े ही विचार से यह सिद्ध होता है कि एक ही धर्म्म विभिन्न अधिकारियों के लिये कहीं धर्म्म और कहीं धर्म्मरूप में परिणत हो सक्ता है। इसी कारण जिस धर्म्म सम्प्रदाय में विशेष धर्म्म की व्यवस्था न हो वह धर्म सम्प्रदाय बिलकुल असम्पूर्ण है इसमें सन्देह नहीं। सनातन धर्म में साधारण धर्म का अधिकार गौण और विशेष धर्म्म का अधिकार ही मुख्य माना गया है। इस कारण सनातन धर्म्म पूर्ण और सर्वजीवहितकर हैं।

वर्णधर्म्म और आश्रमधर्म विशेष धर्म्मविज्ञान की भित्ति पर निर्णीत किये गये हैं और वर्णाश्रमधर्म्म स्वाभाविक भी हैं। ये सब बातें विस्तृतरूप से आगे के अध्यायों में दिखाई जायंगी। इसी प्रकार पुरुषधर्म्म व नारीधर्म्म के विशेष धर्म्म के अधिकार में आकाश पाताल कासा अन्तर है। राजधर्म्म व प्रजाधर्म्म में दिन व रात्रि कासा भेद है। ये सब विशेष धर्म्म की बातें विस्तृतरूप से अगले अध्यायों में बताई जायंगी। अब केवल इन विशेषधर्म्मों के कुछ कुछ संक्षेप उदाहरण लेकर यह दिखाया जाता है कि एक विशेष धर्म्म कहीं धर्म्म होकर जीव की उन्नति का कारण होता है और अन्य देश काल पात्र पाकर वही विशेष धर्म्म दूसरे समय पर अधर्म्म बनकर उस दूसरे अधिकारी की अवनति का कारण होता है। मनुष्य समाज की रीति व गति पर समालोचना करने से तुरन्त ही सिद्ध होता है कि प्रत्येक मनुष्यसमाज में कुछ लोग यदि विशेष रीति पर विशेष धर्म्म के अधिकार को पालन करते हुए कोई सेवा धर्म्म, कोई कृषि वाणिज्य धर्म्म, कोई राज्यपालन धर्म्म और कोई आध्यात्मिक, उपदेशप्रदानादि धर्म्म अलग अलग रूप से पालन न करें तो मनुष्यसमाज जीवित ही नहीं रह सक्ता है। ऐसी दशा में जो

क्षत्रिय राज्यरक्षा, प्रजापालन आदि विशेषधर्म्म के अधिकारी हैं उनको यदि राजनीति की शिक्षा, युद्धविद्या की शिक्षा और प्रजापालनप्रवर्त्तक धर्म्मशास्त्र आदि कानून की शिक्षा न दी जाय और उनको उनका यह विशेष धर्म्म छुड़ाकर ब्राह्मण का विशेष धर्म्म बताया जाय तो वे क्षत्रिय वर्ण के मनुष्य अपने अधिकार से गिर जायँगे और अधर्म्म के अधिकारी होंगे। और साथ ही साथ जिस मनुष्यजाति में ऐसे विपरीत आचरण करनेवाले मनुष्य जन्मेंगे वह मनुष्यजाति अधःपतित हो जायगी। क्षत्रियधर्म्म रजःसत्त्वप्रधान होने के कारण तिरस्कार पुरस्कार राजदण्ड आदि द्वारा प्रजा का पालन करना और युद्ध द्वारा देश व राज्य की रक्षा करना आदि उसका स्वाभाविक धर्म्म है। दूसरी ओर ब्राह्मणजाति का धर्म्म केवल सत्त्वप्रधान होने के कारण तप का अभ्यास करना, अध्यात्मविद्या की उन्नति करना, विद्या पढ़ना और अन्यको पढ़ाना और धर्म्मका प्रचार करना इत्यादि है जो उस जाति का विशेष धर्म्म है। इस दशा में यदि किसी मनुष्यजाति के सब क्षत्रिय ब्राह्मणधर्म्म के विशेष धर्म्म का पालन करने लगें तो वे अन्यधर्म्मावलम्बी क्षत्रिय अपने कर्त्तव्य से च्युत होकर अधर्म्म सम्पादन करेंगे और उनकी जाति भी गिर जायगी। यदि किसी देश का शक्तिशाली राजा धर्म्मप्रचारकों के भ्रमपूर्ण उपदेश द्वारा प्रजाशासन छोड़ दे और तपःस्वाध्याय करने लगे व अपने क्षत्रिय-अहङ्कार को छोड़कर दूसरे से भीख माँगने लगे तो अवश्य ही पतित हो जायगा। एक ओर भगववान् के दिये हुए प्रजापालनरूपी अधिकारों को छोड़ देने से अपने कर्त्तव्य से च्युत होने के कारण दैवीकोप का पात्र होगा और दूसरी ओर अपने अभ्यासविरुद्ध, प्रकृतिविरुद्ध व संस्कारविरुद्ध विशेषधर्म्मों के पालन करने में यत्न करने से अवश्य ही पूर्णमनोरथ नहीं हो सकेगा। तप करना, अध्यात्यविद्या का प्रचार करना, अहङ्कार छोड़कर भिक्षावृत्ति करनी इत्यादि जिसके संस्कार में नहीं है और जिसने बालकपन से ऐसा अभ्यास नहीं किया है वह यदि उक्त विशेष धर्मका एकाएक पालन करने लगे तो कदापि वह उन ब्राह्मणों की तरह सफलकाम नहीं हो सकेगा जिन्होंने उक्त विशेषधर्म का संस्कार पूर्वजन्म से प्राप्त किया है और अब भी बालकपन से उन विशेषधर्म्मों का अभ्यास कर रहे हैं। फलतः वह क्षत्रिय नृप एक ओर अपने धर्म को छोड़ देने से पतित होगा

और दूसरी ओर ब्राह्मणधर्म्म को यथावत् पालन करने में समर्थ न होकर अकृतकार्य होगा। और अन्य ओर जिस जाति का राजा राजधर्म से पतित होगा उसकी प्रजा उच्छृङ्खल व राजद्रोही बन जायगी और क्रमशः वह राज्य शत्रुओं के अधीन होकर पराधीन हो जायगा। इस विचार से यही सिद्ध हुआ कि क्षत्रियों के लिये क्षात्रधर्म्म विशेष धर्म्म है और ब्राह्मणों के लिये ब्राह्मणधर्म्म विशेष धर्म्म है। और ब्राह्मणधर्म्म प्रशंसनीय व उत्तम होने पर भी, क्षत्रिय जाति के लिये वे सब विशेष धर्म्म अधर्म्मरूप हैं। वर्णधर्म का एक दृष्टान्त दिया जायगा। अब आश्रमधर्म का एक दृष्टान्त दिया जाता है। संन्यासआश्रम का एक विशेष धर्म अन्य आश्रमों के लिये पूजनीय और अति प्रशंसनीय है इसमें सन्देह नहीं। गृहस्थाश्रम प्रवृत्तिमूलक और संन्यासाश्रम निवृत्तिमूलक होने के कारण संन्यासाश्रम गृहस्थ के लिये पूजनीय है इसमें भी सन्देह नहीं है। परन्तु जो गृहस्थ संन्यासाश्रम का अधिकारी नहीं है, जिसमें विषयवासना बनी हुई है, वह यदि अपने संन्यासी गुरुकी नकल करने लगे तो अवश्य ही पतित हो जायगा। कामिनी व काञ्चन का एकदम त्याग कर देना, केवल अध्यात्मशास्त्र का चिन्तन करना और सब समय जगत्-कल्याण में ही मन लगाना ये संन्यासाश्रम केविशेष धर्मों में से हैं। दूसरी ओर धर्म्म से धन कमाना, धन का सञ्चय रखना, स्त्रीसेवा करना, अर्थशास्त्र का भी चिन्तन करना, सबसे पहले अपने स्वजनों के पालन व उपकार करने का यत्न करना इत्यादि गृहस्थ के विशेष धर्म्म के प्रधान अङ्ग हैं। ये सब गृहस्थ के विशेष धर्म्म संन्यासाश्रम के विशेष धर्म्मों से सम्पूर्ण विरुद्ध हैं। अतः गृहस्थ शिष्य यदि अपनी अयोग्य दशा में संन्यासी गुरुकी नकल करने लगे तो अवश्य ही धर्म्मच्युत होगा। अर्थशास्त्र का अभ्यास न करने से अर्थसंग्रह नहीं कर सकेगा, अर्थसंग्रह नहीं करने से गृहस्थाश्रम का धर्म्म पालन नहीं कर सकेगा और स्वधर्म्म के साथ स्त्रीसेवा और आत्मीय जनों का प्रतिपालन न करने से उनका असन्तोषभाजन व अपने कर्त्तव्य से च्युत होकर अधर्म्मी बन जायगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि संन्यासधर्म्म अति उत्तम व प्रशंसनीय होने पर भी अनधिकारी गृहस्थ के लिये वह अधर्म्मरूप है। इसी रीति पर स्त्री धर्म्म व पुरुषधर्म्म भी उदाहरणरूपसे विचारने योग्य हैं। मीमांसादर्शन में पुरुष के

सब विशेष धर्म्म यज्ञप्रधान और स्त्री के सब विशेष धर्म्म तपःप्रधान माने गये हैं। इसी कारण वर्णाश्रम के सब धर्म्म प्रधानतः यज्ञमूलक हैं और सती के सब विशेषधर्म्म तपोमूलक हैं। इसी कारण सन्ततिहीन गृहस्थ यदि सन्तान की इच्छा से अधिक विवाह करे तो वह पतित नहीं हो सक्ता परन्तु सती स्त्री मनसे भी पुरुषान्तर की चिन्ता करने से तत्क्षणात् पतिता हो जायगी। दर्शनशास्त्र ने यह सिद्ध किया है कि स्त्री पुरुष के साथ मिलने पर तब पूर्णता को प्राप्त होती है। इसी कारण स्त्रीजीव का स्त्रीजन्म बराबर ही होता रहता है। जब तक वह स्त्री सतीधर्म्म को पूर्णरीत्या पालन करती हुई व सतीधर्म्म के अनन्य पतिप्रेम के कारण अपने पुरुष की चिन्ता करती हुई पतिलोक (पञ्चमलोक) में पहुँचकर पति के साथ तन्मय न हो जाय तब तक वह स्त्री जन्मान्तर में पुरुषरूप होकर कदापि जन्म ग्रहण नहीं कर सक्ती है। यही पातिव्रत्यरूपी विशेष धर्म्म की पूर्णता ही स्त्री को पुरुषतन्मयता प्राप्त करा-कर, उसको जन्मान्तर में पुरुष शरीर प्रदान कराती है। इस पुरुषतन्मयता-रूपी सतीधर्म्म के विरुद्ध जो जो आचार स्त्री करेगी उनसे वह अवश्य ही पतित हो जायगी। पुरुष जिस प्रकार बहु स्त्री संग्रह कर सक्ता है उसी प्रकार स्त्री यदि पुरुषान्तर ग्रहण करने की इच्छा करे, पुरुष जिस प्रकार स्वाधीन रूप से जीवनयात्रा निर्वाह कर सक्ता है उसी प्रकार स्त्री यदि स्वाधीन व स्वेच्छाचारिणी हो जाय तो वह अवश्य ही पतिता हो जायगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुरुष का विशेष धर्म्म उन्नतहोने पर भी यदिस्त्री अपने विशे-षधर्म्म को छोड़कर पुरुष के विशेषधर्म्म के पालन करने में तत्पर हो तो वह अवश्य ही पतिता व पापग्रस्ता हो जायगी। इस प्रकार से विशेष विशेष अधिकारी यदि अपने अपने विशेष विशेष अधिकार के अनुसार विशेष धर्म्मों का पालन न करके अन्य के अधिकार में चलने का अभ्यास करेंगे तो अवश्य ही पतित हो जायँगे। केवल विशेष विशेष अधिकार के अनुसार विशेष धर्म्म के पालन करने से ही मनुष्यों की अविरुद्ध उन्नति हो सक्ती है।

वेदोक्त सनातनधर्म्म के अतिरिक्त जितने धर्म्मसम्प्रदाय, धर्म्ममत, धर्म्म-पन्थ और उपधर्म्म आदि जगत् में प्रचलित हैं वे सब असम्पूर्ण हैं। उन में साधारणधर्म्म के विज्ञान का रहस्य प्रकट नहीं है और न उनमें विशेष धर्म्म की महिमा प्रकट हुई है। आर्य्यशास्त्र के अनुसार सनातनधर्म्म ईश्वर

की नांई नित्य, सर्वव्यापक और सर्वजीवहितकारी है। सनातन धर्म्म के अनुसार धर्म्म को सृष्टि का नियामक नित्यस्थित नियम करके माना गया है। सनातन धर्म्म के अनुसार धर्म्म उसी महाशक्ति का नाम है कि जिसके बलसे यह ब्रह्माण्ड स्थित है, जिसके बल से ब्रह्मा विष्णु महेश अपने अपने ब्रह्माण्ड में सृष्टि स्थिति लय करने में समर्थ होते हैं और जिसके बल से जीव उद्भिज्ज योनि से प्रारम्भ करके क्रमशः मनुष्य होता है और तदनन्तर विशेष धर्म्म के पालन द्वारा क्रमशः उन्नत होता हुआ ब्रह्मपद में मिल कर मुक्त होजाता है। सनातन धर्म्म के अनुसार पृथिवी भरके कोई धर्म्म-सम्प्रदाय, कोई धर्म्ममत, पन्थ या उपधर्म्म उपेक्षा के योग्य नहीं हैं क्योंकि विशेष धर्म्म की मर्य्यादा सनातन धर्म्म में सबसे अधिक है। सनातन धर्म्म के अनुसार साधारण धर्म्म के अङ्गों और उसके उपाङ्गों का अधिकार अपने अपने देश काल के अनुसार पृथिवी के सब मनुष्य प्राप्त करके अभ्युदय को प्राप्त कर सकते हैं। सनातनधर्म्म के अनुसार विशेष धर्म्म के द्वारा अपने अपने अधिकार के अनुसार स्त्री पुरुष, ज्ञानी अज्ञानी, आर्य्य अनार्य्य, बालक वृद्ध, सात्त्विक पात्र व तामसिक पात्र, सभी यथावत् उपयोगी साधन प्राप्त करके मुक्तिमार्ग में अग्रसर हो सकते हैं। सनातन धर्म्म में दूसरे धर्म्म की निन्दा करने की न रीति है और न अवसर रक्खा गया है। यह सनातनधर्म्म ही है कि जो चार वर्णों के विशेष धर्म्म से, चार आश्रमों के विशेष धर्म्म से, पुरुषधर्म्म व नारीधर्म्म के विशेष धर्म्म से, आर्य्यजाति व अनार्य्यजाति के विशेष धर्म्म से और प्रवृत्ति व निवृत्ति के विशेष धर्म्म से पूर्ण है। सनातनधर्म्म में साधारणधर्म्म का सर्वलोकहितकर विराट् अद्वितीय स्वरूप जैसा भली भांति प्रकट है उसी प्रकार सनातनधर्म्म में विशेष धर्म्म की अनन्तता प्रकट करके सब प्रकार के अधिकारियों का कल्याण साधन किया गया है। यही सनातनधर्म्म का महत्त्व है और इसी से सनातनधर्म्म की पूर्णता सिद्ध होती है।

तृतीय समुल्लास का प्रथम अध्यास समाप्त हुआ।



वर्णधर्म्म ।



वर्णधर्म्म क्या वस्तु है ? जातीय जीवन की सब प्रकार की उन्नति के साथ वर्णव्यवस्था का किसी प्रकार का सम्बन्ध है वा नहीं ? वर्णव्यवस्था प्राचीन है या किसीकी कपोलकल्पना वा नवीन है ? इसको प्राचीन समझकर रखना चाहिये या नवीन मानकर तथा देश के अर्थ हानि-जनक समझकर उड़ा देना चाहिये ? इत्यादि शंकाओं का निराकरण करके वर्णधर्म्म का विस्तारित वैज्ञानिक रहस्य वर्णन किया जाता है ।

किसी चीज के रहने या न रहने के विषय में विचार तथा मतामत प्रकाशित करने के पहले, विचारवान् पुरुष को देखना अवश्य योग्य है कि उस चीज के अस्तित्व के साथ प्रकृति का कुछ मौलिक सम्बन्ध है या नहीं ? क्योंकि जिस चीज का मौलिक सम्बन्ध प्रकृति के साथ है, उसका प्रकृति से यावद्द्रव्यभावित्व सम्बन्ध रहता है, अर्थात् जबतक प्रकृति रहेगी तबतक वह वस्तु भी रहेगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । दूसरा विचार इसमें और यह होना चाहिये कि उसके रहने या न रहने से क्या लाभ अथवा हानि है ? क्योंकि जिस वस्तु का सम्बन्ध प्रकृति के साथ रहता है, उसके रहने से अवश्य लाभ है और न रहने से अवश्य ही हानि है, इस वास्ते नीचे युक्ति और प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया जायगा कि वर्णव्यवस्था प्राकृतिक है और इसके रहने वा न रहने से क्या लाभ अथवा हानि है । जो लोग वर्णव्यवस्था को नवीन कल्पना समझकर, इसके उड़ा देने से ही देश और जाति की उन्नति होगी, ऐसा सोचते हैं वे भ्रान्त हैं । वे सब अज्ञानमूलक प्रलाप, प्रकृति के स्वरूप को न देखने के ही फल हैं । त्रिगुणमयी अनादि अनन्त प्रकृति के राज्य में गुणों के तारतम्य अर्थात् छोटाई, बड़ाई के अनुसार, उद्भिज्ज से लेकर मनुष्यादि देवतापर्य्यन्त प्राणी, प्राकृतिक रूप से किस प्रकार अनन्त विभागों में बंटे हुए हैं इसको प्रकृति के प्रत्येक विभाग पर ठीक-ठीक संयम करके देखने की शक्ति यदि उन लोगों में होती तो वर्णधर्म्म के विषय में उनको इस प्रकार सन्देह नहीं होता । यदि प्रकृति में केवल सत्वगुण, केवल रजोगुण

अथवा केवल तमोगुण होता, तो सम्पूर्ण जीव एक ही वर्ण के होते, यदि दो गुण होते तो तीन ही वर्ण होते, परन्तु प्रकृति में तीनों गुणों का विकास साथ ही साथ रहता है, अर्थात् जीव की सृष्टि और उन्नति के साथ, तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण इन तीनों का ही सम्बन्ध रहता है, इन्हीं तीनों गुणों के अनुसार ही चारों वर्ण को व्यवस्था है। सृष्टि की धारा दो प्रकारकी है। एक तमोगुणसे सत्त्वगुण की ओर, दूसरी सत्त्वगुण से तमोगुण की ओर। इसको व्यष्टि और समष्टिसृष्टि अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्ड सृष्टि भी कहते हैं। पहली धारा में जीव उन्नति करता हुआ तमोगुण के राज्य से धीरे धीरे ऊपर को चलता है। तदनुसार तमोगुण का राज्य, तमोगुण तथा रजोगुण का मिला हुआ राज्य, रजोगुण तथा सत्त्वगुण का मिला हुआ राज्य और सत्त्वगुण का राज्य, इस प्रकार प्रकृति के चार विभाग होते हैं और इन्हीं चार विभागों में बंटे हुए जीव चार वर्ण के कहलाते हैं। यथा-तमोगुण विभाग के शूद्रवर्ण, तमोगुण रजोगुण विभाग के वैश्यवर्ण, रजोगुण सत्त्वगुण विभाग के क्षत्रियवर्ण और सत्त्वगुण विभाग के जीव ब्राह्मण कहलाते हैं। यही जीव की उन्नति का क्रम है। प्रकृति में तीन गुण हैं, इस वास्ते यह प्राकृतिक क्रम है। क्योंकि ये प्राकृतिक हैं, अर्थात् प्रकृति के (Nature) बनाए हुए हैं अन्य किसीके नहीं, इसी वास्ते जबतक प्रकृति रहेगी, उसके तीनों गुण अवश्य रहेंगे और गुणों के अनुसार जीवों को सृष्टि होती रहेगी, तबतक वर्णव्यवस्था भी अवश्य ही रहेगी। उसी प्रकार समष्टिसृष्टि में जो धारा सत्त्वगुण से तमोगुण की ओर चलती है, उसमें भी नीचे आने के क्रम में सत्त्वगुण, सत्त्वगुण रजोगुण, रजोगुण तमोगुण तथा तमोगुण, इन चारों विभागों के अनुसार प्राकृतिक रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, ये चार वर्ण होंगे। तबतक इस वर्णव्यवस्था को कोई नहीं उठा सकता। यही तीनों गुणों के अनुसार चातुर्वर्ण्यधर्म्म की व्यवस्था का मूल है। अब इस तत्त्व को, व्यष्टि तथा समष्टिसृष्टि के रहस्य को वर्णन करते हुए नीचे बताया जाता है।

व्यष्टिसृष्टि, जीवसृष्टि को कहते है। जीव अनादि होने पर भी, जीवभाव के विकास का एक समय है, जिसमें प्रकृति और पुरुष का अनादि

सम्बन्ध स्थूल जगत् में प्रकट होता है। इसका विवरण आगे के समुल्लास के सृष्टितत्त्व में किया जायगा, यहां पर इतना ही समझना बहुत है कि जिस समय प्रकृति तथा पुरुष का यह सम्बन्ध प्रकट होता है, उस समय प्रथम जीवका कारण शरीर उत्पन्न होता है। कारण शरीर, अविद्या और उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य, इन दोनों के मेल से उत्पन्न होता है। यह सब प्रकृति के नीचे के राज्य में होता है। इस प्रकार जीव के कारण शरीर के उत्पन्न होने के बाद, पञ्च कर्म्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च प्राण, मन तथा बुद्धि और उनके अन्तर्गत चित्त और अहंकार, इन सब सूक्ष्म तत्त्व से उत्पन्न सत्रह पदार्थों से सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होकर कारण शरीर के ऊपर स्थित होताहै। इसके अनन्तर प्रकृति के स्थूल महाभूत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पांचों स्थूल द्रव्यों से सूक्ष्म शरीर के अनुसार ही, उसका भोगायतनरूप स्थूल शरीर उत्पन्न होकर, सूक्ष्म शरीर के ऊपर स्थित होता है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीर और आत्मा मिलकर, जीव कहलाता है। प्रकृति के तीन विभाग हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इस वास्ते इन तीनों के सम्बन्ध से ही जीव का शरीर उत्पन्न होता है। प्रकृति त्रिगुणमयी है, यही कारण है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों विभागों में तीनों गुण वर्त्तमान हैं। इस प्रकार तीन शरीरधारी जीव प्रकृति के वेग से तमोगुण से ऊपर की ओर चलते हैं। जीव की इस ऊपर जानेवाली अवस्था को ही चार भाग में विभक्त किया है। और ये ही चार वर्ण हैं। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर, इन तीनों को लेकर ही प्रकृति पूरी होती है और तमोगुण से ऊपर की ओर इन तीनों की ही धीरे धीरे उन्नति होती है, इस वास्ते वर्णधर्म्म स्थूल और कारण इन तीनों शरीरों की पूर्णता से ही प्रकृति की पूर्णता है, इनमें से एकके भी कम होने से वह अपूर्ण स्थिति में रहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो लोग स्थूल शरीर को छोड़कर केवल सूक्ष्म और कारण शरीर के साथ ही वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध मान लेते हैं, वे भ्रान्त हैं और प्रकृति के विज्ञान को नहीं जानते हैं, क्योंकि जब तीन गुणों के अनुसार तमोगुण से सत्त्वगुण तक प्रकृति की उन्नति को ही चार भागों में विभक्त

करके वर्णों की व्यवस्था की गई है तो इसमें स्थूल शरीर का त्याग कैसे हो सक्ता है। पञ्च महाभूत वे हैं, जिनसे स्थूल शरीर बनता है। यह प्रकृति का ही अंग है और उसकी उन्नति सूक्ष्म तथा कारण शरीर के साथ ही हुआ करती है। यही प्राकृतिक उन्नति की व्यवस्था है; इसवास्ते तीनों शरीर के साथ ही वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध है। अब इस प्रकार तीन शरीरधारी जीव प्राकृतिक संस्कार को आश्रय करके तमोगुण से सत्वगुण की ओर कैसे बढ़ता है सो नीचे बताया जाता है।

जीवभाव प्रकट होने पर पहली योनि उद्भिज्ज अर्थात् वृक्षादि की है। शास्त्रों में लिखा है कि:—

स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम्।
कृमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम्॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्षञ्च वानरे। इत्यादि।

जीव को मनुष्य बनने के पहले चौरासी लाख योनियें भोगनी पड़ती हैं, जिनमें स्थावर बीस लाख, अण्डज अर्थात् पक्षि तथा जलचर आदि उन्नीस लाख, कृम्यादि स्वेदज ग्यारह लाख, पश्वादि वानरपर्य्यन्त चौंतीस लाख। इस संख्या के विषय में मतभेद भी पाया जाता है; तथापि उद्भिज्ज, अण्डज, स्वेदज और जरायुज, ऐसी चार प्रकार की योनि लिखी हैं। जीव का सूक्ष्म और कारण शरीर इन सब योनियों में तरह तरह के स्थूल शरीर को बदलता हुआ क्रमशः ऊपर को चलता है। ऐसी अवस्था में जीव की उन्नति जो होती है, उसमें जीव का अपना कर्म्म कारण नहीं है परन्तु प्रकृति अर्थात् समष्टि कर्म्म ही कारण है। जिस प्रकार नदी में किसी वस्तु को डालने से प्रवाह की ओर ही उसकी गति होती है तथा स्वयं कुछ नहीं करती, उसी प्रकार मनुष्य को छोड़कर सम्पूर्ण जीव प्रकृति नदी के स्रोतमें स्वयं कुछ न करते हुए बहा करते हैं। माता की गोद में छोटे बच्चे की तरह, स्वभावतः ऊपर को जानेवाली प्रकृति माता के गोद में सोये हुए, ये सब जीव क्रमसे ऊपर की ओर चलते हैं। उनके ऊपर चलने का संस्कार समष्टि प्रकृति का होता है, स्वयं उनका नहीं होता। इस वास्ते उन्हें पाप तथा पुण्य का भागी नहीं होना पड़ता। उनके सब काम प्रकृति के आधीन हैं,

इसी वास्ते उनके किये हुए कर्म्मोंका फल उनको न होकर, समष्टि प्रकृति को होता है। सिंह नित्य हिंसा करने पर भी पाप का भागी नहीं होता। अन्य उदाहरणों को भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। अब विचार करने की बात है कि जीव जब उद्भिज्ज योनि से ऊपर की ओर चलता है, तब उसके भी चार भाग होकर चार वर्ण होने चाहियें क्योंकि तीन गुण और चार वर्ण सर्वत्र वर्त्तमान हैं। इस वास्ते यद्यपि मनुष्येतर जीवों में अज्ञान और तमोगुण अधिक है, तोभी अपनी अपनी अवस्था के अनुसार तीनों गुण उनमें विद्यमान हैं, इस वास्ते चारों वर्णों का होना भी अवश्य सम्भव है। इस व्यवस्था के अनुसार उद्भिज्ज, अण्डज, स्वेदज और पशु भी प्रत्येक ब्राह्मणादि चार वर्ण के होंगे। वृक्षों में जिसकी पूर्णता स्थूल, सूक्ष्म, कारण, इन तीनों शरीरों में हुई है वही ब्राह्मण है। गीताजी में विभूतियों का वर्णन करते हुए श्रीभगवान् ने आज्ञा की है कि:—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्।

वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ। वृक्षगत सम्पूर्ण शक्तियाँ जिसमें विद्यमान हैं ऐसा अश्वत्थ वृक्ष ब्राह्मण है। अश्वत्थ के बीज की शक्ति, उसकी प्रतिष्ठा करने का फल, उसकी छाया की शीतलता तथा पवित्रता आदि गुणों को देखने से, उसको ब्राह्मण वृक्ष मानना सर्वथा अयुक्त न होगा। उसी तरह बट तथा बिल्व आदि पवित्र वृक्षों को भी ब्राह्मण वृक्ष कह सकते हैं। क्षत्रिय वृक्ष में साल सागवान आदि वृक्षों की गणना हो सकती है। इनमें कठिनता, लम्बाई, सांसारिक व्यवहारों में पूर्ण उपयोग तथा इतर छोटे वृक्षों को छाया द्वारा रक्षण करना इत्यादि गुण, उनके क्षत्रियत्व को सिद्ध करते हैं। फल पुष्प देनेवाले सम्पूर्ण वृक्ष पोषण द्वारा अपना वैश्यत्व सिद्ध करते हैं। बांस आदि वृक्ष तथा औषधोपयोगी वनस्पतियाँ आदि लोक सेवा द्वारा अपने शूद्रत्व को बताते हैं। इस प्रकार तमोगुण प्रधान होने पर भी प्रकृति में तीनों गुण रहने के कारण गुणों के अनुसार वृक्षों में भी चार वर्ण देखे जाते हैं। स्वेदज अर्थात् कृमि कीट आदिकों में भी इसी प्रकार चार वर्ण हैं। जिन कीटों के शरीर सात्त्विक पदार्थों के परमाणु से बनते हैं, यथा—पुष्पादिकों से उत्पन्न होनेवाले कीट, ये ब्राह्मण

कीट हैं। प्राणियों के रुधिर से सम्बन्ध रखनेवाले तथा फोड़ा व फुन्सी में होनेवाले सब क्षत्रिय कीट हैं। जो रुधिर से तथा रोगसे उत्पन्न कीट परस्पर युद्ध कर आक्रमण करते हैं वे भी क्षत्रिय हैं। जिन कीटों के द्वारा वाणिज्य होता है, वे वैश्य कीट हैं। जो कीट तामसिक पदार्थों से बनते हैं, वे शूद्र कीट हैं। जैसे विष्ठा आदि से उत्पन्न होनेवाले कीट।

वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार अण्डज योनि में मनोमय कोष का विकास होता है, इस वास्ते जिन अण्डज जीवों में मनोमय कोष का विकासरूप राग द्वेषादि पाये जाते हैं, वे ही अण्डजों में ब्राह्मण हैं। जैसे चक्रवाक, कपोत आदि। इन पक्षियों का परस्पर प्रेम जगत्प्रसिद्ध है। बाज आदि शिकारी पक्षियों की क्षत्रियों में गणना होती है, जिनमें अन्य पक्षियों से युद्ध करना तथा शिकार करके अपने मालिक के वास्ते लाना आदि क्षात्र धर्म्म विद्यमान हैं। जिन पक्षियों के पंख आदिकों से व्यापार होता है, जैसे कि मयूर आदि और अण्डज कीट, यथा-रेशम के कीड़े, जिनसे बहुमूल्य वस्त्र बनते हैं, वे वैश्यवर्ण के हैं। और शकुनशास्त्र में जिन पक्षियों का वर्णन है, जैसे कि काक, गृध्र, उल्लू आदि, ये सब शूद्रवर्ण के हैं क्योंकि इनकी प्रकृति तमोगुणी होने से शकुनरूप से प्रकृति का इङ्गित इन पक्षियों द्वारा प्रकट हुआ करता है।

शकुनशास्त्र का यह विज्ञान बड़ा ही गम्भीर है, जिसे अर्व्वाचीन पण्डित बिल्कुल भूल रहे हैं। जाग्रत् अथवा स्वप्न में ऐसी बहुतसी क्रियाएं हुआ करती हैं जिनके द्वारा भविष्यत् में होनेवाली घटनाएं प्रकट हो सकती हैं। स्वप्न तीन प्रकार का होता है, सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। तामसिक स्वप्न वह है, जिसको चञ्चलचित्त मोहान्ध विषयीलोग देखते हैं, इसमें सब असम्भव तथा परस्पर सम्बन्ध-शून्य बातें देखने में आती हैं। राजसिक स्वप्न में दिन में किये हुए कर्म्मों का प्रतिबिम्ब रात्रि को चित्त में दीखने लगता है, परन्तु सात्त्विक स्वप्न की ऐसी दशा नहीं है, उसमें भविष्यत् में होनेवाली बातें पहले ही से स्वप्न में दीखने लगती हैं। जैसे किसीने देखा कि उसके घर में कोई रोग से पीड़ित हो मर गया तथा उसका मुर्दा पड़ा है, यह यदि सात्त्विक स्वप्न है तो अवश्य थोड़े दिनों में ही उसके कुटुम्ब में ऐसी दशा वह देखेगा। यदि किसीने चारों ओर आग का लगना, वृक्षादिकों का

जलना तथा मनुष्य, पशु एवं पक्षि आदिकों का भागना देखा हो, तो ऐसे स्वप्न के द्वारा देश में दुर्भिक्षादि की सूचना समझना। यदि किसी पर हाथी मोहरा करने आवे जिससे वह डरकर वृक्षादि पर चढ़े आदि देखे, तो यह स्वप्न उसे विपत्ति की सूचना दे रहा है ऐसा जाने। ये सब सात्त्विक स्वप्न के लक्षण हैं। इस प्रकार के सात्त्विक स्वप्न ब्राह्म-मुहूर्त्त में ही प्रायः देखे जाते हैं। ऐसा क्यों और किस प्रकार से होता है सो नीचे बताया जाता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है कि यदि किसी प्रकृति के साथ किसीका मेल हो तो एक का तरंग दूसरे पर लग सकता है। यदि किसी घर में पांच सितार एक सुर में मिलाकर रक्खे जायँ, तो एक के बजाने से अन्य पांचों स्वयं बजने लगते हैं, क्योंकि पांचों का तार एक सुर में मिला रहने के कारण, एक पर का कम्पन हवा को कंपाकर, अन्य सितारों में भी कम्पन उत्पन्न करता है। आज कल जो बिना तार का तार निकला है, उसका विज्ञान तथा हिन्दूशास्त्र के श्राद्ध का विज्ञान भी इसी प्रकार है, जो कि आगे बताया जायगा। अब इसके द्वारा यह सिद्ध हुआ कि यदि किसी मनुष्य या जीव की प्रकृति के साथ समष्टि प्रकृति का मेल हो तो समष्टि प्रकृति में होनेवाली जो घटनाएं हैं, उनका प्रतिबिम्ब पहले से ही उन सब जीव या मनुष्य के चित्त पर पड़ सक्ता है। इसी वैज्ञानिक सत्य पर शकुनशास्त्र बनाया गया है। अब विचार करने की बात यह है, कि कौन कौन प्रकृति पर इस प्रकार समष्टि प्रकृति का प्रति-बिम्ब पड़ना सम्भव है। इसमें सिद्धान्त यह है कि रजोगुण में चाञ्चल्य होने के कारण, रजोगुण से मिली हुई सात्त्विक या तामसिक प्रवृति पर ऐसा प्रतिबिम्ब पड़ना असम्भव है। प्रकृति के साथ मेल या तो तमोगुण से या सत्त्वगुण से हो सक्ता है, इस लिये सात्त्विक स्वप्न में या तामसिक जीवों में ही यह बात हो सक्ती है। विषयी मनुष्य राजसिक वा तामसिक स्वप्न को देखते हैं व सात्त्विक निर्मल अन्तःकरण के मनुष्य ही सात्त्विक स्वप्न को देख सक्ते हैं। जिस प्रकार मलिन दर्पण में किसी प्रकार का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सक्ता है, परन्तु निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब ठीक ठीक पड़ सक्ता है; उसी प्रकार विषयी जीवों के चित्त में प्रकृति में होनेवाली भविष्यत् की घटनाओं का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सक्ता, परन्तु सात्त्विक पुरुष

के निर्मल चित्त में भविष्यत् में होनेवाली घटनाओं का प्रतिबिम्ब पहले से ही दीखने लगता है, जिससे सात्त्विक लोग ऐसे सात्त्विक स्वप्न को देखने लगते हैं। उसी प्रकार काक, गृध्र आदि तामसिक पक्षियों के द्वारा भी प्रकृति का इङ्गित प्रकट होने लग जाता है; अर्थात् उनकी तामसिक प्रकृति का मेल समष्टि प्रकृति के साथ तमोगुण के द्वारा होने के कारण, भविष्यत् में होने-वाली घटनाएं उन सब जीवों के द्वारा प्रकृति माता प्रकट कर देती है और वे सब जीव भी तामसिक होने के कारण प्रकृति के इन सब इङ्गितों को प्रकट कर सकते हैं। इस लिये देश में दुर्भिक्ष या महामारी होने के पहले, किसीके मृत्यु के समय अथवा किसी पापी के जन्म के समय, काक, गृध्र, उल्लू, गीदड़, कुत्ते आदि जीव विकट शब्द करने लगते हैं। इन सब जीवों को इन घटनाओं का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, केवल प्रकृति माता, इनका केन्द्र ठीक होने से, इनके द्वारा घटनाओं को प्रकट करती है, जिस को शकुनशास्त्र के ज्ञाता लोग जान सकते हैं। देवीभागवत में इस प्रकार दुर्निमित्त या खराब शकुन के विषय में बहुत वर्णन किया गया है। यथाः—

भगवन्? दुर्निमित्तानि भवन्ति त्रिदशालये।
बहूनि भयशंसीनि पक्षिणां विरुतानि च॥
काका गृध्रास्तथा श्येनाः कंकाद्या दारुणाः खगाः।
रुदन्ति विकृतैः शब्दैरुत्कारभवनोपरि॥
चीचीकुचीति निनदं कुर्व्वन्ति विहगा भृशम्।
वाहनानाञ्च नेत्रेभ्यो जलधाराः पतन्त्यधः॥
शरटानाञ्च जालानि प्रभवन्ति गृहे गृहे।
अङ्गप्रस्फुरणाऽऽदीनि दुर्निमित्तानि सर्व्वशः॥

स्वर्ग में अनेक बुरे शकुन देखरहे हैं। काक, गिद्ध, श्येनादि पक्षी मकानों के ऊपर विकट शब्द कर रहे हैं। अश्वादि वाहनों के नेत्रों में से जलधारा गिर रही है। घर घर में बहुत सरट घूम रहे हैं। वामाङ्गस्फुरणादि बहुत दुर्निमित्त देख रहे हैं। इसी प्रकार किसी महान् पुरुष के उत्पन्न होने के समय भी प्रकृति में अच्छे लक्षण प्रकाशित होते हैं, जैसे भागवत में लिखा

है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी संसार में प्रकट हुए थे, उस समय प्रकृति में निम्नलिखित लक्षण प्रकाशित हुए थे । यथाः—

नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः ।
द्विजाऽलिकुलसन्नादस्तबका वनराजयः ॥
ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः ।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत ॥

नदियां प्रसन्न जलयुक्त हो रही हैं, सरोवर में कमल शोभा दे रहे हैं, बगीचे की क्यारियों में पक्षी तथा भ्रमर नाद कर रहे हैं, स्निग्ध सुगन्ध पवित्र वायु बहने लगा और ब्राह्मणों का होमाग्नि शान्तिपूर्वक जलने लगा इत्यादि । यह सब शकुनशास्त्र के प्रकृति के इङ्गितके अनुसार शुभ और अशुभ लक्षण हैं । इन सब बातों के जानने में या ठीक ठीक फल मिलने में यदि अन्यथा हो तो इसमें शकुनशास्त्र का कोई दोष नहीं, किन्तु शकुनशास्त्र में पूर्ण ज्ञान न होने का दोष है ।

उक्त प्रकार से अण्डजों में चार वर्णों की व्यवस्था देखी जाती है इसी तरह जरायुज के अन्तर्गत पशुओं में भी ऐसे ही चार वर्ण मिलते हैं । यथा—तैत्तिरीयसंहिता मेंः—

प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तमग्निर्देवता अन्वसृजत..............ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनां, तस्मात्ते मुख्याः,................
बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमति तमिन्द्रो देवता अन्वसृज्यत..................राजन्यो मनुष्याणामविः पशूनां तस्मात्ते वीर्यवन्तो..........मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त..........वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां...... ......सोऽन्येभ्यो भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त..............शूद्रो मनुष्याणामश्वः पशूनाम्......................।

प्रजापति ने सृष्टि की इच्छा करके मुख से तीन प्रकार की सृष्टि की, ये तीनों ब्राह्मण सृष्टियाँ थीं। यथा—देवताओं में अग्नि, मनुष्यों में ब्राह्मण और पशुओं में छाग, इस लिये यह सृष्टि मुख्य है। बाहुसे जितनी सृष्टि की, वे सब क्षत्रिय हुए। यथा—देवताओं में इन्द्र, मनुष्यों में क्षत्रिय और पशुओं में मेष। मध्यसे जितनी सृष्टि की, वे सब वैश्य हुए। यथा—देवताओं में विश्वेदेवा, मनुष्यों में वैश्य और पशुओं में गौ। पद से बहुत सृष्टि की, वे सब शूद्र हुए। उनमें बहुत से देव, मनुष्य और पशुओं में अश्व थे। इस प्रकार वेद में देवता से लेकर मनुष्यों के नीचे के जीवपर्य्यन्त चार वर्णों का विभाग किया गया है। जीव उद्भिज्ज से लेकर पशु-योनिपर्य्यन्त समस्त योनियों में वर्ण के अनुसार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर को उन्नत करता हुआ, अन्त में मनुष्ययोनि को प्राप्त करता है।

मनुष्ययोनि में आने से जीव की गति और प्रकार की हो जाती है। मनुष्य के नीचे के जितने जीव हैं, उनमें बुद्धिका विकास व देहके प्रति अभिमान और अहंकार आदि कम होने से, वे सब प्रकृति के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकते। उनके आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि सभी प्रकृति के आज्ञानुसार हुआ करते हैं, परन्तु मनुष्ययोनि में आने से जीव की बुद्धि का विकास होता है व देहाभिमान तथा अहंकार बढ़ जाता है, इसलिये मनुष्य-योनि में आकर जीव प्रकृति के नियम के विरुद्ध आचरण करता है। मनुष्य के आहार, निद्रा, मैथुन सभी अप्राकृतिक हुआ करते हैं। प्रकृति का प्रवाह ऊपर की ओर ले जानेवाला है, इसलिये उद्भिज्ज से लेकर उच्च पशु पर्य्यन्त जीव की गति प्रकृति के अनुकूल होने से क्रमोन्नति अवश्य ही होती है, परन्तु मनुष्ययोनि में आकर स्वाधीन तथा अहंकारी होने से, जीव जब प्रकृति के विरुद्ध चलने लगता है, तब उसकी उन्नति रुककर अवनति होने की सम्भावना हो जाती है। जिस शक्ति के द्वारा यह अवनति रुककर उन्नति होती रहे और अन्त में पूर्णोन्नति होने से जीव ब्रह्म बन जाय, उस शक्ति का नाम धर्म्म है। जिस प्रकार धर्म्म की प्राकृतिक शक्ति से मनुष्य के नीचे का जीव प्रकृति के ऊपर जानेवाले प्रवाह का आश्रय करके पशुयोनि की अन्तिम सीमा पर्य्यन्त जाता है, वही धर्म्म की शक्ति अब मनुष्ययोनि में जीव की अवनति को रोककर,

उसको ऊपर चढ़ाती है। यहाँ धर्म्म का कार्य्य वर्णधर्म्म तथा आश्रम-धर्म्मरूप से होता है; अर्थात् मनुष्ययोनि के प्रारम्भ से पूर्ण मनुष्य होने पर्य्यन्त चार वर्ण और चार आश्रम के धर्म्मों को ठीक ठीक पालन करता हुआ मनुष्य धीरे-धीरे पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ करता है। प्रकृति के स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ऐसे तीन अंग होने से और जीव के भी उसी के अनुसार तीन शरीर होने से, मनुष्यों की उन्नति तीनों शरीरों की उन्नति के द्वारा ही हुआ करती है। यही उन्नति का जो ऊपर जानेवाला क्रम है, उसको वर्णधर्म्म कहते हैं। शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण चारों वर्णों के जो जो कर्त्तव्य शास्त्रों में बताए हैं, वे सब मनुष्य की उन्नति के क्रम के अनुसार ही हैं; अर्थात् जो जो कर्म्म जिन वर्णों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के द्वारा किया जा सका है, उस वर्ण के वास्ते वही कर्म्म बताया गया है। अपने-अपने वर्ण के अनुसार कार्य्य करने से जीव की उन्नति होती है क्योंकि वे सब कर्म्म ऋषियों ने तीनों शरीरों के विचार से अधिकार के अनुसार ही रक्खे हैं। श्रीभगवान् पतञ्जलि जी ने योगदर्शन में लिखा है कि:—

क्लेशमूलः कर्म्माऽऽशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः॥

कर्म्माशय ही अविद्यादि पञ्च क्लेश का कारण है। जो कर्म्म वर्त्तमान तथा भविष्यत् जन्म में प्राप्त होते हैं, उन कर्म्मों के मूल में रहने से, जाति आयु और भोग उन कर्म्मों के फलरूप से प्राप्त होते हैं। कर्म्मसंस्कार को शास्त्र में तीन भागों में विभक्त किया है। यथा:—प्रारब्ध सञ्चित और क्रियमाण। जन्मजन्मान्तर से होते आ रहे हैं और जिनका अब तक उपभोग नहीं हुआ है, उनको सञ्चित कर्म्म कहते हैं। वर्त्तमान जन्म में जो कर्म्म होता है, उसको क्रियमाण कर्म्म कहते हैं और सञ्चित और क्रियमाण दोनों कर्म्मों में से जो सबसे बलवान् है इसलिये वह पहले ही भोग होनेवाला कर्म्म आगे होकर स्थूल शरीर को बनाता है उसको प्रारब्ध कर्म्म कहते हैं। प्रारब्ध कर्म्म से ही मनुष्यों को जाति, आयु व भोग मिलता है; अर्थात् जिसका जैसा प्रारब्ध कर्म्म है, वह वैसा ही स्थूल शरीर प्राप्त करके, उसी के अनुकूल वर्ण में उत्पन्न होता है। उसकी आयु भी उतनी ही होती है

जितने में प्रारब्ध कर्म्म का भोग पूर्ण हो सके और भोग भी प्रारब्ध के अनुसार ही होता है । कर्म्म के मूल में वासना रहने से एक कर्म्म के द्वारा दूसरा कर्म्म-संस्कार उत्पन्न होता है और वह किया जानेवाला कर्म्म अपने-अपने अधिकार और वर्ण के अनुकूल हो, तो उसके द्वारा अच्छे-अच्छे नवीन कर्म्म अर्थात् क्रियमाण संस्कार बनते जाते हैं, जिससे मनुष्य क्रमशः उच्च वर्ण को प्राप्त करता है । श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है, कि—

चातुर्व्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः ।

गुण और कर्म्म के अनुसार मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की है । इसमें गुणशब्द से प्रकृति के तीन गुण लेना, जिससे जाति बनती है । तमोगुण, रजस्तमोगुण, रजस्सत्त्वगुण और सत्त्वगुण, इन्हीं चारों गुणविभागों के अनुसार कर्म्म का विभाग होता है; अर्थात् जिसमें जिस गुण का प्राधान्य है; वह उसी प्रकार कर्म्म करने लगता है । उसी गुण और कर्म्म के अनुसार ही उसकी जाति होती है । यह गुण और कर्म्म, प्रारब्ध और क्रियमाण दोनों को लेकर ही होता है, क्योंकि पूर्वजन्मों में जिस प्रकार कर्म्म कर-चुका है, उसी के अनुसार प्रकृति बनती है, उसी प्रकृति अथवा गुण के अनुसार ही मनुष्यों को आगामी जन्म में स्थूल शरीर मिलता है और उसी गुण-कर्म्मानुसार ही प्रारब्ध संस्कार के अनुकूल जीव इस जन्म में कर्म्म करने लगता है । प्रत्येक कर्म्म के मूल में वासना है, इस वास्ते कर्म्म के ऊपर कर्म्म बनता जाता है और जीव कर्म्म करने में स्वतन्त्र भी है इसलिये पूर्व कर्म्म के ऊपर उन्नति भी कर सकता है । इस प्रकार कर्म्मों की उन्नति करते हुए जीव क्रमशः उच्च वर्णों को प्राप्त करते हैं । यथा—गीता में कहा है कि: —

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप ! ।
कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्ज्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म्म स्वभावजम् ॥
शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाऽप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म्म स्वभावजम् ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म्म स्वभावजम् ।
परिचर्य्यात्मकं कर्म्म शूद्रस्याऽपि स्वभावजम् ॥

स्वभाव से उत्पन्न गुणों के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्म्म विभक्त किये गये हैं। ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म शम दम, तप, शौच, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्यभाव को लिये हुए हैं। क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म्म वीरता, तेज धैर्य्य, दक्षता, युद्ध में से न भागना, दान और ईश्वरभाव को लिये हुए हैं। वैश्यों के स्वाभाविक कर्म्म कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य हैं। सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म्म है। इसी प्रकार मनुसंहिता में भी लिखा है। यथा :—

सर्व्वस्याऽस्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्म्माण्यकल्पयत् ॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥

सृष्टि की रक्षा के अर्थ अपने मुख, बाहु, उरु और पाद से निकले हुए चारों वर्णों की उत्पत्ति के अनुसार, प्रकृति को देखकर ब्रह्माजी ने पृथक्-पृथक् कर्म्मों का निर्देश किया। यथा—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना तथा कराना, दान और प्रतिग्रह, ये सब ब्राह्मणों के कर्म्म हैं। प्रजाओं की रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन और विषय में अनासक्ति, ये सब संक्षेप से क्षत्रियों के कर्म्म है। पशुओं की रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन, वाणिज्य, सूद लेना और कृषिकर्म्म, ये सब वैश्यों के कर्म्म हैं। तीनों वर्णों की सेवा शूद्रों का प्रधान कर्त्तव्य कर्म्म है। वर्णव्यवस्था प्रकृति के राज्य में स्थूल

सूक्ष्म और कारण शरीरधारी मनुष्यों की उन्नति के क्रम के अनुसार होने से ऋषियों ने और भगवान् ने जो पृथक् पृथक् कर्म्म लिखे हैं, वे भी उनके अधिकार के अनुसार हैं; अर्थात् शूद्र के लिये जो कर्म्म बताया गया है, उससे यह समझना चाहिए कि शूद्र के शरीर, मन और बुद्धि प्रकृति राज्य में अपनी उन्नति तथा अधिकार के अनुसार जिस कर्म्म को कर सकते हैं, वही कर्म्म उनकी प्रकृति और अधिकार को देखकर ऋषियों ने बताया है। इसी प्रकार वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के लिये जो जो कर्म्म बताए गये हैं; जैसे कि ऊपर बताया गया है, वे सभी तीनों वर्णों के शरीर, मन तथा बुद्धि के अनुकूल हैं क्योंकि तीनों की प्रकृति और अधिकार को देख कर ही, ऋषियों ने कर्म्म का निर्देश किया है। इसी लिये जिसके प्रकृति के अनुकूल जो कर्म्म है, उनसे विरुद्ध कर्म्माचरण हठ से करना चाहेंगे, तो अनधिकार चर्चा तथा शक्ति से बाहर होने के कारण, उनसे हानि होगी क्योंकि जिनका जितना अधिकार है, उनके लिये उतनाही करना उन्नति का कारण है। मनुष्य, धर्म्म की शक्ति से अपने अधिकार के अनुसार, इस प्रकार कर्म्म करता हुआ; वर्णों के भीतर होकर निम्नलिखित प्रकार से उन्नति करता है। यथा—शूद्र यदि अपने वर्ण के कर्त्तव्य को ठीक ठीक निभाएँगे तो कई जन्मों में शूद्र प्रकृति के पूर्ण होने के बाद, अन्त में शूद्र योनि को समाप्त करके, उसके ऊपर की वैश्ययोनि को प्राप्त करेंगे। वैश्य भी अपने वर्णानुसार कर्त्तव्य को यदि ठीक निभाएँगे तो वैश्ययोनि में ही क्रमोन्नति करते हुए, अन्त में वैश्यप्रकृति पूर्ण होने पर क्षत्रिय-योनि को प्राप्त करेंगे। क्षत्रिय भी अपने अधिकार के अनुसार, ऋषिनिर्दिष्ट कर्म्मों को करते हुए, क्षत्रियप्रकृति के पूर्ण होने पर, ब्राह्मणयोनि को प्राप्त करेंगे। ब्राह्मण भी ऋषियों के बताये हुए कर्म्मों को ठीक ठीक करेंगे, तो ब्राह्मणयोनि में भी क्रमोन्नति को प्राप्त होकर, कई जन्म के बाद, अन्त में पूर्ण ब्राह्मण होकर, प्रकृति से अतीत ब्रह्मपद प्राप्त करेंगे। यही प्रकृतिराज्य में तीन गुण के अनुसार चार वर्ण की व्यवस्था है जिसके द्वारा प्रकृति के ऊपर जाने वाले प्रवाह में पतित जीव उद्भिज्ज योनि से लेकर अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरों को शुद्ध कर उन्नत करते करते उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुजों में निकृष्ट

पशु, उत्कृष्टपशु, अनार्य्य, आर्य्य और आर्य्यों में शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण, इस प्रकार तमोगुण से सत्त्वगुण की ओर अग्रतर होते हुए, समस्त योनियों को प्राप्त करते करते अन्त में प्रकृतिराज्य से बाहर विराजमान ब्रह्मपद को प्राप्त करके जीवत्व के अवसान में शिवत्व को प्राप्त करते हैं। यही वर्णव्यवस्था का व्यष्टि सृष्टि में आदर्शरूप है। इस विज्ञान के द्वारा यह सिद्धान्त प्रकट होता है कि वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध तीनों शरीरों के साथ है क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ये प्रकृति के तीन अङ्ग हैं, यह पहले कहा गया है। वर्णव्यवस्था इन्हीं अङ्गों की पूर्णता है, इस लिये प्रत्येक वर्ण की पूर्णता तभी हो सकती है, जब कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीर ही पूर्ण हों। पूर्ण शूद्र वही होगा जो स्थूल शरीर से शूद्र होगा अर्थात् जन्म से शूद्र होगा, कर्म्म से शूद्र होगा तथा ज्ञान से भी शूद्र होगा। पूर्ण वैश्य वही है जो जन्म, कर्म्म और ज्ञान से वैश्य हो ; पूर्ण क्षत्रिय वही है जो जन्म, कर्म्म तथा ज्ञान से क्षत्रिय हो। पूर्ण ब्राह्मण भी वही है, जो जन्म, कर्म्म और ज्ञान से पूर्ण है। इन तीनों में से जिसमें जिस अङ्ग की न्यूनता हो वह उस अङ्ग से उस वर्ण में उतना ही अधूरा रहेगा, अर्थात् यदि जन्म से शूद्र हो परन्तु कर्म्म से नहीं हो, अथवा जन्म से वैश्य हो और कर्म्म से नहीं हो, तथा जन्म से क्षत्रिय हो परन्तु कर्म्म से नहीं हो, तो वे सब अधूरे शूद्र वैश्य, तथा क्षत्रिय कहलाएँगे। इसी प्रकार कर्म्म से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हों, परन्तु जन्म से न हों तो वे भी अधूरे ही कहलाएँगे। इसी प्रकार कोई जन्म से नीच वर्ण उच्च वर्ण का कर्म्म करे, अथवा उच्च वर्ण के अनुसार ज्ञान ही प्राप्त करले, तो वह कर्म्म और ज्ञान से उच्च वर्ण की तरह होगा, जन्म से निज वर्ण का ही रहेगा। इसी प्रकार यदि उच्च वर्ण का नीच वर्ण के कर्म्म करे या ज्ञान प्राप्त करे तो वह ज्ञान तथा कर्म्म से नीच वर्ण का तथा जन्म से उच्च वर्ण का होगा। ऐसेही जन्म से ब्राह्मण हो और कर्म्म तथा ज्ञान से ब्राह्मण न हो तो वह पूर्ण ब्राह्मण नहीं कहायेगा, अधूरा ही कहलायेगा। जैसे कि मनु में:—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्म्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाऽफला ।
यथा चाऽज्ञेऽफलं दानन्तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ।।

जिस प्रकार काष्ठ का हाथी तथा चर्म का मृग नकली है उसी प्रकार मूर्ख ब्राह्मण भी नाममात्र ब्राह्मण हैं। जिस प्रकार स्त्री को नपुंसक, गौ को गौ व अज्ञ को दान देना निष्फल है, उसी प्रकार अज्ञानी ब्राह्मण निष्फल है; अर्थात् ऐसे ब्राह्मण केवल शरीर ही से ब्राह्मण हैं, कर्म्म और ज्ञान से अब्राह्मण हैं। परन्तु इस प्रकार स्थूल शरीर एक वर्ण के होने पर भी उनके कर्म्म अन्य वर्णों के कैसे हो सकते हैं; अर्थात् वर्णव्यवस्था जब प्रकृति के तीन अङ्गों से सम्बन्ध रखती है तो उस सम्बन्ध में विरोध कैसे आ सकता है और इस प्रकार विरोध होने की सम्भावना कलियुग में अधिक है या नहीं, इसका विचार थोड़े ही आगे किया जायगा।

जिस प्रकार व्यष्टि सृष्टि में अर्थात् प्रत्येक जीव की उद्भिज्ज योनि से लेकर पूर्णता होने तक में या तमोगुण से लेकर सत्त्वगुण की पूर्णता होने पर्य्यन्त में अथवा शुद्र से लेकर ब्राह्मणपर्य्यन्त उन्नत होने में, तीन गुण के अनुसार चारों वर्णों की व्यवस्था दिखाई देती है; उसी प्रकार समष्टि सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड सृष्टि में भी ऊपर से नीचे की ओर या सत्ययुग से कलियुग की ओर या सत्त्वगुण से तमोगुण की ओर अथवा ब्राह्मण वर्ण से शूद्रवर्ण की ओर तीन गुण के अनुसार चार वर्ण की व्यवस्था प्राकृतिक रूप से हुआ करती है। इसी प्राकृतिक विभाग के कारण ही, ब्रह्म के उत्तम अंग से लेकर नीचे के अंग पर्य्यन्त से चार वर्ण की उत्पत्ति यजुर्वेद में बताई गई है। यथा–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्, बाहूराजन्यः कृतः,
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः, पद्भ्य शूद्रो अजायत।

ब्राह्मण मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य ऊरुओं से और शुद्र पाँवों से उत्पन्न हुए। इसमें उत्तम से अधम अंग का विचार व पूर्ण सत्त्वगुण से पूर्ण तमोगुण की ओर का विचार है और तैत्तिरीयसंहिता में जो वेद छन्द देवताआदि से लेकर पशु पर्य्यन्त चार विभाग करके, सृष्टि की धारा बताई गई है, जिसके विषय का मन्त्र पहले ही दिया जा चुका है, वह भी सत्त्वगुण से लेकर तमोगुणपर्य्यन्त प्राकृतिक विभाग के अनुसार चारों

वर्णों की व्यवस्था है । महाप्रलय के समय जब ब्रह्माण्ड तथा प्रकृति का लय हो जाता है तब समस्त जीवों का कर्म्मसंस्कार महाकाश में रह जाता है और पुनः प्रलय के बाद जब समष्टि कर्म्म के द्वारा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के साथ-साथ जीव-सृष्टि आरम्भ होती है, तो प्रलय के समय जो जीव जिस प्रकार लय हो गये थे, वे उसी प्रकार से उत्पन्न होते हैं, परन्तु ब्रह्माण्ड-सृष्टि की धारा ऊपर से नीचे की ओर होने के कारण प्रथम सृष्टि में पूर्ण सात्त्विक तथा निवृत्तिसेवी ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं । यथा—श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध में लिखा है कि :—

सनकश्च सनन्दश्च सनातनमथाऽऽत्मभूः ।
सनत्कुमारश्च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः ।।
तान्बभाषे स्वभूः पुत्रान्प्रजाः सृजत पुत्रकाः ! ।
ते नैच्छन्मोक्षधर्म्माणो वासुदेवपरायणाः ।।
अथाऽभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ।।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ।।

ब्रह्माण्डसृष्टि की प्रथम अवस्था में ही सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, ऐसे चार पुत्र ब्रह्माजी से पैदा हुए, परन्तु सृष्टि का प्रथम विकास होने के कारण ये लोग पूर्ण ज्ञानी, निवृत्तिपरायण, निष्क्रिय और ऊर्ध्वरेता थे, इनमें सृष्टि करने की इच्छा ही नहीं थी, इस वास्ते ब्रह्माजी के सृष्टि करने की आज्ञा करने पर, ये लोग अस्वीकार हुए, तदनन्तर सृष्टि के दूसरे विकास में मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ दक्ष और नारद, ऐसे दस मानसपुत्र ब्रह्माजी ने उत्पन्न किये, इनमें प्रथम चार पुत्रों के अनुसार निवृत्तिभाव नहीं था, इसलिये इन्होंने सृष्टि की इच्छा की और इन लोगों से बहुत सी सृष्टि बनी । इन श्लोकों से जीव की प्रकृति किस प्रकार से धीरे-धीरे नीचे को आती है, सो दिखलाया गया यथा—प्रथम चार पुत्र पूर्ण निवृत्तिपरायण थे, दूसरी सृष्टि में थोड़े निवृत्ति-

परायण दस पुत्र हुए, इसके बाद उससे नीचे की प्रकृति तथा प्रवृत्तिवाली सृष्टि हुई । नीचे की सृष्टि किस प्रकार हुई, सो महाभारत के शान्तिपर्व में दिखलाया गया है । यथाः—

असृजद्ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन् ।
आत्मतेजोऽभिनिर्वृत्तान् भास्कराऽग्निसमप्रभान् ॥
न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्व्वसृष्टं हि कर्म्मभिर्वर्णताङ्गतम् ॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्म्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्म्मान्नाऽनुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥
हिंसाऽनृतप्रिया लुब्धाः सर्व्वकर्म्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥

ब्रह्माजी ने पहले सूर्य और अग्नि के समान तेजवाले व आत्मा के तेज से तेजस्वी ब्राह्मणों को उत्पन्न किया, सृष्टि की प्रथम दशा में सब ब्राह्मण ही थे क्योंकि जैसा इस प्रबन्ध के पहले ही कहा गया है कि यदि प्रकृति में एक ही गुण होता तो एक ही वर्ण रहता, चार वर्ण न होते । उसी सिद्धान्त के अनुसार जब सृष्टि की पहली दशा में पूर्ण सत्त्वगुण था और रजोगुण तथा तमोगुण पूर्णरूप से सत्त्वगुण के प्रभाव में दबे हुए थे तो सभी ब्राह्मण थे, उस समय और कोई वर्ण नहीं था । वे सब ब्राह्मण जन्म, कर्म्म तथा ज्ञान अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों रूप से ही ब्राह्मण थे, पश्चात् जब सृष्टि की धारा नीचे की ओर जाने लगी जिससे सत्त्वगुण का पूर्ण प्रभाव घटकर, रजोगुण तथा तमोगुण का भी प्रकाश होने लगा और इन तीनों गुणों का प्रभाव प्रकृति के स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों अंगों पर पड़ने लगा, तो तीनों शरीरों से तीनों गुणों के अनुसार चार वर्ण बन गये, जैसा कि ऊपर के श्लोकों से भाव प्रकट होता है । पहले ब्राह्मणों का जो कर्म्म था;

अर्थात् जो पूर्ण सात्विक कर्म्म था जिससे ब्राह्मण सूर्य के समान तेजस्वी तथा श्वेतवर्ण थे, वह कर्म्म बहुत लोगों में बिगड़ने लग गया जिससे सात्विक प्रकृति बिगड़कर सत्त्व, सत्त्वरज, रजस्तम तथा तम, ऐसे चार प्रकृति बन-गई जिससे एक वर्ण के चार वर्ण बन गये और उन कर्म्मों का प्रभाव केवल सूक्ष्म और कारणराज्य में ही नहीं परन्तु स्थूलराज्य पर भी पड़ा जिससे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर, तीनों रूपों से ही चारों वर्ण का प्राकृतिक विभाग बन गया और इस प्रकार चारों विभाग, स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों को मिलाकर, मनुजी ने कर दिये जैसा कि ऊपर के श्लोकों से प्रकट होता है; अर्थात् जो द्विज लोग कामभोगप्रिय; तीक्ष्ण, क्रोधी, साहसी आदि थे और जिनका रंग लाल हो गया था वे क्षत्रिय हुए। इसमें रंग का परिवर्तन कहने का उद्देश्य यह है कि कर्म्म का प्रभाव स्थूल शरीर पर भी पूर्ण हो गया था और जो द्विज कृषि और गोरक्षा से जीविका करने लगे और पीतवर्ण हो गये वे सब वैश्य हुए। यहाँ पीतवर्ण का वही उद्देश्य है कि कर्म्म का प्रभाव स्थूल शरीर पर भी पूर्ण हो गया था। और जो हिंसा-मिथ्याप्रिय लोभी सकल प्रकार के नीच कर्म्म करनेवाले, शौच व आचार से भ्रष्ट और कृष्णवर्ण हुए वे शूद्र कहलाने लगे। यहाँ कृष्णवर्ण का यही उद्देश्य है कि कर्म्म का प्रभाव उनके स्थूल शरीर पर पूरा पड़ गया था। इसी प्रकार प्रकृति का स्रोत निम्नगामी होने से सत्त्वगुण के साथ रजोगुण तथा तमोगुण का प्रभाव उदय होकर मनुष्य के शरीर पर गुणों के अनुसार उसने ऐसा असाधारण अधिकार डाल दिया कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों से चार वर्ण हो गये। शास्त्र में लिखा है कि अति उत्कट पाप-पुण्य का फल, इहलोक में शरीर या मन पर प्रभाव जमा करके, जीवको कुछ से कुछ बना डालता है। इसी सिद्धांत के अनुसार कर्म्म के बिगाड़ होने से सत्ययुग के पश्चात् मनुष्यों की भी हीनदशा होनेलगी जिससे चार वर्ण होगये। सृष्टि की पहली दशा में पूर्ण सत्त्वगुण रहने से सभी तीनों शरीरों से ब्राह्मण थे; अर्थात् एक ही जाति थी क्योंकि एक गुण का प्रभाव था और गुण दबे हुए थे। पश्चात् तीनों गुणों के प्रभाव के बढ़ जाने से, तदनुसार चार वर्ण हो गये। अब समय ऐसा है कि सत्त्वगुण की न्यूनता और रजोमिश्रित तमोगुण की अधिकता होने

लगगई, इसलिये आजकलके युगको वैश्यत्व का युग कह सकते हैं, अर्थात् इसमें प्रधानतः मनुष्यों के चित्त में वैश्यभाव का प्रभाव है। यदि सृष्टि का प्रभाव और भी नीचे की ओर चला तो वैश्ययुग के पश्चात् शूद्रयुग भी आ सकता है, उस समय शूद्रभावका प्राधान्य मनुष्यों के चित्त में रहेगा तो इस प्रकार होनेसे, जैसा कि सत्ययुग की प्रथम दशामें सत्त्वगुण के पूर्ण होने से सब ब्राह्मण ही ब्राह्मण थे, अर्थात् एकही वर्ण के थे, उसी प्रकार शूद्रयुग में तमोगुण की पूर्णता व रजोगुण तथा सत्त्वगुण के अभावप्राय होनेसे शूद्रभाव को लेकर एक ही वर्ण रह सकता है। परन्तु ऐसा रहने पर भी चारवर्ण का बीज अवश्य रहेगा जिससे कालान्तर में पुनः चारों वर्णों का आविर्भाव हो सकेगा। इसप्रकार शूद्रयुग के अन्तमें सत्त्वगुण के तिरोभाव होनेसे, आर्य्यों में अनार्य्यभाव; अर्थात् म्लेच्छभाव भी आ सकता है, जिस समय म्लेच्छभाव से भारत के उद्धार के लिये अलौकिक दैवीशक्तियुक्त अवतार के प्रकट होने की आवश्यकता होगी। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि उस समय भी चार वर्ण का बीज नष्ट नहीं होगा क्योंकि प्रकृति में तमोगुण के अधिक बढ़जाने पर भी त्रिगुणमयी होने के कारण और दो गुण किसी न किसी दशा में अवश्य रहेंगे, इसलिये जिस समय साधुओं का परित्राण, पापियों का नाश तथा धर्म्मसंस्थापन के लिये अवतार प्रकट होंगे, उस समय स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों शरीरों से युक्त चारों वर्णों की प्रतिष्ठा होगी। इसीसे महाभारतके भीष्मस्तवराज में भीष्मदेव ने स्तुति की है कि:—

हनिष्यति कलेरन्ते म्लेच्छाँस्तुरगवाहनः।
धर्म्मसंस्थापनाऽर्थाय तस्मै कल्क्यात्मने नमः॥

कलियुग के अन्त में भगवदवतार अश्ववाहन कल्कि प्रभु धर्म्मसंस्थापन (चातुर्वर्ण्यप्रतिष्ठा) के अर्थ म्लेच्छों का नाश करेंगे, उन कल्कि भगवान् को नमस्कार है। इस समय धर्म्म कार्य्य चारों वर्णों की बीजरक्षा के लिये है, इसलिये प्रकृति के अनुकूल है। यहि समष्टिसृष्टि में चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था है।

यह पूर्व ही कह चुके हैं कि प्रथम अवस्था में सृष्टि पूर्ण रहती है और क्रमशः वह नीचे की ओर उतरती रहती है। इससे यह सिद्धान्त होता है कि उन्नत मनुष्यजाति भी इस प्रकार गिरती हुई पशुवत् हो जायगी। इसी

गिरते हुए स्वाभाविक स्रोत को रोकने के लिये और पवित्र आर्य्यजाति क्रमशः नीचे की ओर गिरकर अन्त में नष्ट न हो जाय, इससे उसको बचाने के लिये वेद और शास्त्र ने वर्ण के चार बन्ध और आश्रम के चार बन्ध इस प्रकार आठ बन्धों के द्वारा, इस निम्नगामी स्रोत को रोका है। महर्षि भरद्वाज ने भी इस विषय में कहा है :—

प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्म्मः ।
निवृत्तिपोषकश्चाऽपरः ।

इन दोनों सूत्रों का तात्पर्य्य यह है कि वर्णधर्म्म मनुष्यजाति में विषय-भोग की जो स्वाभाविक तीव्र वासना है उसको कम करके मनुष्यजाति के गिरने की गति को रोकता है और आश्रमधर्म्म प्रवृत्ति की ओर से निवृत्ति की ओर हटाकर, मनुष्यजाति को मुक्ति की ओर अग्रसर करता है। अतः जिस जाति में वर्ण और आश्रम की व्यवस्था है वही जाति सदा विद्यमान रह सकती है। अन्य मनुष्यजातियाँ क्रमशः गिरती हुईं असभ्य जातियाँ हो जा सकती हैं।

जाति जन्म से हैं या कर्म्म से, इस विषय में आजकल बहुत प्रकार के सन्देह हो रहे हैं। जाति या वर्ण क्या वस्तु है इसका न जानना ही इस प्रकार के सन्देहों का कारण है; जब तीन गुण के अनुसार प्रकृतिराज्य में जीवों के चार क्रम ही चतुर्वर्णविभाग का कारण है तो प्रकृति के जितने अंग हैं सबके साथ वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध अवश्य होगा। पहले बताया गया है कि प्रकृति के तीन अंग हैं, प्रथम–स्थूल प्रकृतिके अंगसे बना हुआ एक स्थूल अंग है जिससे स्थूल शरीर का सम्बन्ध है, दूसरा–सूक्ष्म पंचतत्त्व से बना हुआ सूक्ष्म अंग है जिससे सूक्ष्म शरीर बनता है और तीसरा–अविद्यामूलक कारण अंग है जिससे कारण शरीर बनता है। इसलिये वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध तीनों शरीरों से अवश्य होगा और जन्म जब स्थूल शरीर से ही सम्बन्ध रखता है तो वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध जन्म के साथ अवश्य होगा। इसीको योगदर्शन के सूत्र में स्पष्ट दिखाया गया है कि :—

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः"

दृष्ट और अदृष्ट जन्मों में भोगेजानेवाले कर्म्म-संस्कारों के मूल में रहने से

ही जीवों को ब्राह्मण क्षत्रियादि जाति आयुः और भोग मिलता है । इसकी व्याख्या पहले अच्छी तरह की जा चुकी है । यह बात बिचारने योग्य है कि जन्म और कर्म्म क्या वस्तु है । वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर सिन्द्धान्त होगा कि जन्म और कर्म्म दोनों एक ही वस्तु हैं क्योंकि पूर्व जन्म के कर्म्म सेही आगे का जन्म होता है । यह बात पहले सिद्ध कीगई है कि संचित और क्रियमाण दोनों प्रकार के कर्म्मों में से प्रबल कर्म्म प्रारब्ध बनकर जीव के स्थूल शरीर को माता-पिता के रजोवीर्य्य के द्वारा उत्पन्न करता है । पूर्व जन्म का कर्म्म जिस प्रकार का होता है उसको भोग करने के लिये जैसे माता पिता मिलने चाहियें; अर्थात् जिस माता और पिता के मिलने से प्रारब्ध कर्म्म का भोग ठीक ठीक होगा और चार वर्णों मेंसे जिस वर्ण में उत्पन्न होने पर प्रारब्ध कर्म्म का भोग ठीक ठीक होगा और जिस देश में व जिस काल में उत्पन्न होने पर प्रारब्ध कर्म्म का ठीक ठीक भोग हो सकेगा वैसे ही पिता-माता के द्वारा वैसेही वर्ण में और वैसेही देश तथा काल में मनुष्य उत्पन्न होते हैं । पूर्व कर्म्म के साथ स्थूल शरीर का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है कि एक-एक अंग का निर्माण पूर्व कर्म्म के द्वारा हुआ करता है । सुश्रुत में लिखा है कि :—

> कर्म्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे ।
> अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥
> अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते ।
> अङ्गप्रत्यङ्गनिवृत्तौ ये भवन्ति गुणाऽगुणाः ॥
> ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्म्माऽधर्म्मनिमित्तजाः ।
> शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः ॥
> प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु ।

इन श्लोकों से तात्पर्य्य यह निकलता है कि पूर्वजन्म में मनुष्य जिस प्रकार का कर्म्म करता है अगले जन्म में उसी प्रकार के गुणों को प्राप्त करता है और केवल गुण ही नहीं प्रत्युत शरीर के प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग भी पूर्व कर्म्मों के साथ सम्बन्ध रखते हैं, पूर्व कर्म्म में जिस प्रकार का गुण

या दोष होता है शुक्रशोणित का संयोग भी ठीक वैसा ही होता है जिससे स्थूल शरीर का लक्षण भी कर्म्मानुकूल होने से वैसा ही होता है। इन्हीं लक्षणों के अनुसार शास्त्र बनाया गया है उसको फीजियोग्नोमी (Physiognomy) कहते हैं यथा—जिनके नीचे का ओठ और नाक का छिद्र मोटा होता है तथा चौड़ा होता है वे प्रायः कामुक होते हैं। जिनके केश सूक्ष्म, कुंचित और सुन्दर (लहरदार) होते हैं वे प्रायः कविताप्रिय होते हैं और जिनके केश शूकर के केश की तरह मोटे और कड़े-कड़े होते हैं वे क्रूर और दुष्ट तथा हिंस्र प्रकृति के होते हैं। जिनका मस्तक नारियल जैसा होता है वे आर्य्यगुणसम्पन्न होते हैं। जिनके मस्तक का पश्चाद् भाग ऊँचा होता है वे प्रायः कामुक होते हैं। जिनका ललाट विस्तृत होता है वे प्रायः भाग्यवान् होते हैं। ऊँचा ललाट होने से बुद्धिमान्, दबे हुए होने से निर्बुद्धि और छोटे होने से दौर्भाग्यवान् होते हैं। शूकर की तरह छोटी-छोटी आँख और मुँहवाले मनुष्य लोभी कामुक और कूटबुद्धिसम्पन्न होते हैं। गौ की तरह आँख और मुखवाले मनुष्य विचार-शून्य और सीधे होते हैं। धनुःसा भ्रू बुद्धि का लक्षण है। भौंह में सघन केश प्रभावशाली का लक्षण है। भ्रू में कम केश क्षुद्र और निर्लज्ज मनुष्य का लक्षण है। जड़ी हुई भ्रुकुटि काम का लक्षण है। गोल मुँह वैराग्य का लक्षण है। कुल्हाड़ी की तरह मुख क्रोधी और कृपण का लक्षण है। वक्रदृष्टि-वाली आँख, घूमनेवाली आँख या पूर्वदेश के लोगों की पश्चिमदेश के लोगों की तरह आँख खराब प्रकृति की सूचना करती है इत्यादि अङ्ग-प्रत्यङ्गों के अनेक लक्षणों से मनुष्य की प्रकृति पहचानी जाती है क्योंकि वे सब लक्षण प्रारब्ध के अनुसार ही शरीर में प्रकट होते हैं। और हस्तरेखा आदि से कर्म्मों का बहुत कुछ पता लग सकता है जिसके लिये पृथक् एक सामुद्रिकशास्त्र ही विद्यमान है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रारब्धकर्म्मों के सम्बन्ध से शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है और यही विभिन्नता त्रिगुण के साथ सम्बन्ध के अनुसार चतुर्वर्णविभेद का कारण होती है। और यह बात पहले कही जा चुकी है कि मनुष्य को प्रारब्ध कर्म्म के अनुसार ही भिन्न भिन्न जाति के पिता-माता मिलते हैं; अर्थात् पूर्व्व कर्म्म जिस प्रकृति का होता है उसी प्रकृति के पिता-माता द्वारा मनुष्य को स्थूल शरीर प्राप्त होता है और इसी लिये प्रायः पुत्र की प्रकृति साधारणतः पिता

की प्रकृति के अनुरूप ही हुआ करती है । पुत्र पिता के आत्मारूप से उत्पन्न होता है जिसके लिये श्रुति में कहा है कि:—

आत्मा वै जायते पुत्रः । अङ्गादङ्गात् सम्भवसि,
हृदयादधिजायसे, आत्मा वै पुत्रनामाऽसि । इत्यादि ।

पुत्र आत्मरूप से उत्पन्न होता है, अङ्ग-अङ्ग से बनता है, हृदय से हृदय बनता है, आत्मा (स्वयं) ही पुत्रनाम से उत्पन्न होता है इत्यादि । संसार में देखा जाता है कि प्रायः पिता की आकृति, रंग और अभ्यास पुत्र में स्वतः ही हुआ करते हैं । जिस वंश में जो विद्या या कार्य्य चला आता है उस वंश के मनुष्य उस विद्या या कार्य्य में अन्य वंश के मनुष्यों से अधिक निपुण होते हैं । अपने पिता के अभ्यास को पुत्र बहुत शीघ्र सीख सकता है । नाटे मनुष्य का नाटा लड़का और लम्बे पुरुष का लम्बा लड़का प्रायः हुआ करता है । रोगी पिता के रोगी पुत्र व बलवान् पिता के बलवान् लड़का प्रायः हुआ करता है । उन्माद, उपदंश आदि कई प्रकार रोग हैं जो रजोवीर्य्य के द्वारा पिता से पुत्र पौत्र में संक्रामित हुआ करते हैं इत्यादि । ऐसे बहुत से साधारण विषयों पर विचार करने से सिद्ध होगा कि पूर्व कर्म्म के अनुसार स्थूल शरीर और पिता-माता की प्राप्ति और तदनुसार ही वर्णव्यवस्था हुआ करती है । परन्तु कभी इस साधारण नियम में परिवर्त्तन भी हो जाता है क्योंकि मनुष्य कर्म्म करने में स्वतन्त्र होने से पुरुषार्थ और देशकाल के सम्बन्ध से अपने प्रारब्ध संस्कार में उन्नति करके साधारण रीति से कुछ विलक्षण भी कर सकता है । मनुष्य से नीचे जितने जीव हैं उनमें और मनुष्य में यह भेद है कि अन्य जीवों में बुद्धि का विकास कम होने से उनमें कर्म्म करने की स्वतन्त्रा नहीं है, वे प्रकृति के अधीन होकर ही कर्म्म करते हैं परन्तु मनुष्य में बुद्धि के विकास होने से मनुष्य प्रकृति को यथासाध्य अपने अधीन करके स्वतन्त्रता से कर्म्म को कर सकता है । ऐसा होने में और भी एक कारण यह है कि मनुष्य में पंचम कोष अर्थात् आनन्दमय कोष का विकाश होता है जिससे सुख की इच्छा मनुष्य में प्रबल होने के कारण कर्म्म में भी स्वतन्त्रता होती है, मनुष्य के हृदय में स्थित आनन्दसत्ता उसको सुख की लालसा से कार्य्य में प्रवृत्त कराती है जिससे मनुष्य के मौलिक कार्य्य प्रारब्ध संस्कार के अनुसार होने पर भी उनमें उन्नति या अवनति करना मनुष्य के अधीन रहता है । इसलिये

इतर जीवों में प्राथमिकी प्रवृत्ति (Primary passion) होने पर भी मनुष्य में द्वैतीयिकी प्रवृत्ति (Secondary passion) हुआ करती है। दृष्टान्तरूप से समझ सकते हैं कि पशु का आहार या उसकी कामलालसा प्राकृतिक अभाव को पूर्ण करने के लिये होने पर भी मनुष्य की कामलालसा और आहार इन्द्रिय-भोगजनित सुख प्राप्ति के लिये हुआ करती है इसलिये प्रारब्ध के वेग से कोई भोग्य वस्तु मनुष्य को प्राप्त हो तो उसको भोगने के साथ ही साथ मनुष्य में नवीन वासना उत्पन्न हुआ करती है जिससे सत् या असत् नवीन कर्म्म बनते जाते हैं यही कर्म्म क्रियमाण कर्म्म कहलाते हैं जो मौलिक प्रारब्ध कर्म्म को आश्रय करके बनते हैं और इन्हीं क्रियमाण कर्म्म और सञ्चित कर्म्मों से छँटे हुए बलवान् कर्म्मों के द्वारा पुनः मनुष्य को आगामी जन्म मिला करता है, इसी प्रकार जन्म और कर्म्म के द्वारा मनुष्य संसारचक्र में मुक्ति के पहले पर्य्यन्त भ्रमण करते हैं। उनको भिन्न-भिन्न जाति की प्राप्ति इस प्रकार जन्म और कर्म्म दोनों के द्वारा ही हुआ करती है। ऋषियों ने इन सब बातों को ज्ञानदृष्टि द्वारा देखा था तभी तीन गुण के अनुसार चार वर्ण की व्यवस्था की है; अर्थात् किस तरह के प्रारब्ध कर्म्म के अनुसार मनुष्य कौनसा कर्म्म प्रकृति के अनुकूल कर सकता है, किस प्रकार के स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरों के संस्कारों से कौन वर्ण के कर्म्म साधारण रीति पर बन सकते हैं, जिससे प्रकृति के विरुद्ध और अनधिकार-चर्चा होकर उन्नति के बदले अवनति न हो, किन्तु प्रारब्ध संस्कार के आश्रय से स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों शरीरों की उन्नति होकर क्रमशः उच्च वर्ण की प्राप्ति हो, इन्हीं सब विषयों पर विचार करके वर्णव्यवस्था का नियम और कर्त्तव्य निर्द्देश किया है। अतः सिद्ध हुआ कि जन्म और कर्म्म दोनों से ही वर्णों की व्यवस्था हुआ करती है। जन्म के अनुसार ही कर्म्म होते हैं और कर्म्मों के अनुसार ही पुनः जन्म हुआ करते हैं तथा प्रत्येक वर्ण में पूर्णता तभी आ सकती है, जब जन्म और कर्म्म दोनों पूर्ण हों। जिस वर्ण में जन्म हो उसीके अनुकूल कर्म्म करना ही प्रकृति के अनुकूल है। इससे क्रमोन्नति होकर उच्च वर्ण की प्राप्ति आगामी जन्म में हुआ करती है। इस वास्ते साधारण रीति तो यह हुई, कि प्रारब्ध संस्कार के अनुकूल ही उन्नति करते हुए क्रमशः जन्म-

जन्मान्तर में उच्चवर्णों को प्राप्त किया जाय, परन्तु मनुष्य में योगादि असाधारण पुरुषार्थ करने की शक्ति और कर्म्म करने में स्वतन्त्रता होने से, वह निज पुरुषार्थ से एक ही जन्म में उच्च वर्ण को प्राप्त कर सकता है जिस प्रकार महाभारत के श्लोकों से पहले दिखाया जा चुका है, कि सृष्टि की प्रथम दशा में केवल ब्राह्मण ही थे। उनके कर्म्मों में अन्तर पड़ने से ही मनुजी को वर्णों की व्यवस्था बांधनी पड़ी, जिससे यह समझना चाहिए कि इस प्रकार वर्ण की व्यवस्था असाधारण कर्म्म का ही फल था, जिसके प्रभाव ने स्थूल शरीर पर्य्यन्त को बिगाड़ कर क्षत्रियादि कर्म्म बना दिये; ठीक इसी प्रकार असाधारण उत्तम कर्म्म करने से एक ही जन्म में उत्तम वर्ण की भी प्राप्ति हो सकती हैं। जैसे विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण होना। आज कल लोग वर्णव्यवस्था को न समझकर, सभी विश्वामित्र बनने लगे हैं और कर्म्म के द्वारा विश्वामित्र जी ब्राह्मण हुए थे, इस वास्ते कर्म्म को ही मुख्य मानकर, जन्मको उड़ाने लगे हैं। उनके इस सिद्धान्त का भ्रान्ति ही कारण है क्योंकि यह बात पहले ही सिद्ध की गई है कि प्रकृति के स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ऐसे तीन अंग होने से, प्रत्येक वर्ण तभी पूरे हो सकते हैं, जब शरीर अर्थात् जन्म, कर्म्म और ज्ञान उस वर्ण में पूरे हों; इन तीनों में से एक के कम होने से वर्ण में भी कमी रहेगी। अब विचार करने की बात है कि विश्वामित्र जी ने जो ब्राम्हणत्व प्राप्त किया था सो केवल कर्म्म के परिवर्त्तन से ही था अथवा उसके साथ स्थूल शरीर का भी कुछ सम्बन्ध था। पुराण का पाठ करनेवाले जानते हैं कि विश्वामित्र की उत्पत्ति में पिता का अंश ब्राम्हण का था, केवल माता का अंश क्षत्रिय का था, इस वास्ते विश्वामित्रजी पहले से ही आधे ब्राम्हण थे, परन्तु माता का अंश क्षत्रिय होने के कारण, स्थूल शरीर में जो कुछ क्षत्रिय का अंश था उसके परिवर्त्तन करने के अर्थ उन्होंने बहुत वर्षों तक असाधारण तपस्या की। यह बात सभी लोग जानते हैं कि तपस्या का प्रभाव केवल मन पर ही नहीं किन्तु शरीर पर भी पड़कर, उसके अणु परमाणुओं को बदल डालता है। विश्वामित्र के विषय में भी ऐसा ही हुआ था; अर्थात् असाधारण कर्म्मों के द्वारा उन्होंने स्थूल शरीर तक का परिवर्त्तन करके वे उसी जन्म में तीनों शरीरों से ब्राम्हण बन गये थे। यह बात असाधारण कर्म्म की है। महा-

भारत के श्लोकों में जिस प्रकार कहा जा चुका है कि रंग बदलना व स्थूल शरीर बदलकर एक वर्ण से चार वर्ण की प्राप्ति होना यह असाधारण कर्म्म की बात है इस लिये साधारण नियम में या वर्णव्यवस्था में विश्वामित्र का दृष्टान्त नहीं दिया जासक्ता है । साधारण नियम साधारण कर्म्म के विचार से सारधण प्रकृति को देखकर हुआ करता है, जिससे तीनों शरीर धीरे-धीरे उन्नत होकर क्रमशः उच्च वर्ण की प्राप्ति हुआ करती है । विश्वामित्र संसार में आजकल एक ही हुए हैं, इस वास्ते उनका दृष्टान्त सबके लिये लगाना और इसी बहाने से वर्णव्यवस्था को भ्रष्ट करना, पूर्ण अज्ञान और भ्रान्तिमात्र है । आजकल जो विश्वामित्र के नाम से शुद्धि की प्रथा चली है, यह भी ऐसे ही भ्रान्तिज्ञान पर प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि इस पर पूर्व सिद्धान्त के अनुसार विचार करने पर स्पष्ट होगा, कि विश्वामित्रजी ने हजारों वर्षों तक जो स्थूल शरीर की शुद्धि की थी; सो एक आध होम के द्वारा वायुशुद्धि या मन्त्र के उच्चारण करने से नहीं हो सक्ती है, इसको विचारवान् पुरुष अच्छी तरह समझ सक्ते हैं । किसीको शुद्ध करना अच्छा है, परन्तु उसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों शरीरों का विचार रखकर तीनों शरीरों की शुद्धि होनी चाहिये, जिससे उन लोगों में निकृष्ट रज और वीर्य्य से निकृष्ट स्थूल शरीर बना हुआ है, वह स्थूल शरीर विश्वामित्र की तरह तपस्या के द्वारा परमाणुओं के परिवर्तन से परिवर्त्तित होकर उच्च वर्ण की तरह स्थूल शरीर बन जाय, पश्चात् सूक्ष्म और कारण शरीर भी उसी तरह हो जाय । प्रारब्ध कर्म्म; जो सूक्ष्म शरीर में स्थित हो कर स्थूल शरीर को माता-पिता के रज तथा वीर्य्य के द्वारा बनाते हैं उन्हीं की पहिचान से स्थूल शरीर के परमाणुओं की पहिचान हो सकती है, आधुनिक असम्पूर्ण सायन्स से नही होसक्ती है इस लिये स्थूल शरीर बदला कि नहीं इनके पहिचानने के वास्ते सूक्ष्म शरीर का ज्ञान और संस्कार के संयम करने का ज्ञान प्राप्त करके तब तपस्या की विधि बतानी चाहिये, विश्वामित्र के लिये ऐसा ही हुआ था, यदि ऐसा होवे तो शुद्धि बन सक्ती है । केवल होम के द्वारा हवा साफ करने से शरीर की शुद्धि नहीं हो सकती । यह सब मिथ्या आडम्बरमात्र है और धर्म्म के नाम से अधर्म्ममात्र है । मन्त्रोच्चारण के विषय में यह विचार रखना चाहिये कि वेद-मन्त्रों में

अधिक शक्ति होने के कारण स्वर से और वर्ण से यदि ठीक-ठीक उच्चारण नहीं होसके, तो वह मन्त्र वज्र की तरह यजमान का नाश करता है । ऐसे उच्चारण से उन्नति के बदले अवनति और नाश हुआ करता है । जैसे कि महाभाष्य में लिखा है किः—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

वेद-मन्त्र के शब्दों को उच्चारण करते समय स्वर से अथवा वर्ण से ठीक ठीक उच्चारण न किया जाय या अस्तव्यस्त और अशुद्ध उच्चारण किया जाय तो वह वाग्वज्र यजमान को नाश करता है जैसे स्वर के दोष से इन्द्रशत्रु शब्द पर हुआ था । क्या शुद्धि करनेवाले लोग जिनको शुद्ध करते हैं, उनके शुद्ध मन्त्रोच्चारण के विषय में निश्चय कर सकते हैं ? शास्त्रों में जो लिखा है किः—

स्त्रीशूद्रौ नाऽधीयाताम् ।

स्त्री और शूद्र वेद पाठ न करें । इन श्रुति के वाक्यों से शूद्रों को वेद में अधिकार नहीं दिया गया है, इसका कारण यह है कि मन्त्रों के उच्चारण के साथ जिह्वा आदि स्थूल इन्द्रियों का सम्बन्ध है और शूद्र का स्थूल शरीर सामान्य रज तथा वीर्य्य के द्वारा बनने के कारण उन्नत न होने से मन्त्रों का उच्चारण उससे ठीक ठीक नहीं बन सकेगा, जिसका फल यह होगा कि दुष्ट उच्चारण से उसकी और भी अवनति तथा हानि होगी । शास्त्रों में लेख है किः—

वेदाऽक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत् ।

वेदमन्त्रों के अक्षरों का विचार करने से शूद्र चाण्डाल होता है । इस में ऋषियों का तथा ब्राह्मणों का पक्षपात नहीं, परन्तु शूद्रों पर उनकी दया है, इस बात को न जानकर आज कल के लोग उन्मत्तों की तरह प्रलाप किया

करते हैं। और किसी-किसी अर्व्वाचीन पुरुष ने यह धृष्टता की है कि एक आध मन्त्र वेद से उठाकर उसके अर्थ का अनर्थ कर, कह दिया कि वेद में शूद्र का अधिकार लिखा है। यह सब भ्रममात्र है, वेद में ऐसा कहीं नहीं लिखा है। कलियुग तमःप्रधान है। इसमें मनुष्यों का शरीर प्रायः कामज होने से, विश्वामित्र की तरह कठिन तपस्या के योग्य नहीं है। इस लिये छोटी जाति को शरीर से उच्च बनाने का वृथा यत्न न करके, उनको उनके अधिकार तथा योग्यतानुसार विद्या दान करना चाहिये, जिससे वे अपने कर्म्मों को इस जन्म में शुद्ध करके आगे के जन्म में उच्च वर्ण हो सकें। उनको घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। आजकल जो जातीय पक्ष-पात से लोग घृणा तथा तिरस्कार करते हैं तथा उसी जाति के दूसरे धर्म्म को ग्रहण करने पर उसका आदर करते हैं, ये सब भूल और दुर्बलता है। उनके साथ उनके अधिकार के अनुसार प्रेम से बर्तना चाहिये और उनको सत्शिक्षा देकर उन्नत करना चाहिये, यही सच्ची शुद्धि है और मनुजी ने भी ऐसा ही बताया है कि:—

> धर्म्मेप्सवस्तु धर्म्मज्ञाः सतां वृत्तिमनुष्ठिताः।
> मन्त्रवर्ज्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥
> यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
> तथा तथेमञ्चाऽमुञ्च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दित :॥

धर्म्मेप्सु, धर्म्मज्ञ व सद्वृत्तिपरायण शूद्र भी ब्राह्मणादिकों के अनुष्ठेय महायज्ञादि कर्म्म वैदिकमन्त्रों को छोड़कर कर सके हैं। उससे उनकी निन्दा न होकर प्रशंसा ही होती है। असूयाशून्य होकर इस प्रकार सत्कार्य्य का अनुष्ठान करने से इस लोक में मान और परलोक में स्वर्गप्राप्ति होती है। इस प्रकार कर्म्ममार्ग में उन्नत नीच जाति के भी मनुष्य आगामी जन्म में स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर व कारण शरीर तीनों से उच्च वर्ण को प्राप्त करते हैं। अर्व्वाचीन पुरुषों ने इस तत्त्व को नहीं जानकर मनुसंहिता के अनेक श्लोकों से केवल कर्म्म के द्वारा ही जातिनिर्णय करने की चेष्टा की है परन्तु उन की यह चेष्टा सर्व्वथा भ्रमयुक्त है क्योंकि मनुजी ने ऐसा कहीं नहीं लिखा

है किंतु उन्हीं सब श्लोकों के द्वारा मनुजी ने वीर्य्य का या जन्म का प्राधान्य बताया है । यथा: —

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

शूद्रा स्त्री में ब्राह्मण से उत्पन्न कन्या को यदि और कोई ब्राह्मण विवाह करे और उस विवाह से उत्पन्न कन्या को दूसरा ब्राह्मण विवाह करे, इस प्रकार से ब्राह्मणसम्बन्ध क्रमशः सात पुरुष (जन्म) पर्य्यन्त होवे तो सातवें जन्म में वीर्य्य के प्राधान्य के हेतु वह वर्ण ब्राह्मण हो जाता है । इस प्रकार से जैसा कि शूद्र ब्राह्मण होता है ऐसा ही ब्राह्मण भी शूद्र हो सकता है और क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी यही नियम जानना चाहिये । इन श्लोकों में स्पष्टरूप से जन्म से जाति और वीर्य्य का प्राधान्य वर्ण-व्यवस्था के साथ दिखाया गया है । इसमें और किसी प्रकार की व्याख्या का अवसर नहीं है । मनुजी ने ऐसा ही और भी कहा है कि:—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

इससे पहले और भी दो श्लोक इसी विषय के हैं यथा:—

वैदिकैः कर्म्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्म्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥

इन तीनों श्लोकों का क्रमशः अर्थ यह होता है कि वैदिक पुण्य कार्य्य द्वारा द्विजगण का गर्भाधानादि संस्कार करना चाहिये । ये सब वैदिक संस्कार इहलोक व परलोक में पवित्र करते हैं । गर्भाधान, जातकर्म्म, चूडाकरण व उपनयनादि संस्कारों के द्वारा द्विजों के बीज व गर्भजन्य दोष

नष्ट होते हैं । स्वाध्याय, व्रत, होम, त्रैविद्य व्रत, ब्रह्मचर्य्यदशा में देवर्षि पितृतर्पण, गृहस्थ में सन्तानोत्पादन, पञ्चमहायज्ञ और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ द्वारा मनुष्यों का शरीर ब्रह्मपदप्राप्ति के योग्य होता है । इसमें पहले दो श्लोकों से रजोवीर्य्य से उत्पन्न स्थूल शरीर-शुद्धि और तीसरे श्लोक से सूक्ष्म व कारण शरीर की शुद्धि बताई गई है क्योंकि जीव को ब्रह्मपद प्राप्ति तीनों शरीर की शुद्धि से ही हुआ करती है । द्विजातिगण इस प्रकार त्रिविध शुद्धिद्वारा ही मुक्तिपद प्राप्त कर सकते हैं । जैसा कि पहले इस विषय में विज्ञान बताया गया है । अर्व्वाचीन पुरुषों ने पहले दो श्लोकों का अर्थ छोड़कर और तीसरे का अर्थ बिगाड़कर जन्म के उड़ाने की चेष्टा की है सो सर्व्वथा मिथ्या है । इसी प्रकार आपस्तम्ब के सूत्र के विषय में भी अर्व्वाचीन लोगों ने भ्रान्ति से कहा है कि "उसमें केवल कर्म्म से ही जन्म की व्याख्या की गई है" । उसका अर्थ ऐसा नहीं है । वह सूत्र यह है कि :

धर्म्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्व्वं पूर्व्वं
वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।
अधर्म्मचर्य्यया पूर्व्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं
वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।

धर्म्माचरण से नीच वर्ण जाति के बदलने से उच्च वर्ण को प्राप्त होता है और ऐसा ही अधर्म्माचरण से उच्च वर्ण भी नीच वर्ण को प्राप्त होता है । यहां धर्म्म व अधर्म्म-संस्कार का प्रभाव बताया गया है; परन्तु इसमें एक ही जन्म में वर्ण बदलता है ऐसा तो नहीं कहा गया है । योगदर्शन का सिद्धान्त है कि कर्म्म का फल दृष्ट व अदृष्ट दोनों जन्मोंमें होता है जिससे जाति, आयु व भोग कर्म्मानुसार मिलते हैं । प्रबल असाधारण कर्म्म का भोग इसी जन्म में होता है और साधारण कर्म्म का भोग आगामी जन्म में जाति-परिवर्त्तन से होता है । यहां भी यही भाव है कि धर्म्म या अधर्म्म से उन्नत या अवनत जाति की प्राप्ति साधारणरूप से आगामी जन्म में और असाधारणरूप से विश्वामित्र आदि की तरह उसी जन्म में होती है जैसा कि पहले सिद्धान्त बताया गया है । इसमें अन्यथा अर्थ करना भ्रममूलक है ऐसा जानना चाहिये । इस प्रकार से जाति के साथ जन्म व कर्म्म दोनों का

ही सम्बन्ध रक्खा गया है । और जब आर्य्यों में ही नीच वर्ण, सात वर्ण पर्य्यन्त उच्च वर्ण का वीर्य्यसम्बन्ध पाने पर, तब उच्च वर्ण बन सकता है तो अनार्य्य को शुद्ध करके आर्य्य बनाना कैसा उन्माद व अज्ञान का कार्य्य है इसको विचारवान् पुरुष सोच सकते हैं । भगवान् मनुजी ने कहा है किः—

जातो नार्य्यामनार्य्यायामार्य्यादार्य्यो भवेद्गुणैः ।
जातोऽप्यनार्य्यादार्य्यायामनार्य्य इति निश्चयः ॥

अनार्य्या स्त्री में आर्य्य पुरुष से उत्पन्न पुत्र गुण से आर्य्य होते हैं और आर्य्य स्त्री में अनार्य्य पुरुष से उत्पन्न पुत्र अनार्य्य होते हैं । इसमें पहले प्रकार के पुत्र आर्य्य वीर्य्य के कारण आर्य्य का गुण प्राप्त करेंगे परन्तु आर्य्य की जाति उनकी नहीं होगी । और दूसरे प्रकार के पुत्र जो अनार्य्य पुरुष से उत्पन्न होंगे उनमें वीर्य्य का भी प्राधान्य न रहने से वे जाति और गुण दोनों ही से अनार्य्य होंगे । यही शास्त्र का सिद्धान्त है । इस लिये अनार्य्यों को शुद्ध करके आर्य्य बनाना सर्व्वथा शास्त्रविरुद्ध और अन्याय है । हाँ, यदि कोई अनार्य्य आर्य्य धर्म्म के महत्त्व को जानकर इसके अन्तर्भुक्त होना चाहे तो होसक्ता है किन्तु चतुर्वर्ण में उसकी गिनती नहीं होगी । ऐसे ही यदि कोई आर्य्यधर्म्मावलम्बी जो भूल से अन्य धर्म्म में चले गये थे, पुनः आर्य्यधर्म्म में आना चाहें, यदि उनका ऐसा कोई उत्कट दोष नहीं हुआ हो जिसका कि प्रभाव स्थूल शरीर पर भी पड़गया हो और स्थूल शरीर को अनार्य्यभावों से ग्रस्त कर दिया हो, तो उनको प्रायश्चित्त आदि शास्त्रीय विधानों से शुद्ध करके पुनः चतुर्व्वर्ण में ले सकते हैं । अथवा कोई चतुर्व्वर्ण से ही कर्म्म द्वारा पतित होकर अवान्तर वर्ण बन गया हो और उसका कर्म्म अब शुद्ध व उन्नत वर्ण जिससे कि वह गिर गया था उसके सदृश होगया हो तो उसको भी, यदि ठीक ठीक प्रमाण मिलजाय तो उसके अपने वर्ण में, शुद्ध करके ले सकते हैं । परन्तु ये सब कार्य्य बहुत ही विचार और शास्त्रीय आज्ञा व अनुसन्धान के साथ होने चाहिये जिससे एक वर्ण के साथ दूसरा वर्ण मिलकर कहीं वर्णसंकरता न फैल जाय । आजकल स्वदेशहितैषिता और हिन्दुओं की संख्यावृद्धि के बहाने से कोई कोई लोग अनार्य्यों को शुद्धकर आर्य्य बनाने लग पड़े हैं और वे लोग नीच वर्ण को

और धर्म्म में चले जाने के डर से उच्च वर्ण बना देते हैं। आर्य्यों की संख्या-वृद्धि और देश का हित हो यह सबका प्रार्थनीय विषय है, परन्तु ये सब कार्य्य आर्य्यत्व को स्थायी रखकर करना चाहिये। आर्य्यों की भलाई व उन्नति आर्य्य रहकर ही हो सकती है, आर्य्यत्व को नष्ट करके अनार्य्य बनकर नहीं हो सकती है। यही यथार्थ स्वदेशहितचिन्ता है। धर्म्म व आर्य्यत्व को छोड़कर स्वदेशहितचिन्ता वास्तविक हितचिन्ता नहीं है, परन्तु अज्ञानकृत अहितचिन्ता है। आर्य्य यदि आर्य्य ही न रहे तो उनकी उन्नति किस काम की होगी। किन्तु इस प्रकार अनार्य्यों को आर्य्य बनाकर संख्यावृद्धि करने से आर्य्यत्व भ्रष्ट होजायगा, हिन्दुजाति अहिन्दु हो जायगी। इसलिये उस प्रकार की शुद्धि व संख्यावृद्धि का ख़याल सर्व्वथा अमयुक्त है। और अन्य धर्म्म में चले जाने के डर से नीच वर्ण को उच्च वर्ण बनादेना भी इसी प्रकार शास्त्र व जातीयता से विरुद्ध है। इससे वर्णसङ्करता-वृद्धि होकर आर्य्य-जाति नष्ट हो जायगी। संख्यावृद्धि अच्छी वस्तु है परन्तु धर्म्म को छोड़कर संख्यावृद्धि ठीक नहीं है। आर्य्यजाति की जातीयता व उन्नति धर्म्म-मूलक होनी चाहिये, अन्यथा उन्नति कभी नहीं होसक्ती है। पूर्व्व विज्ञान से सिद्ध किया गया है कि एक जाति थोड़ीसी शुद्धि से ही अन्य जाति नहीं बन सकती है, कर्म्म के अच्छे होने से अगले जन्म में बन सकती है। इसी सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर इन नीच जातियों को शिक्षा देनी चाहिये, उनसे घृणा नहीं करनी चाहिये, उनको विद्या पढ़ाना चाहिये, वे दरिद्रता व लोभ से दूसरे धर्म्म में जाते हैं इसलिये उनकी गरीबी हटाना चाहिये व उनके अधिकार अनुसार उनको सत्शिक्षा देकर उन्नत करना चाहिये। ऐसा करने से वे उन्नत व शिक्षित भी होंगे और भिन्न धर्म्मों में नहीं जायँगे। इस प्रकार से धर्म्म की भी रक्षा होगी और हिन्दुजाति की संख्या नहीं घटेगी। यही शास्त्रीय सिद्धान्त है। संख्यावृद्धि के विषय में सबको और भी ध्यान रखना चाहिये कि यथार्थ संख्यावृद्धि जिस से कि देश व धर्म्म की उन्नति हो सकती है वह केवल जिसको तिसको शुद्ध करने से नहीं हो सकती है, परन्तु गर्भाधानादि संस्कारों के साथ वीर्य्यवान् पुत्र उत्पन्न करने से होसक्ती है। एक सिंह हजारों भेड़ों से उत्तम होता है। इस लिये देश की व धर्म्म की उन्नति आर्य्यसिंह से होगी, ऐसी शुद्धि

से कभी नहीं होगी । इससे और भी नालायक और भिखारियों की संख्या आर्य्यजाति में भर जायगी जैसे कि आज भी भारत में बहुत हो रहे हैं जिस से जातीय जीवन की अवनति और धर्म्म की सत्ता का नाश होगा, इसको विचारवान् पुरुषमात्र ही अनुभव कर सकते हैं । इस विषय में आगे और भी कहा जायगा ।

वर्णव्यवस्था रहनी चाहिये कि नहीं ? इस विषय में आजकल बहुत वादानुवाद चल रहा है । बहुत से सामाजिक नेता इसको सामाजिक उन्नति का अन्तराय समझकर उड़ा देना चाहते हैं । बहुत लोग वर्त्तमान कर्म्मव्यवस्था में भावान्तर और जन्म के आदर्श की विरुद्धता देखकर केवल इहलौकिक कर्म्म से ही वर्णव्यवस्था का होना युक्तियुक्त समझते हैं । इस लिये इन सब आवश्यकीय विषयों पर पृथक् पृथक् विचार किया जाता है । इन सब विषयों को तीन विभाग में विभक्त किया जासकता है । यथा- (१) वर्णव्यवस्था के न रहने से क्या हानि और क्या लाभ है ? (२) केवल कर्म्मानुसार वर्णव्यवस्था होने से क्या हानि और क्या लाभ है ? (३) जन्म व कर्म्म दोनों के साथ ही वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध रहने से क्या हानि और क्या लाभ है ? अतः इन तीनों विषयों की पृथक् पृथक् मीमांसा की जाती है ।

(१) पहले ही कहा गया है कि संसार में जो वस्तु विचार्य्य है उस वस्तु के अस्तित्व के साथ प्रकृति का कोई मौलिक सम्बन्ध है या नहीं, यह पहले निश्चय करना चाहिये, क्योंकि यदि उस वस्तु का कोई मौलिक सम्बन्ध प्रकृति के साथ होगा तो उसके अस्तित्व का सम्बन्ध भी प्रकृति के अस्तित्व के साथ रहेगा और ऐसा होने से जब तक प्रकृति रहेगी तब तक उस वस्तु को हजारों चेष्टा करने पर भी कोई नहीं नष्ट कर सकेगा । पहले ही वर्णन किया गया है कि प्रकृति में तीनों गुणों का होना ही चारों वर्णों का मौलिक कारण है । तीनों गुणों के राज्य में जीवों की क्रमोन्नति को ही चारों वर्णों को व्यवस्थारूप से विभक्त किया गया है; इस लिये जब प्रकृति नित्य है तो वर्णव्यवस्था भी नित्य है, इसको कोई नष्ट नहीं कर सकता । इसी कारण शास्त्रीय प्रमाणों से यह सिद्ध है कि वर्णव्यवस्था जिस जाति में नहीं है वह जाति चिरकालस्थायी नहीं होसकती । इसी कारण चिरकालस्थायी आर्य्यजाति वही हो सकती है कि जो वर्णव्यवस्थारूपी वैज्ञानिक दुर्ग

के द्वारा सुरक्षित है। इसका बिस्तारित रहस्य स्वतन्त्र अध्याय में प्रकाश किया जायगा। केवल गुणों के आविर्भाव के तारतम्यानुसार कुछ तारतम्य हो सकता है। जैसा कि समष्टि सृष्टि में वर्णव्यवस्था का इतिहास पहले वर्णन किया गया है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब त्रिगुणमयी प्रकृति का अधिकार समस्त संसार में ही व्याप्त है तो केवल आर्य्यजाति में ही वर्णव्यवस्था क्यों देखने में आती है ? और किसी जाति में क्यों नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि जब प्रकृति में तीन गुण हैं तो केवल मनुष्यों में ही नहीं अधिकन्तु मनुष्यों के नीचे के जीवों में भी चारों वर्णों की व्यवस्था अवश्य विद्यमान है। और इसका वर्णन पहले वेदादि के प्रमाणों से किया भी गया है। इस में भेद इतना ही होगा कि सर्वत्र प्रकृति रहने पर भी जहाँ पर प्रकृति का पूर्ण विकाश है वहां पर तीन गुणों का भी पूर्ण विकाश होने से चारों वर्ण जन्म और कर्म्म के अनुसार पूर्णरूप से प्रकट रहेंगे और जहाँ पर प्रकृति की पूर्णता नहीं है और इसीलिये जहाँ पर तीनों गुणों का भी पूर्ण विकाश नहीं है, एक या दो ही गुण प्रकट हैं वहां वर्णव्यवस्था का ठीक ठीक होना असम्भव होगा। भारतवर्ष की प्रकृति पूर्ण है, इसको विदेशीय मैक्स-मूलर (Max Muller), कोलब्रुक (Cole Brooke) आदि अनेक सर्वमान्य पण्डितोंने भी स्वीकार किया है। इसलिये यहाँ पर प्रकृतिराज्य में अन्तर्दृष्टियुक्त महर्षिगण ने गुणों के अनुसार चारों वर्णों की व्यवस्था देखी थी और अन्य जाति या तत्तद्देशों में प्रकृति के होने से जिस प्रकार मनुष्येतर जीवों की वर्णव्यवस्था ठीक ठीक देखने में नहीं आती; उसी प्रकार उन जातियों में भी अब तक वर्णव्यवस्था ठीक ठीक नहीं हुई है, तो भी उन जातियों में वर्णव्यवस्था का अस्तित्व गौणरूपेण अवश्य है, क्योंकि अपूर्ण होने पर भी त्रिगुण का अस्तित्व होना निश्चय ही है। यूरोपियन जातियों में स्पष्ट देखने में आता है कि उच्च कुल के, जैसे लॉर्ड वंश के लोग दूसरे कुल से पृथकता रखते हैं एवं और भी कई बातों में ऐसी भिन्नता पाई जाती है। विवाह आदि की व्यवस्था भी इसी विचार से होती है। यह सब वर्णभेद के होने का ही कारण है। इस विषय को केवल आर्य्य महर्षिगण ने ही देखा था और किसी ने नहीं देखा था, यह बात नहीं है। अगष्टकोम्टि (August Comet) नामक प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित ने भी इस सम्राजविज्ञान को देखा है और पाश्चात्य

सामाजिक उन्नति के लिये इसकी आवश्यकता भी उन्होंने वर्णन की है। उन्होंने मनुष्यसमाज के आदर्श को तीन भाग में विभक्त किया है। यथा– (१) याजक सम्प्रदाय; (२) शासक सम्प्रदाय और (३) कृषि-वाणिज्य-शिल्प-कर्मकारी साधारण प्रजा सम्प्रदाय। उन्होंने याजक सम्प्रदाय को धन-संग्रह करने का अधिकार न देकर केवल अन्य दोनों को उपदेश देने का अधिकार दिया है और तृतीय सम्प्रदाय को पूर्व्वजों का कार्य्य सीखने को कहा है। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का क्रम बांध कर इसी के अनुकूल समाज संगठन करने को उन्होने पाश्चात्त्य जातियों को उत्तेजित भी किया है और ऐसा न होने से पाश्चात्त्य जाति नियम व शृङ्खला के साथ उन्नति व सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकेगी, यह भी कहा है एवं यह भी कहा है कि ऐसा न होने से पाश्चात्त्य जाति दिन ब दिन अधर्म्माचारी और अशान्तियुक्त होकर नष्ट हो जायगी। अगष्टकोम्टि की इन बातों से समझ सकते हैं कि वर्णव्यवस्था मुख्य या गौणरूप से सर्व्वत्र ही है। केवल जिस जाति में स्थूल दृष्टि बढ़जाने से अन्तर्दृष्टि कम हो गई है और आधिभौतिक चेष्टा बढ़ गई है उसने इस पर से दृष्टि हटा ली है। आजकल आर्य्यजाति में भी अन्तर्दृष्टि घट जाने से वर्णव्यवस्था के विषय में बहुत सन्देह फैल गये हैं। प्रकृति के गूढ़ तत्त्वों से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों पर विचार कम होते जाते हैं और आधिभौतिक धनलालसा व सुखभोग की ओर दृष्टि बढ़ रही है, अन्यथा अधिकारी होने पर ज्ञान सर्व्वत्र ही प्रकाशित हो सकता है। किन्हीं किन्हीं मनुष्यों की यह कल्पना है कि प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था का जोर नहीं था, लोग यथेच्छ रहते थे। यह बात सर्व्वथा मिथ्या है। महाभारत के प्रमाणों के साथ पहले ही सिद्ध किया गया है कि सत्ययुग के प्रथम पाद में सत्त्वगुण प्रबल होने के कारण सबही ब्राह्मण थे। पश्चात् असाधारण कर्म्माधिकार के अनुसार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से चार वर्ण होगये। वे ही चार वर्ण आज तक चल रहे हैं। प्राचीन इतिहास पर मनन करने से ही इस विषय का सिद्धान्त हो सकता है। जिस समाज में आधे ब्राह्मण और आधे क्षत्रिय विश्वामित्र को भी पूर्ण ब्राह्मण बनने के लिये हजारों वर्ष तक तपस्या करनी पड़ी थी उस समाज में वर्णव्यवस्था का कितना प्राधान्य था सो विचारशील पुरुष सोच सकते हैं। मनुजी ने असवर्ण

विवाह की विधि बताने पर भी उसकी बड़ी भारी निन्दा की है क्योंकि स्मृति जब सकल अधिकारियों के लिये ही धर्म्मशास्त्र है तो उस में सब प्रकार की आज्ञाएँ अवश्य मिलेंगी और उनके दोष-गुण भी दिखाये जायँगे। जैसा कि मनुजी ने आठ प्रकार का विवाह बताने पर भी पैशाच व आसुर विवाह की बड़ी निन्दा की है; उसी प्रकार उन्होंने अनुलोम व प्रतिलोम से असवर्ण विवाह की विधि बताकर अनुलोम की निन्दा कीहै और उससे भी अधिक निन्दा प्रतिलोम की की है एवं सवर्ण विवाह की प्रशंसा की है। यथाः—

सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्म्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥
शूद्रैव भार्य्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशःस्मृते ।
ते च स्वाचैवराज्ञः स्युस्ताश्च स्वाचाऽग्रजन्मनः ॥

द्विजातियों के अर्थ विवाह में पहले सवर्णा स्त्री होनाही प्रशस्त अर्थात् धर्म्मानुकूल है परन्तु यदि कोई काम के वशीभूत होकर भोगबुद्धि से अपने से नीच वर्णों में भी विवाह करना चाहे तो इस प्रकार से कर सकते हैं कि शूद्र के लिये केवल शूद्रा ही स्त्री हो सकती है, वैश्य के लिये वैश्या और शूद्रा स्त्री हो सकती है, क्षत्रिय के लिये शूद्रा वैश्या और क्षत्रिया स्त्री होसक्ती है और ब्राह्मण के लिये चारों वर्णों की स्त्री हो सकती हैं। इसमें असवर्ण विवाह काममूलक कहागया है। विवाह प्रजोत्पत्ति द्वारा हो सुरक्षा और भगवान् के प्रति पवित्र प्रेम करने की शिक्षा के लिये हुआ करता है, काम के लिये नहीं। इसलिये काममूलक विवाह यथार्थ विवाह नहीं होने से सर्वथा निन्दनीय है। परन्तु यदि कोई पुरुष ऐसा कामातुर ही हो कि अन्य वर्ण से विवाह करने के लिये उन्मत्त होजाय तो उस उन्माद की दशा में भी अपेक्षाकृत सृष्टिधारा और धर्म्म की रक्षा के लिये मनुजी ने असवर्ण अनुलोम विवाह की युक्ति बताई है। अतः इसको सर्वसाधारण के लिये विधि नहीं समझनी चाहिये, परन्तु अधिक पाप, निरङ्कुश होकर स्त्रीसम्बन्ध और प्रतिलोम स्त्रीसम्बन्ध से रक्षा पाने के लिये विधि है

ऐसाही समझना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार के विवाह के द्वारा वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होती है, जिसके लिये मनुजी ने कहा है कि:—

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥

जिस राज्य में वर्णदूषक वर्णसङ्कर जाति उत्पन्न होती है वह राज्य प्रजाओं के साथ शीघ्रही नाश को प्राप्त होता है। श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है कि:—

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥

वर्णसङ्कर प्रजा होने से कुलनाशक और कुल दोनों कोही नरक होता है। उनके पितृलोग पिण्डोदक न पाने से पतित होते हैं। यह बात सभी लोग जानते हैं कि मनुष्यों के नीचे के जीवों में वर्णसङ्कर सृष्टि नहीं चलती है। अश्वतरी का गर्भ शास्त्र में प्रसिद्ध है। गधे और घोड़ो के सम्बन्ध से अश्वतरी होने पर उसको गर्भ नहीं होता है। कदाचित् हो भी तो प्रसव होना कठिन होता है और उसकी सृष्टि नहीं चलती है। इसी प्रकार वृक्षों में भी है। एक वृक्ष पर कलम बांधकर दूसरा जो वृक्ष होता है उसकी सृष्टि पूर्व दशा के अनुसार नहीं चलती है। यह दृष्टान्त मनुष्यों में घटता है। प्रायः वर्णसङ्कर जाति नष्ट होजाती है। या दूसरे वर्ण में मिल जाती है क्योंकि अप्राकृतिक सृष्टि होने से प्रकृति धारा के साथ उसका मेल नहीं रहता है, इसलिये ऐसी सृष्टि आगे नहीं चल सकती है। द्वितीय कारण श्रीभगवान् ने गीता जी में कहा है। श्राद्ध का विज्ञान आजकल लोग भूल रहे हैं। पाश्चात्त्य शिक्षा से बुद्धि स्थूल जगत् की ओर अधिक हो जाने से सूक्ष्म अतीन्द्रिय राज्य पर से विश्वास दिन बदिन नष्ट होता जाता है। श्राद्ध का पूर्ण विज्ञान आगे के किसी समुल्लास में बताया जायगा। अभी इतना ही समझना यथेष्ट होगा कि श्राद्ध में पुत्र की व निमन्त्रित ब्राह्मणों की मानसिक शक्ति और मन्त्रों की शक्ति द्वारा परलोकगत आत्मा की मूर्च्छित अवस्था नष्ट होकर उनका पुनर्जन्म हो जाता है, अन्यथा आत्मा को मूर्च्छित अवस्था में बहुत दिनतक

रहना पड़ता है। श्राद्ध में पुत्र की आत्मा के साथ मृत पिता या माता की आत्मा का सम्बन्ध करना पड़ता है। यह सम्बन्ध ठीक ठीक तभी बनसकता है जब एक ही वर्ण के माता-पिता से पुत्र उत्पन्न हो। अन्यथा बीज एक वर्ण का एवं रज और वर्ण का होने से जो पुत्र होता है उसकी आत्मा के साथ पिता या माता किसी का भी पूरा प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं रहता है, इसलिये वर्णसङ्कर प्रजा होने से पितरों का पिण्डलोप होकर उनकी अधोगति होती है, जैसा कि श्रीभगवान् ने ऊपर लिखित श्लोक से बताया है। और ऐसे पुत्रों से नित्य पितरों के लिये भी तर्पण आदि कार्य्य नहीं हो सकता है क्योंकि उसके लिये भी यह अप्राकृतिक वर्णसङ्कर प्रजा समर्थ नहीं होती है, जिसका फल यह होता है कि नित्य पितरों के संवर्द्धन के अभाव से देश में दुर्भिक्ष, महामारी आदि दुर्दशा होती है। पितरों के साथ स्थूल संसार की रक्षा का सम्बन्ध है इसलिये श्राद्ध तर्पण के लोप से देश का स्वास्थ्य बिगड़कर कठिन कठिन जातीय रोग फैलते हैं, जैसा कि आज-कल हो रहा है। इन्हीं सब कारणों से मनुजी ने ऊपर के श्लोक में लिखा है कि जिस राज्य में वर्णसङ्कर प्रजा होती है वह राज्य प्रजाओं के साथ शीघ्रही नष्ट होजाता है। इस प्रकार अप्राकृतिक वर्णसङ्कर की व्यवस्था की प्रतिक्रिया और जातियों में इतनी नहीं लग सकती है जितनी आर्य्यजाति में लगेगी, क्योंकि प्रतिक्रिया प्रकृति के उसी राज्य में पूरी लगती है जो राज्य उन्नत हुआ है और उन्नति जिस राज्य की जितनी होती है उसमें उतनीही प्रतिक्रिया लगती है। जहां स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों ही प्रकृति पूर्ण हैं वहां अप्राकृतिक व्यवस्था की प्रतिक्रिया तीनों ही राज्य में लगेगी। जहाँ इतनी पूर्णता नहीं हुई है वहाँ प्रतिक्रिया भी उतनी नहीं होगी। दृष्टान्तरूप से समझ सकते हैं कि एक कुत्ते को सौ गाली देने पर भी उसके चित्त में कोई दुःख अर्थात् प्रतिक्रिया नहीं होती है क्योंकि उसका चित्त या सूक्ष्म प्रकृति अभी उतनी उन्नत नहीं हुई है। उसको दस लाठी मारने पर स्थूल प्रकृति में कुछ प्रतिक्रिया होती है अर्थात् कुछ शारीरिक कष्ट उसको होता है; परन्तु किसी भद्र पुरुष को एक कठिन शब्दमात्र कहने से उनके चित्त पर ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि वे उसको जन्मभर तक नहीं भूलते हैं। ऐसाही समष्टि प्रकृति या जातीय प्रकृति के लिये भी समझना चाहिये। और देशों

की प्रकृति असम्पूर्ण है, वहीं पर स्थूल प्रकृति की उन्नति अधिक और सूक्ष्म राज्य की उन्नति कम है, इसलिये वर्णव्यवस्था का संस्कार उधर कम है या अपूर्ण है इस कारण वर्णव्यवस्था न होने से उनकी इतनी हानि नहीं होगी जितनी हानि आर्य्यजाति में वर्णव्यवस्था नष्ट होने पर होगी। किसी नवीन जाति को नवीन संस्कारों से उन्नत करना और है व किसी पुरुष जाति को जोकि प्राचीन संस्कारों से भरी हुई है उसको उन्नत करना और है। नवीन जाति नवीन संस्कारों से उन्नत हो सकती है; परन्तु जिस जाति के स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों ही शरीरों में प्राचीन संस्कार रग रग में, खून में, अस्थि में, मज्जा में घुसे हुए हैं, जो उन्हीं संस्कारों को लेकर उत्पन्न होती है, उसकी उन्नति उन्हीं संस्कारों के ही आश्रय से होसकती है; अन्यथा-उन संस्कारों को नष्ट करके; कभी नहीं हो सकती है। इसलिये जो नवीन सुधारक लोग वर्णव्यवस्था आदि आर्य्यजातीय संस्कारों को नष्ट करके आर्य्यजाति को पाश्चात्य आदर्श के अनुसार उन्नत करना चाहते हैं वे सर्व्वथा भ्रान्त और प्रमादग्रस्त हैं। वर्णव्यवस्था का संस्कार आर्य्यजाति की रग रग में घुसा हुआ है, वहाँ की प्रकृति पूर्ण होने से इसके अनुकूल है, आर्य्यजातीय जीवन के साथ वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध अच्छेद्यरूप से जकड़ गया है इसलिये आर्य्यजाति के जीते रहते वर्णव्यवस्था उड़ नहीं सकेगी। इसको कोई उड़ाने जायगा तो आर्य्यजाति ही उड़ जायगी। आर्य्य अनार्य्य हो जायँगे, हिन्दुत्व भ्रष्ट हो जायगा, इसके बदलने में दूसरी नवीन जाति बन जायगी। इसलिये वैसी युक्ति सर्वथा भ्रमयुक्त और अप्राकृतिक है। और अप्राकृतिक होने से ऐसा सुधार कभी नहीं चल सकता है। दृष्टान्तरूप से देख सकते हैं कि इसी आर्य्यजाति में बड़े बड़े सुधारक लोग कुछ वर्ष पहले उत्पन्न हुए थे, उन्होंने वर्णव्यवस्था को केवल कर्मानुसार मानकर अथवा उड़ाकर आर्य्यजाति में एकता उत्पन्न करने की इच्छा व चेष्टा की थी। उनका लक्ष्य एकता करने की ओर होने से, लक्ष्य अच्छा हो था परन्तु उस लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये वर्णव्यवस्था के उड़ादेने की युक्ति भ्रममूलक थी। उन्होंने आर्य्यजाति के मौलिकत्व पर ध्यान न देकर ही ऐसा किया था, इसलिये उसका फल भी विपरीत हुआ; अर्थात् उसमें एकता के बदले में

घोर अनैक्य व झगड़ा फैलगया और उनके मत के कुछ लोगों के पक्षपात करने से उनका और एक नवीन सम्प्रदाय बनगया जिसके साथ सदा ही आर्य्यजाति की लड़ाई चल पड़ी है। यही सब कुफल वर्णव्यवस्था नाश करने की चेष्टा से होने लग गया है जिससे आर्य्यजाति का भविष्य घोर अन्धकारमय हो रहा है। जब जब कोई ऐसा सोचेगा कि वर्णव्यवस्था के नष्ट करने पर देश में एकता होगी तब तब ऐसा ही साम्प्रदायिक विरोध फैल जायगा। वे स्वयं ही पृथक् हो जायँगे और अनन्त झगड़ों की सृष्टि करेंगे। इसलिये वर्णव्यवस्था को स्थायी रखकर ही आर्य्यजाति की उन्नति का उपाय सोचना चाहिये। अवश्य आजकल जो वर्णव्यवस्था और तदनुसार अन्धपरम्परा से खान पान व विवाह का आचार चल पड़ा है उसमें बहुत दोष हैं। जब संसार की स्थिति प्रकृति के त्रिगुण-वैषम्य से है तो जैसा कि पहले वर्णन किया गया है, सबका अधिकार समान नहीं हो सकता है। और जब ऐसा है तो स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर व कारण शरीर के विचार से भिन्न-भिन्न शक्ति सम्पन्न मनुष्य भी होंगे। जिस मनुष्य का स्थूल शरीर प्रकृति की निम्न कक्षा का है, उसमें बिजली की शक्ति, किसी उच्च कक्षा की प्रकृतिवाले मनुष्य से हीन होगी, इसलिये यदि उच्च कक्षा की प्रकृति के स्थूल शरीरवाले मनुष्य के साथ उसका भोजन या और किसी प्रकार का स्पर्श हो तो उसमें उच्च कक्षा की प्रकृति के स्थूल शरीर-वाले मनुष्य की हानि हो सकती है। इसलिये स्पर्शास्पर्श का विज्ञान सत्य है। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य की एक इन्द्रिय में हानि होने पर अन्य इन्द्रिय की शक्ति बढ़ जाती है, यथा—अन्ध मनुष्य में स्पर्शशक्ति बहुत बढ़ जाती है, उसी प्रकार वर्त्तमान समय में आर्य्यजाति की आध्यात्मिक शक्ति घट जाने से उसकी समस्त प्रतिक्रिया आधिभौतिक में आ गिरी है, जिसका फल यह हुआ है कि वर्ण की पूर्णता के लिये आवश्यकीय और सब गुणों को भूल कर केवल लोगों ने खान-पान में और छूत-छात में ही वर्णव्यवस्था को डाल दिया है, यह बात अवश्य ही दोषजनक है। जब गुणों के अनुसार मनुष्य की अवस्था ४ चार हैं और वे ही चार वर्ण हैं तो इन चारों में खान-पान व विवाह का विचार होने पर भी एक ही वर्ण में असङ्ख्य अवान्तर वर्णव्य-वस्था केवल देशाचार के द्वारा उत्पन्न होकर अशान्ति व असुविधा नहीं

होनी चाहिये । आजकल ब्राह्मणों में ही कितने भेद पड़ गये हैं जिससे विवाह व खान-पान में अनन्त झगड़े खड़े होगये हैं। ऐसा नहीं होना चाहिये । इसके लिये कोई शास्त्र प्रमाण नहीं है । अवश्य, यथार्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि है कि नहीं, इसका विचार होना चाहिये; परन्तु यथार्थ होने पर भी "मैं कान्यकुब्ज यदि हूँ, वह नहीं है, इसलिये खान पान नहीं होसकता, और कोई कान्यकुब्ज यदि कदाचारी हो तौ भी उसके साथ मेरा खान-पान आदि है एवं किसी गौड़ के सदाचारी होने पर भी उसके साथ मेरा खान पान नहीं है" इस प्रकार वैज्ञानिक भित्तिशून्य केवल देशाचारमूलक वर्णव्यवस्था ठीक नहीं है । इससे भारत की हानि होगी और हो भी रही है । इसके सुधार के विषय में सामाजिक नेताओं को दृष्टि डालनी चाहिये ।

वर्णव्यवस्था के विषय में सुधारक लोगों की और आपत्ति यह है कि इसके रहने से कोई जाति उन्नत नहीं करने पाती । इसने विद्योन्नति के रास्ते में भी बाधा डाल दी है । परस्पर में खान पान व विवाह न होने से एकता नहीं होगी जिससे आर्य्यजाति दिन बदिन गिरती जाती है और पारस्परिक विद्वेष बढ़ता जाता है । इसलिये साम्यवाद प्रचारित होकर वर्ण व्यवस्था नष्ट होनी चाहिये, जैसा कि यूरोप में है । इसीसे भारत की उन्नति होगी जैसी कि यूरोप की उन्नति वर्णव्यवस्था के न रहने से हुई है । अब नीचे इन सब शङ्काओं का समाधान किया जाता है ।

यदि वर्णव्यवस्था किसी की कपोलकल्पित अप्राकृतिक वस्तु होती तो सुधारक लोगों का इस प्रकार सन्देह सत्य होता, परन्तु जब गुणों के अर्थात् प्रकृति के अनुसार मनुष्यों के तीनों शरीर की उन्नति का क्रमही वर्णव्यवस्था है तो इससे किसी की उन्नति में हानि कैसे हो सकती है ? वर्ण धर्म्म, प्रत्येक वर्ण को तीनों शरीरों की उन्नति के लिये उतना ही कर्त्तव्य बताता है जितना उसके संस्कार के अनुकूल हो, क्योंकि ऐसा होने से उन्नति में कोई बाधा नहीं होगी, अन्यथा-संस्कार के विरुद्ध कार्य्य करना, साधारण मनुष्य का साध्य नहीं है । उसमें अनधिकार-चर्च्चा से अवनति भी होसकती है और कर्म्म करने में मनुष्य की स्वतन्त्रता रहने से असाधारण पुरुषार्थ द्वारा तीनों शरीरों को बदलकर एक ही जन्म में उच्च वर्ण भी प्राप्त कर सकता है, जैसा कि विश्वामित्र आदि ने किया था जिसको वर्णव्यवस्था असाधारण

नियम मानकर स्वीकार करती है, इस प्रकार जब दोनों ही सिद्धान्तों को वर्णव्यवस्था स्वीकर करती है तब उसपर यह लाञ्छन लगाना कि वर्ण-व्यवस्था उन्नति की बाधक है, यह सर्व्वथा मिथ्या है। अवश्य यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्राकृतिक स्थूल भाग को उड़ाकर, जन्म को न मानकर, स्थूल शरीर को उन्नत न करके, केवल कथञ्चित् सूक्ष्म शरीर की उन्नति से ही अपने को पूर्ण मानने की जो भ्रमपूर्ण कल्पना है, वर्णव्यवस्था उसकी विरोधिनी है, क्योंकि यह सिद्धान्त असत्य, अशास्त्रीय और विज्ञान-विरुद्ध है। इस विषय में पहले बहुत कुछ कहा जाचुका है अतः सुधारकों को ऐसे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये।

द्वितीय आपत्ति सुधारकों की यह है कि वर्णव्यवस्था ने सबको सब प्रकार की शिक्षा के अधिकार से वञ्चित कर रक्खा है। सुधारकों की यह धारणा भ्रमयुक्त है। मनुष्य प्रकृतिराज्य में विविध योनियों के भीतर से धीरे धीरे उन्नति को प्राप्त करता है। इसमें मनुष्य के स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों ही शरीर क्रमशः उन्नत होते हैं। उन तीनों की पूर्णोन्नति होने से ही ब्रह्म-ज्ञान की स्फूर्त्ति होती है। यही उन्नति का नियम है और इसीके अनुसार ही शिक्षा होनी चाहिये। क्योंकि शिक्षा के द्वारा यथार्थ लाभ व उन्नति तभी होसकती है जब शिक्षा स्थूल व सूक्ष्म शरीर के अनुकूल हो; अर्थात् शरीर, मन और बुद्धि जिस शिक्षा को ग्रहण करसके। जो शरीर मन या बुद्धि जितनी उन्नत होती है शिक्षा भी उसके अनुसार होनी चाहिये। दृष्टान्त-रूप से समझ सकते हैं कि जिस मनुष्य के लाख जन्म होचुके हैं और उसमें क्रमोन्नति हुई है, उसके स्थूल, सूक्ष्म शरीर के लिये जो शिक्षा उपयुक्त व कल्याणप्रद होगी, वह शिक्षा जिस मनुष्य के अभी हजार ही जन्म हुए हैं, उसके लिये उपयुक्त नहीं होसकती है, क्योंकि लाख जन्म तक बराबर तीनों शरीरों की क्रमोन्नति हजार जन्मों की अपेक्षा बहुत अधिक है। इस लिये यदि हजार जन्मवाले को लाख जन्मवाले की शिक्षा दी जाय तो स्थूल व सूक्ष्म शरीर अनुकूल अर्थात् उस शिक्षा को ग्रहण करने योग न होने से उस शिक्षा के द्वारा उन्नति के बदले अवनति ही होगी, क्योंकि प्रकृति के विरुद्ध वस्तु सदा ही अहितकर होती है और प्रकृति के अनुकूल वस्तु सदा ही कल्याणकर होती है। वर्णव्यवस्था जब त्रिगुणानुसार चार

प्रकृति की ही व्यवस्था है तो जिस प्रकृति में जो शिक्षा अनुकूल होगी, वर्णव्यवस्था उसी ही को बतावेगी । वर्णधर्म शूद्र के लिये जो शिक्षा बताता है वह शूद्र के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की योग्यता के विचार से ही बताता है । वेद पढ़ने का निषेध जो शूद्र के लिये किया गया है सो शूद्रयोनि में स्थूल और सूक्ष्मादि शरीर की प्रकृति के विचार से ही किया गया है, जैसा कि पहले कहा गया है । इसलिये वर्णधर्म्म ने विद्योन्नति को रोका नहीं, परन्तु अधिकारानुसार उसको नियमित कर दिया है जो कि प्रत्येक वर्ण के लिये कल्याणप्रद ही है, अकल्याणकर नहीं है और असाधारण नियम में तो सबका ही सभी वर्णों के कार्य्य करने में अधिकार है । इसलिये सुधारक लोगों का ऐसा विचार भ्रमपूर्ण है ।

तीसरी आपत्ति एकता व साम्यवाद विषय की है । इसमें भी सुधारक लोग भ्रम में हैं, क्योंकि जब तीन गुणों के वैषम्य से ही संसार बना है तो इसमें साम्य होना प्रकृति-विरुद्ध और कथनमात्र है । भले ही कोई जाति या सम्प्रदाय साम्यवाद का डिण्डिम बजाया करें, परन्तु यथार्थ विचार करने से ऊपर का विज्ञान ही सत्य मालूम होगा । यूरोप में जो एकता है वह जातिभेद के न रहने सेही है ऐसा विचार ठीक नहीं है । अगष्टकोम्टि का उपदेश इसमें साक्षी है । उन्होंने प्रकृति के तारतम्य को समझकर ही वर्णभेद का उपदेश किया था । जब तीन गुणों के राज्य में से होकर जीव को धीरे धीरे ऊपर को चढ़ना पड़ता है तो वैषम्य अवश्य रहेगा, इससे अधिकार-भेद भी अनिवार्य है । यूरोप में गुणानुसार या और बातों में तारतम्य रहने पर भी जातीयभाव पूर्ण होने से जाति वा देश के नाम से सभी एक होजाते हैं । यहाँ भी ऐसा होने को वर्णधर्म्म ने मना नहीं किया है, ऐसा होना चाहिये । यदि खान-पान आदि वर्णधर्म के अङ्गों को उड़ाकर कोई एकता उत्पन्न करना चाहे तो नहीं करसकता है, क्योंकि भारत की प्रकृति पूर्ण होने से इसके साथ वर्णधर्म्म का यावद्द्रव्यभावित्व सम्बन्ध है और अपूर्ण प्रकृतिवाले देशों में ऐसा नहीं है । इसलिये जब तक हिन्दुजाति जीवित है तब तक वर्णधर्म्म नष्ट नहीं होसकता है । ऐसा करने से और भी विद्वेष बढ़कर बहुत सम्प्रदाय उत्पन्न होजायँगे जिससे और भी अनैक्य फैलेगा क्योंकि ऐसा करना

प्रकृति-विरुद्ध कार्य्य है । अतः वर्णधर्म्मानुसार खान-पान पृथक् रहने पर भी जाति, देश व धर्म के कार्य्य में एकता करनी होगी । यही भारत के लिये योग्य है । मिथ्या साम्यवाद का जो विषमय फल है इसको आज यूरोप अनुभव कररहा है । और आर्य्य महर्षियों के विचार व दूरदर्शिता की प्रशंसा कर रहा है । यूरोप व अमेरिका में जो जीवनसंग्राम व अशान्ति इतनी बढ़ी हुई है उसके मूल में वही मिथ्या साम्यवाद है । यह बात सभी वैज्ञानिक लोग जानते हैं कि वासना से कर्म्म और कर्म्म से वासना उत्पन्न होती है । वासना के द्वारा मनुष्य के चित्त में अशान्ति उत्पन्न होती है । वासना का नाश ही शान्ति का कारण है । जिस जीवन में वासना का शेष नहीं उसमें शान्ति भी नहीं है । इसलिये कर्म्म की भी सीमा होनी चाहिये । अवश्य, वासना का पूर्ण अवसान ब्रह्मपद में जाकर होता है, तथापि अधिकार-विचार से प्रत्येक जीवन में भी कर्म्म की सीमा के साथ वासना की भी सीमा रहती है । कर्म्म पूर्व्व संस्कार के अनुसार होता है इसी से जीव की संसार में उन्नति होती है । उन्नति बीज-वृक्षन्याय से होती है; अर्थात् जैसा बीज में वृक्ष-उत्पन्नकारी समस्त उपादान रहता है, केवल वायु, जल, धूप आदि से बीज ही वृक्षरूप में परिणत होता है, उसमें नवीनता कुछ नहीं होती; उसी प्रकार पूर्व्व कर्म्म के अनुसार जिस प्रारब्ध संस्काररूपी बीज ने शरीर उत्पन्न किया है उसी संस्कार के अनुसार ही इसी जन्म में कार्य्य होता है । अवश्य, मनुष्य स्वतन्त्र होने से अपने कर्म्मों पर से उन्नति कर सकते हैं, परन्तु जिस प्रकार वट के बीज के साथ वायु, जल, धूप आदि ठीक ठीक होने से वट-बीज विशेष उत्तम वट-वृक्ष होने पर भी वट-वृक्ष ही बनेगा और किसी जाति का वृक्ष नहीं बन सकता है, उसी प्रकार मनुष्य स्वतन्त्रता से कर्म्म करने पर भी अपने संस्कारों पर ही उन्नति करेगा, उनको बदल कर कुछ से कुछ नहीं कर सकेगा । यह सब साधारण नियम की बात है । नियम साधारण प्रकृति के अनुसार ही होता है, साधारण प्रकृति के अनुसार नहीं होता है । इसलिये पूर्व्व संस्कारों पर कितनी उन्नति होसकती है उसको जान कर पुरुषार्थ की सीमा हो तो वासना के उसीके अनुसार सीमाबद्ध रहने से जीवन में शान्ति रहती है, अन्यथा जीवनसंग्राम बहुत बढ़कर जीवन

को अशान्ति के समुद्र में डाल देता है। अवश्य, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस प्रकार से पुरुषार्थ को सीमा होने से आलस्य बढ़ेगा और उन्नति का मार्ग बन्द होगा क्योंकि उन्नति उतनी हो होसकती है कि जितनी संस्कारों के अनुकूल हो। वट-बीज से वट-वृक्ष ही होता है, अधिक से अधिक पूर्णोन्नत और विशाल वट-वृक्ष बन जायगा, परन्तु वट-बीज से अश्वत्थ या बिल्व वृक्ष नहीं बनेगा। आर्य्य महर्षियों ने जीवों के प्राक्तन संस्कारों पर संयम करके ऐसी ही पुरुषार्थ को सीमा बाँध दी है जिससे प्रकृति के अनुसार उन्नति पूर्ण होसकती है और वासना की सीमा रहने से शान्ति रहती है। जिसमें ब्राह्मण का संस्कार है वह उसी को उन्नत करके पूर्ण ब्राह्मण बन सकता है, उसको क्षत्रिय का संस्कार कहीं से खींचने की आवश्यकता नहीं है और न उसमें पूर्णरूप से वह संस्कार आ सकता है, इसलिये ब्राह्मणपन तक ही उसके संस्कार या वासना का अन्त है जिससे उसमें उसीसे शान्ति रहती है। इस प्रकार जिसमें सत्वरजःप्रकृति होने से क्षत्रिय का संकार है वह उसीको पूर्ण उन्नत करके पूर्ण क्षत्रिय बन सकता है, उस को ब्राह्मण वैश्य या शूद्र के संस्कारों के लिये मत्था कूटने का प्रयोजन नहीं है। पूर्ण क्षत्रिय पर्य्यन्त ही उसकी वासना की पूर्त्ति है इसलिये वहीं ही उसको शान्ति है। इस प्रकार प्रकृति के अनुसार व संस्कारों के अनुसार वर्णभेद व कर्त्तव्यभेद होने से हर एक मनुष्य को अपने-अपने वर्ण में पूर्णत्व लाभ करने का अवसर भी प्रकृत्यनुसार मिलता है। भारतवर्ष में पहले ऐसा ही था जिससे जातिभेद होते हुए भी यहां पर सभी प्रकार की उन्नति व एकता थी। अब वर्णधर्म की भ्रष्टता होने से सब खिचड़ी बनगई है, जिससे न तो ब्राह्मण ही पूर्ण मिलते हैं और न और कोई वर्ण पूरे देखने में आते हैं। एक दूसरे वर्ण के कार्य्य पर हस्ताक्षेप करके अनधिकार चर्चा के कारण न इधर के और न उधर के, "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" हो रहे हैं। आज इसलिये ब्राह्मणों की वह तपस्या नहीं है, क्षत्रियों की वह वीरता नहीं है, वैश्यों के शिल्प और वाणिज्य के प्रभाव से भारत धनधान्यपूर्ण नहीं होता है एवं शूद्रों की सेवा से सुफल नहीं फलता है। भारत की उन्नति होगी तो इसी प्रकार से होगी अन्यथा उन्नति कभी नहीं होसकती है। इसी प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धान्त पर ही महर्षियों ने प्रत्येक

वर्ण के लिये पुरुषार्थ का विभाग (Division of labour) करदिया है जिससे जातीय जीवन की उन्नति के लिये ज्ञान, बल, धन व दक्षता, सभी बात की पूर्णता व प्रकृत्यनुसार पुरुषार्थ की पराकाष्ठा होकर जाति दिन बदिन शान्ति व उन्नति के शिखर पर पहुँचे। यही प्राचीन आर्य्यजाति की वर्णव्यवस्था का विज्ञान है। जो लोग केवल एकसाथ भोजन में ही जाति की एकता व उन्नति समझते हैं और इसी कारण वर्णव्यवस्था को निन्दनीय समझते हैं उसको स्मरण रहना चाहिये कि प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था पूर्णरीत्या रहने पर भी आर्य्यजाति ने सभी प्रकार की उन्नति की थी और इसमें एकताभाव भी पूरा पूरा था। एकता केवल खान-पान के एक होने से ही नहीं होती है, यदि ऐसा होता तो ब्राह्मण ब्राह्मण में या क्षत्रिय क्षत्रिय में अर्थात् जिन के खान पान में अब भी एकता है उनकी आपस में लड़ाई नहीं होती और उनकी एकता से भारत का कल्याण होजाता। प्रकृति से विरुद्ध किसी उपाय के द्वारा एकता उत्पन्न करने का प्रयत्न करने से कभी भी एकता नहीं होगी। एकता हृदय की वस्तु है इसलिये जब आर्य्यजाति अपने देश व धर्म की उन्नति के लिये एकता की क्या महिमा व आवश्यकता है इसको समझेगी तभी एकता होगी। उस समय खान पान की पृथकता उसको रोक नहीं सकेगी और खानपान का कुछ भी प्रभाव जातीयता पर धक्का देसकता है। आर्य्य-जाति बहुत वर्षों से पराधीन होने के कारण अपनी जातीयता को भूल गई है और इसी से ही वह एकता की महिमा को भी कुछ नहीं समझती है। इससे यही सिद्ध हुआ कि वर्णव्यवस्था का नष्ट करना ही एकता का कारण नहीं हो सकता है, बल्कि इससे हानि है क्योंकि पूर्व सिद्धान्त के अनुसार संसार में लघुशक्ति व गुरुशक्ति का होना प्राकृतिक होने से गुरुशक्ति के साथ लघुशक्ति का मेल या एकता लघु-गुरु-बुद्धि से ही हो सकती है, खान पान के बराबर करने से नहीं हो सकती है. इसी से ही गुरु-शक्ति पर श्रद्धा, भक्ति और उसमें नेतृत्वशक्ति स्थायी रह सकती है। वर्ण-व्यवस्था के नष्ट होने से मिथ्या साम्यवाद प्रचारित होकर गुरुशक्ति का विचार नष्ट हो जायगा, गुरुशक्ति की प्रतिष्ठा व उसमें श्रद्धा भक्ति नष्ट हो जायगी जिसके फल से संसार में अत्यन्त विशृंखलता, निरंकुशता व अ-शान्ति फैल जायगी, कोई किसी को नहीं मानेगा, प्रजा राजाको नहीं

मानेगी, पुत्र पिता को नहीं मानेगा, शिष्य गुरु को नहीं मानेगा, इस प्रकार सभी नष्ट-भ्रष्ट होकर संसार में घोर अत्याचार फैल जायगा इसमें सन्देह नहीं है। फ्रान्स देश में इसी मिथ्या साम्यवाद के फल से घोर राष्ट्रविप्लव कई बार हुआ था और उनको अन्त में इस साम्यवाद को छोड़कर नैपोलियन की शक्ति को प्रधान मानना पड़ा था एवं इसी देश में कुछ दिनों तक शान्ति रही थी। इसी प्रकार के उदाहरण और देशों के इतिहासों में भी देख सकते हैं। जो लोग ऐसा विचार करते हैं कि वर्णव्यवस्था के न रहने से परस्पर में प्रीति बढ़ेगी, उनका विचार सम्पूर्ण भ्रमयुक्त है क्योंकि जब प्रत्येक मनुष्य की उन्नति संस्कार के अनुसार ही होती है तो संस्कार के पृथक् पृथक् होने से उन्नति में भी तारतम्य होता है। स्कूल और कॉलेजों में प्रायः देखा जाता है कि कोई लड़का दिन भर परिश्रम करके भी कुछ नहीं कर सकता है और किसी की बुद्धि ऐसी तीक्ष्ण होती है कि सामान्य परिश्रम से ही कॉलेज में प्रथम श्रेणी में गिना जाता है। संसार में भी ऐसा ही देखने में आता है। किसी को किसी विभाग में सामान्य परिश्रम से ही विशेष उन्नति व अर्थ-प्राप्ति होती है और किसी की विशेष परिश्रम से भी सामान्य उन्नति तक नहीं होती है। यह सब पूर्व संस्कार का ही कारण है। लिखा भी है कि :—

पूर्व्वजन्माऽर्ज्जिता विद्या पूर्व्वजन्माऽर्ज्जितं धनम् ।
पूर्व्वजन्माऽर्ज्जितं पुण्यमग्रे धावति धावति ॥

पूर्व्वजन्मार्जित विद्या, धन व पुण्य शीघ्र फल को देता है। इसलिये संस्कार के अनुसार उन्नति में प्रभेद रहेगा ही। इसीके अनुसारही वर्ण-व्यवस्था की विधि निर्देश की गई है; अर्थात् पूर्व्वसंस्कार के अनुसार इस जन्म के पुरुषार्थ में कितनी उन्नति साधारण रीति से हो सकती है उसीको देखकर महर्षियों ने प्रत्येक जाति के लिए पृथक् पृथक् कर्मनिर्देश किया है। वर्णव्यवस्था के नष्ट होने से कर्म्म की पृथक्ता भी नष्ट होगी जिस से सामान्य संस्कारवाला मनुष्य भी हठ से उच्च संस्कारवाले के सदृश कर्म्म करके उसका प्रतिद्वन्द्वी बनने का प्रयत्न करेगा, परन्तु उसका संस्कार दुर्बल होने से उससे प्रतिद्वन्द्विता ठीक नहीं चलेगी क्योंकि अच्छे पूर्व-

संस्कारवाले शीघ्र उन्नति करेंगे जिससे फल यह होगा कि छोटे अधिकार के मनुष्य बड़े से बराबरी करने में असमर्थ होकर उनसे द्वेष करने लगेंगे, प्रेम के बदले परस्पर में घोर ईर्षा फैल जायगी, इसी ईर्षाबुद्धि से लोग गुणी का भी सम्मान करना छोड़देंगे, जाति में दोषदर्शिता बढ़जायगी, गुणी पुरुष को किसी तरह से गिराने की और उसकी महिमा व प्रतिष्ठा नष्ट करने की चेष्टा करेंगे और गुणी पुरुष पर ऐसा अत्याचार करने से देश में गुणी पुरुष उत्पन्न नहीं होंगे, क्योंकि यह अकाट्य सिद्धान्त है कि जिस देश में गुण की कदर नहीं होती है वहाँ गुणिगण कम उत्पन्न होते हैं और गुणी नेता उत्पन्न नहीं होते। यही सब परिणाम आर्य्यजाति में वर्णव्यवस्था नष्ट होने से अवश्य होंगे। यही सब परिणाम आज कल आर्य्यजाति में प्रकट हुए हैं। केवल जाति में हो नहीं अपितु वर्णव्यवस्था के नष्ट होने से घर घर में इसप्रकार की अशान्ति फैलेगी क्योंकि शान्ति समान प्रकृति में ही सम्भव होती है। जिस स्त्री की स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर की प्रकृति पति के तीनों शरीर की प्रकृति के साथ मिलीहुई होती है उसीसे प्रेम पूर्ण होसकता है और इसी प्रकार के विवाह के फल से संसार शान्तिमय व पुत्र कन्या भी अनुकूल उत्पन्न होसकते हैं। यदि पति की प्रकृति कुछ हो और स्त्री की प्रकृति और कुछ हो तो पुत्र भी प्रतिकूल प्रकृति के अवश्य होते हैं जिससे संसार में सर्वदा अशान्ति व अप्रेम बना रहता है। वर्णव्यवस्था के नष्ट होने से प्रकृति का विचार भी नष्ट होजायगा जिससे योग्य पिता के भी अयोग्य पुत्र उत्पन्न होंगे और धार्मिक पति की भी अधार्म्मिक स्त्री होगी जिससे संसार घोर श्मशानरूप में परिणत होगा। यही सब वर्णव्यवस्था के नाश का जातिध्वंसकर फल है जिसको विचारवान् पुरुष सोचकर देख सकते हैं और एक एक विषय को मिला सकते हैं।

(२) दूसरी बात विचार करने की यह है कि केवल कर्म्म से वर्णव्यवस्था मानी जाय तो हानि या लाभ क्या है ? इससे लोग यह बात सोचते हैं कि केवल इसी जन्म के कर्म्म की उन्नति के अनुसार उच्च-नीच वर्ण माना जाय तो सभी मनुष्यों के चित्त में उत्तम कर्म्म करने की इच्छा होगी जिससे जाति व धर्म्म की उन्नति होगी। कर्म्म को ऊंचा बनाकर जाति व धर्म्म की उन्नति की कल्पना अच्छी है परन्तु थोड़े विचार से ही

सिद्धान्त होगा कि केवल कर्म्म से जाति मानने पर ठीक ऐसी ही दुर्दशा होगी जैसी कि वर्णव्यवस्था के नष्ट होने से दुर्दशा पहले वर्णन की गई है; अर्थात् जन्म को छोड़ केवल कर्म्म से जाति मानना और वर्णधर्म्म को उड़ाना दोनों एक ही बात है। इसका कारण आगे दिखाया जाता है।

प्रकृति त्रिगुणमयी होने से कर्म्म भी तीन गुण के होते हैं। जिस प्रारब्ध संस्कार से मनुष्य का जन्म होता है उसमें भी इसीलिये सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, इन तीन प्रकार के कर्म्म-संस्कार रहते हैं और और युगों के देश, काल और प्रकार के होने से कर्म्मों में प्रायः एक ही गुण प्रबल होता था क्योंकि उस समय धर्म्म की गम्भीरता थी जिससे लोग एक ही धर्म्माङ्ग को निभाया करते थे। अब तमःप्रधान कलियुग में तमोगुण का प्रभाव देशकाल पर बहुत पड़ा हुआ है जिससे प्रारब्ध संस्कारों में मिश्र कर्म्म होते हैं; अर्थात् सात्त्विक; राजसिक, तामसिक ये तीन ही प्रकार के संस्कार होते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व्व में लिखा है कि:—

बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाऽशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते ॥

बाल्य, यौवन या वार्द्धक्य, जिस जिस अवस्था में जो जो पाप-पुण्यकर्म्म किया जाय उस उस कर्म्म का फल उसी उसी अवस्था में मिलता है; इस लिये भिन्न भिन्न अवस्था में भिन्न भिन्न पाप-पुण्यकर्म्मों के भोग होने से कोई नहीं कहसकता है कि किसका कर्म्म कब किस प्रकार का होगा। जब सात्त्विकसंस्कार का उदय होगा तो मनुष्य सात्त्विक कर्म्म करेंगे, जब रजोमिश्रित सात्त्विक संस्कार का उदय होगा तब वैसा ही कर्म्म करेंगे, जब रजोमिश्रित तामसिक संस्कार का उदय होगा तब वैसा ही कर्म्म करेंगे और तमोगुणी संस्कार के उदय होने से तामसिक कर्म्म करेंगे। कलियुग में ऐसी अवस्था का परिवर्त्तन प्रायः होता है। इससे महान् सात्त्विक पुरुष भी कुछ दिनों के बाद प्रकृति के बदलने से राजसिक या तामसिक देखने में आते हैं। तामसिक लोग भी कभी-कभी सात्त्विक कर्म्म कर डालते हैं और परम साधु भी भूल से खराब कर्म्म करडालते हैं। सुचरित्र पुरुष भी कुछ दिनों के बाद कुचरित्र देखनेमें आते हैं और महापापी भी अवस्था के परि-

वर्त्तन से परम साधु बन जाते हैं। एक मनुष्य के जीवन में तीन-चार प्रकार की दशा भी दिखाई देने लगती है। कभी सात्त्विक, कभी रजोमिश्रित सात्त्विक, कभी तमोमिश्र राजसिक, कभी राजसिक और कभी तामसिक आदि अनेक दशाएं मनुष्य के एक ही जन्म में होती हैं। ऐसा दशा का परिवर्त्तन पूर्व संस्कारों में त्रिगुण के तारतम्यानुसार होता है। जिस समय जिस गुणमय संस्कार की भोगदशा आती है उस समय वैसी प्रकृति बन जाती है। यही प्रारब्ध संस्कारों के भोगों के क्रमानुसार प्रकृतिपरिवर्त्तन का रहस्य है। मनुष्य स्वतन्त्र होने से अवश्य दशा को कुछ बदल सकता है तो भी जो कुछ बदल करेगा उसीमें भी पूर्व संस्कारों के प्रबल रहने से संस्कारों के अनुसार ही बदल होगा जिससे कुछ परिवर्त्तन होने पर भी साधारण अवस्था में पूरा परिवर्त्तन कभी नहीं हो सकेगा। और यदि पूर्व संस्कारों को माना भी न जाय एवं देश, काल और सङ्ग का प्रभाव सोचा जाय तो भी प्रकृति के त्रिगुणमयी होने से और देश- काल व सङ्ग विभिन्न प्रकार के होने से मनुष्य की प्रकृति जन्म से मरणपर्य्यन्त एकसी कभी नहीं रहसकती है, बदल अवश्य होगा और तदनुसार कर्म्म भी जीवन की सब दशा में एक से नहीं होंगे। अतः यदि कर्म्म के अनुसार ही जाति हो तो एक मनुष्य एक ही जन्म में बीस बार बीस प्रकार की जाति का बनसकता है क्योंकि कर्म के परिवर्त्तन का ठिकाना ही क्या है। आज तामसिक कर्म करते ही शूद्र हो गया, कल देश-उद्धार के जोश में आकर क्षत्रिय बनगया, परसों थोड़ा सा ध्यान व अध्ययन अध्यापन करते ही ब्राह्मण बनने लगपड़ा, पुनः कुछ दिन बाद अर्थक्लेश होने से यदि कुछ व्यापार का कार्य करे तो उसी वक्त वैश्य बन जायगा क्योंकि मनुजी ने आपद्धर्म्म में ऐसी ही आज्ञा की है। इसी प्रकार पुनः कर्मों के बदलने से कभी ब्राह्मण; कभी क्षत्रिय, कभी कुछ, कभी कुछ, बनसकता है। केवल इतना ही नहीं, इस प्रकार कर्म के असुसार जाति होने से प्रत्येक गृहस्थ में कितने वर्ण बन जायँगे, इसको विचारवन् पुरुष सोच सकते हैं। यथा—किसी कर्मानुसार बनेहुए ब्राह्मण ने एक कर्मानुसार बनी हुई ब्राह्मणकन्या से विवाह किया, परन्तु कर्म की गति तो भगवान् ही जानते हैं, यदि ऐसा होजाय कि कुछ दिनों के बाद उस ब्राह्मण के कर्म या तो प्रारब्ध के विपाक से या कुसङ्ग से या काल प्रभाव

आदि से बिगड़कर शूद्र, क्षत्रिय या वैश्यवत् होजायं तो उस समय उस ब्राह्मणी को चाहिये कि अपने पति को छोड़कर और किसी कर्म्मानुसार बने हुए ब्राह्मणपति से विवाह करे और पहले पति को घर से निकालदे क्योंकि सवर्ण में शादी करना मनुजी ने लिखा है। पुनः क्या ठिकाना है कि वही दूसरा पति कुछ दिनों के बाद कर्म्म बिगड़ने से दूसरे वर्ण का नहीं होजायगा। इस प्रकार कितने पति एक स्त्री के होंगे सो विचार कर सकते हैं। इससे गृहस्थाश्रम की क्या दुर्दशा होगी और उसमें कितनी अशान्ति, अत्याचार और लड़ाई फैलेगी एवं सती-धर्म के मूल में किस प्रकार कुठाराघात होगा सामान्य बुद्धिमान् भी विचार कर सकते हैं। और यदि वह ब्राह्मणी अपने कर्म्म से पतित शूद्र या वैश्यपति को त्याग न करे और उसी से सम्बन्ध रक्खे तो प्रतिलोम सम्बन्ध हो जायगा और उससे कैसी जाति बनेगी सो मनुजी ने लिखा है कि:—

आयोगवश्च क्षत्ता च चाण्डालश्चाऽधमो नृणाम्।
प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः॥
चाण्डालश्वपचानान्तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः।
अपपात्राश्च कर्त्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम्।
वासांसि मृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्।
कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः॥

शूद्र से प्रतिलोम सम्बन्ध के द्वारा वैश्या क्षत्रिया और ब्राह्मणी स्त्री में उत्पन्न सन्तान यथाक्रम आयोगव, क्षत्ता और चाण्डाल, इन तीन जातियों की होती हैं। पितृकार्य्य अर्थात् श्राद्धादि में इन जातियों का कोई अधिकार नहीं है इसका कारण पहले ही कहा गया है। चाण्डाल व श्वपच जाति का वासस्थान ग्राम के बाहर होना चाहिये। इनको पात्ररहित करना चहिये। कुत्ते और गधे इनका धन है। शव के वस्त्र पहनना, टूटेपात्र में भोजन करना, लोहे के अलङ्कार धारण करना और सर्व्वत्र घूमना इनका कार्य्य है। कर्म्मानुसार जाति होने से ऐसे चाण्डाल बहुतसे गृहस्थों के घर में उत्पन्न होंगे जिनके लिये कार्य्य भी मनुजी ने बताया है सो ऊपर लिखे

गये हैं । इससे घरों की क्या दशा होगी सो प्रत्येक मनुष्य सोच सकता है । उन सन्तानों का श्राद्धादि किसी कार्य्य में अधिकार न होने से मृत पितरों को नरक होगा और यदि जीवित का ही श्राद्ध हो तौ भी उनका अधिकार मनुजी के विधान के अनुसार पिता-माता की सेवा करने का नहीं होगा । पिता के वृद्ध होने पर या माता के वृद्धा होने पर भी पुत्र का उनकी सेवा में अधिकार नहीं होगा इसलिये माता-पिता उनके भूखे मरेंगे । यही गृहस्थाश्रम की दशा होगी । द्वितीयतः यदि पति ब्राह्मण रहजाय और स्त्री कर्म्म से च्युत हो शूद्रप्रकृति की होजाय तो शूद्रा के साथ ब्राह्मण को सम्बन्ध रखना पड़ेगा या उसे त्याग देना पड़ेगा । यदि उससे सम्बन्ध ही रहा तो ब्राह्मण अधोगति को प्राप्त होगा क्योंकि मनुजी ने लिखा है कि:—

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥
दैवपित्र्याऽऽतिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।
नाऽश्नन्ति पितृदेवास्तान्न च स्वर्गं स गच्छति ॥
वृषलीफेनपीतस्य निश्वासोपहतस्य च ।
तस्याञ्चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥

शूद्रागमन करने से ब्राह्मण की अधोगति होती है और उसमें पुत्रोत्पादन करने से ब्राह्मणत्व नष्ट होता है । जिस द्विज के दैव, पित्र्य व आतिथेय कर्म्मों में शूद्रा प्रधान होती है उनके हव्य कव्य देवता व पितृगण नहीं लेते हैं और उनको आतिथ्यकर्म्म के द्वारा स्वर्ग भी नहीं मिलसकता है । शूद्रा के अधररस को पान करनेवाले, उसके निश्वास के लेनेवाले और उसमें पुत्रोत्पादन करनेवाले, द्विज की निष्कृति नहीं है । यही दशा मनुजी के सिद्धान्तानुसार उस ब्राह्मण की होगी और वर्णसङ्कर उत्पन्न होगा जिसके लिये श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है कि:—

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥

सङ्करप्रजा से कुलनाश, सबको नरक और पितरों का पतन, सभी होता है। एवं मनुजी ने भी सङ्करप्रजा से राज्यनाश और प्रजानाश लिखा है सो ऊपर बताया हो गया है। यही सब कर्म्मानुसार जाति मानने का फल है। इसका और एक विषमय फल यह होगा कि इससे गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, भक्ति और सदाचारादि सभी नष्ट होजायंगे। "उन्नति करना सभी का लक्ष्य है और इसीलिये कर्म्मानुसार वर्णव्यवस्था है" इस सिद्धान्त के अनुसार किसी पिता ने अपने पुत्र को गुरुकुल या आचार्य्य-कुल किसीमें भी विद्याभ्यास करने के लिये भेजदिया, पिताजी वृद्ध हैं, धन न होने से सांसारिक असुविधाओं से या और किसी कारण से वे अधिक विद्यालाभ नहीं करसके थे, सामान्य पढ़े हुए हैं जिससे कर्म्मानुसार वैश्य या क्षत्रिय बनने के लिये जितनी योग्यता चाहिये सो उनको प्राप्त ही है, अब बुढ़ापे में अधिक विद्या या योग्यता आना असम्भव है, इसलिये पिताजी तो वैश्य या क्षत्रिय ही कर्म्मानुसार रहेंगे, बदल नहीं सकते, परन्तु उनके पुत्रसाहब विद्यालय में बहुत विद्या पढ़कर ब्राह्मण की योग्यता प्राप्त कर प्रमाण पत्र (Certificate) लेकर घर लौटे हैं, तब तो कर्म्मानुसार पुत्र ब्राह्मण बनगये और एक कर्म्मानुसार बनीहुई ब्राह्मणी उनकी स्त्री भी होगई। अब पिता वैश्य, पुत्र ब्राह्मण शायद माता भी वैश्या, इस दशा में पिता पुत्र का क्या सम्बन्ध होगा और किस प्रकार का व्यवहार आपस में होगा सो विचार्य्य है। यदि शास्त्र माना जाय तो वैश्यपिता को उस ब्राह्मणपुत्र का प्रणाम करना मना होना उचित है, उस कारण पिताजी का ही कर्त्तव्य होगा कि प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल पुत्र को प्रणाम करे, उसके सामने हाथ जोड़ें और उसकी आज्ञा का पालन करे। माता का भी यही कर्त्तव्य होगा कि पुत्रवधू और पुत्र की चरणवन्दना करे इत्यादि इत्यादि सब करने होंगे क्योंकि शास्त्र में ब्राह्मण ब्राह्मणी के प्रति अन्य वर्णों का यही कर्त्तव्य बताया गया है। इस प्रकार की वर्णव्यवस्था का यही फल होगा कि संसार में गुरुजनों के प्रति जो श्रद्धा है वह नष्ट होजायगी और संसार श्मशानरूप होगा क्योंकि जिस संसार में पुत्र पिता को नहीं मानता है, माता पर श्रद्धा नहीं करता है वह संसार नहीं है, श्मशान है। मनुजी ने कहा है कि :—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि सम्प्रवर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

वृद्धों की सेवा और उनको अभिवादन जो लोग करते हैं उनकी आयु, यश, बल व विद्या बढ़ती है कर्म्मानुसार जाति मानने से घरमें वृद्धसेवा नहीं रहेगी क्योंकि ब्राह्मणपुत्र अन्य वर्ण के वृद्ध पिता को प्रणाम नहीं कर सकते हैं। इससे पुत्र अल्पायु होंगे, दुर्बल होंगे, मूर्ख होंगे और यशो-हीन होंगे। निष्कर्ष यह है कि कर्म्मानुसार वर्णव्यवस्था मानना और वर्ण-व्यवस्था को उड़ा देना दोनों ही बराबर होगा। इससे वर्णव्यवस्था उड़ा देने पर जितना अनर्थ होना पहले कहा जा चुका है, कर्म्मानुसार वर्ण-मानने से उतना ही अनर्थ होगा। यथा—उन्नति की सीमा संस्कारों के अनु-सार न रहने से अशान्ति और परस्पर में ईर्षा, द्वेष सभी फैल जायँगे, वर्ण सङ्कर उत्पन्न होकर श्राद्ध व तर्पण बन्द होने से देश में स्वास्थ्यनाश और दुर्भिक्षादि होगा एवं कुल, राज्य, देश, सब उत्सन्न होजायँगें इत्यादि इत्यादि जो कुछ पहले कहा जा चुका है सो सभी होगा। यही सब केवल इस जन्मीय कर्म्म से वर्ण मानने का विषमय फल है। मनुसंहिता में ऐसे बहुत श्लोक मिलते हैं जिनसे जन्म से वर्णव्यवस्था स्थापित होती है। यथाः—

नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥
माङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥
गर्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्व्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥

जात बालक का नामकरण जन्म से दशम दिन या द्वादश दिन में करना चाहिये, अथवा पुण्य तिथि मुहूर्त्त या शुभ नक्षत्र में करना चाहिये। ब्राह्मण का नाम मङ्गलवाचक, क्षत्रिय का बलवाचक, वैश्य का धनवाचक व शूद्र का दीनतावाचक होना चाहिये। गर्भ के आरम्भकाल से अष्टम वर्ष में ब्राह्मण का, एकादश वर्ष में क्षत्रिय का व द्वादश वर्ष में वैश्य का उपनयन

होना चाहिये । इन सब श्लोकों में स्पष्टतया जन्म से ब्राह्मणादि जाति मानी गई है, अन्यथा नामकरण, उपनयन आदि की विधि ऐसी नहीं बताई जासकती है क्योंकि कर्म्मानुसार वर्ण होने से दसवें दिन में नामकरण कैसे होगा । जब विद्या पढ़कर गुण-कर्म्म ठीक हों तभी ब्राह्मण है या क्या है इसका पता चलेगा और तभी नामकरण होगा और इसी प्रकार पढ़ जाने के बाद ही वर्ण ठीक करके तब उपनयन होना चाहिये, परन्तु मनुजी ने अन्य प्रकार से लिखा है इससे केवल कर्म्मानुसार वर्ण व्यवस्था में शास्त्र का विरोध पाया जाता है । और यदि इन श्लोकों में "ब्राह्मणशब्द" का अर्थ "ब्राह्मणकुमार" समझा जाय जैसा कि कोई कोई सुधारक कहा करते हैं तो भी कर्म्मानुसार वर्णव्यवस्था में इस प्रकार का अर्थ असम्बद्ध होगा क्योंकि ब्राह्मणकुमार कहकर पिता का सम्बन्ध कहना बिना जन्म से जाति माने सिद्ध नहीं होसकता है क्योंकि उनके विचारानुसार जाति के सम्बन्ध से ब्राह्मण पिता का स्थायी सम्बन्ध अपने पुत्र के साथ रह ही नहीं सकता है क्योंकि उनके विचार से बालकमात्र को ही शूद्र संज्ञा है । और दूसरी बात यह है कि यदि प्रमाद से ऐसे विचारों को न समझकर किसी द्विजबालक का पिता के वर्णानुसार उपनयन संस्कार कर दिया जाय तो यदि पीछे से वह लड़का मूर्ख निकला तो पुनः सुधारकों के सिद्धान्तानुसार शूद्र होजायगा । इस प्रकार से उसका उपनयन संस्कार व्यर्थ हो जायगा और यदि दूसरे वर्ण का होजाय तो उसका उपनयन संस्कार पलटना पड़ेगा जिससे समाज में बड़ी भारी हलचल फैल जायगी । अतः वर्णव्यवस्था के इस प्रकार के नियम के चलने पर आर्य्यजाति अनार्य हो-जायगी और वर्णव्यवस्था के यथार्थ सिद्धान्त का नाममात्र भी नहीं रहेगा । इस कारण ऐसी केवल कर्म्मानुसार वर्णव्यवस्था सर्व्वथा मिथ्या है और इससे आर्य्यजाति को बहुत ही हानि है ।

(२) जन्म व कर्म्म, दोनों के अनुसार ही वर्णव्यवस्था का जो विज्ञान पहले बताया गया है वही आर्य्यजाति के लिये सर्व्वथा प्रकृति के अनुकूल व परम लाभदायक है इसमें कोई भी सन्देह नहीं है क्योंकि जब प्रकृति के अनुकूल चलना ही धर्म्म है और धर्म्म के द्वारा अभ्युदय व निःश्रेयस प्राप्त होता है तो जन्म और कर्म्म दोनों के अनुसार वर्णव्यवस्था आर्य्यजाति

की प्रकृति के अनुकूल होने से इसके द्वारा आर्य्यजाति सकल प्रकार की उन्नति को प्राप्त करेगी। वर्णव्यवस्था के नष्ट करने से या केवल कर्म्मानुसार मानने से जितना अनर्थ व अमङ्गल होना पहले बताया गया है, जन्म व कर्म्म दोनों के अनुसार वर्णव्यवस्था मानने से वर्णसङ्कर की उत्पत्ति नहीं होगी और उसका जो विषमय फल पहले बताया गया है सो आर्य्यजाति को भोगना नहीं पड़ेगा। अपने अधिकार के मूल में पूर्व्व संस्कारों को मनुष्य समझेंगे तो कर्म्म में विभिन्नता रहने पर भी देश व धर्म्म की उन्नति के लिये सब समाजों के मनुष्य भिन्न-भिन्न अङ्गरूप से सम्मिलित होसकेंगे और एकता नष्ट होकर कदापि देश की हानि नहीं होगी। पूर्व्व संस्कारों के अनुसार कितनी उन्नति कर्म्म से हो सक्ती है इसको जानकर श्रमविभाग (Division of labour) व उन्नति की सीमा प्रत्येक वर्ण में होने से मनुष्य अपने संस्कारानुसार प्रत्येक वर्ण में पूर्णोन्नति कर दिखावेंगे जिससे देश भर में ज्ञान की पूर्णोन्नति, विद्या की पूर्णोन्नति, शौर्य्य और विर्य्य की पूर्णोन्नति, शिल्पकलाकौशल की पूर्णोन्नति, वाणिज्य की पूर्णोन्नति व धन धान्य की पूर्णोन्नति होगी। एक वर्ण अन्य वर्ण का कर्म्म अभ्यास करने के लिये यत्न करने से संस्कारविरुद्ध होकर जो न इधर के, न उधर के बने रहते थे जिससे किसी भी ओर उन्नति पूरी देखने में नहीं आती थी और जिसके फल से घोर अशान्ति फैलती थी व जीवनसंग्राम बढ़ता था सो नष्ट होकर शान्ति रहेगी संस्कारों के तारतम्य रहने पर भी मिथ्या साम्यवाद के फल से जो राग-द्वेष व पारस्परिक विरोध की सम्भावना थी सो नष्ट होकर प्रेम बढ़ेगा। संस्कारों के अनुसार लघुशक्ति व गुरुशक्ति का सम्बन्धज्ञान रहने से जो श्रद्धा-भक्ति आदि महद्गुण आर्य्यजाति में हैं सो अटूट रहकर देश व धर्म्म का उन्नतिसाधन करेगा। स्त्री पुरुष का सम्बन्ध पूर्व्व संस्कारों के अनुसार जन्म व कर्म्म विचार से होने पर दाम्पत्य प्रेम, संसार में शान्ति व आत्मानुरूप पुत्र-कन्या की उत्पत्ति होगी। स्त्री थोड़ीसी गुणवती होते ही अथवा पुत्र थोड़ासा विद्यालाभ करते ही पिता माता पर अश्रद्धा और उनका तिरस्कार नहीं करेंगे, इससे मर्य्यादा की प्रतिष्ठा व वृद्धसेवा पूर्णतया स्थापित होकर जातीय आयु, विद्या, यश व

बल की प्राप्ति होगी । प्रत्येक वर्ण में बड़े बड़े धुरन्धर पुरुष उत्पन्न होकर भारत को पुनः प्राचीन आदर्श पर प्रतिष्ठित करेंगे । इससे और एक विशेष फल होगा जो बताया जाता है । मनुसंहिता में लिखा है कि:—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥

धन, आत्मीय सम्बन्ध, वयःक्रम, कर्म्म व विद्या, ये पांच क्रमशः अधिक माननीय हैं । यथा—धनी से आत्मीय अधिक माननीय है और उनसे भी अधिक वयस्क अधिक माननीय है इत्यादि । इन सब माननीय पदार्थों में से देशकालानुसार किसी-किसीका प्राधान्य रहता है । यथा—किसी देश काल में धनीलोग ही अधिक प्रतिष्ठित कहलाते हैं, किसीमें विद्वान व पण्डितलोग और किसीमें धार्म्मिक व ज्ञानी लोग अधिक सम्मान के पात्र होते हैं । इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशकाल में किसी एक वस्तु की प्रधानता व औरकी गौणता होजाती है । केवल कर्म्मानुसार वर्णव्यवस्था होने से देश-काल के अनुसार उसी कर्म्म से प्रधानतः सम्मान होगा या उसी वस्तु का आदर अधिक होगा जो उस देश काल में राजा प्रजा के सम्बन्ध से अथवा और किसी सम्बन्ध से अधिक मानीजाय, इससे जातीय मौलिकता पर आघात पहुँच सकता है । एक दृष्टान्त देकर इस विषय को समझाया जाता है । आर्य्यजाति का गौरव ज्ञान से है । अनादिकाल से इस जाति ने ज्ञानराज्य में उन्नति करतेहुए संसार में प्रतिष्ठा पाई है और यही मनुष्य जीवन का सार लक्ष्य है कि आत्मा को जानकर मोक्षलाभ करें और विषयों में बद्ध न हों । आर्य्यजाति में इसी वस्तु का गौरव है । यदि यही आध्यात्मिकभाव आर्य्यजाति से नष्ट होजाय तो आर्य्यत्व नष्ट होजायगा और जातीय जीवन का अधःपतन होगा । केवल आर्य्यजाति ही नहीं, जिस किसी देश में जब धर्म्म को छोड़कर अर्थ व भोग पर दृष्टि पड़ी है, वही देश रसातल को गया है । ग्रीस में विलासबुद्धि बढ़ने से ग्रीस का पतन हुआ था । रोम में विलासबुद्धि बढ़ने से रोम का पतन हुआ था । आर्य्य-जाति का भी पतन उसी समय से प्रारम्भ हुआ है जबसे इस जाति ने अपने प्राचीन ऋषिजीवनसुलभ आध्यात्मिक भाव को छोड़कर विषयावि-

लास में मत्त होना सीखा है और तभीसे विलास की वृद्धि के साथ अभाव की वृद्धि और जीवनसंग्राम बढ़ गया है। चाहे राजा-प्रजा सम्बन्ध से ही कहिये या चाहे आर्य्यजाति के प्रारब्ध के अनुसार ही कहिये आजकल यहां का देशकाल वैश्यत्वप्रधान है। इसलिए विद्या आदि से अर्थ का गौरव आजकल अधिक होने लग गया है। तमःप्रधान कलियुग में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। केवल कर्म्म के अनुसार जाति मानने से फल यह होगा कि जितना ही कोई शम, दम आदि से ब्राह्मण्य, शौर्य्य तेज आदि से क्षत्रियत्व इत्यादि चातुर्व्वर्ण्य के कर्म्मों का प्रचार करे; तथापि काल का प्रभाव दुरत्यय है, इस कारण वैश्यत्व के काल में धन की ही पूजा अधिक होगी। भूखे पण्डित ब्राह्मण से धनी वैश्य अधिक प्रतिष्ठित समझे जायँगे, जैसा कि पश्चिम देश में होता है। फल यह होगा कि आर्य्यजाति की जातीयता जो धर्म्म व ज्ञान पर प्रतिष्ठित है सो दिन व दिन नष्ट होती चली जायगी, सभी लोग धर्म्म व ज्ञानप्रदा विद्या को छोड़कर अर्थकारी विद्या के लाभ के लिये प्रयत्न करेंगे। कर्म्मानुसार वर्णव्यवस्था का यह विषमय फल होगा और ऐसा देखा भी जाता है। आज कल संस्कृत भाषा जो मृतभाषा कहलाती है, शास्त्र का या अध्यात्मविद्या का जो आदर नहीं है एवं सायन्स (पदार्थविद्या) या पाश्चात्य और विद्याओं की जो प्रतिष्ठा बढ़ने लगी है इसका कारण केवल वैश्यत्वमय काल का प्रभाव ही है। आजकल बीस वर्ष तक समस्त संस्कृतविद्या को लाभ करने पर भी उसे कोई नहीं पूछता, वह भूखों मरता है और दो पत्र अंग्रेजी पढ़ने से ही सभ्य और विद्वान् कहलाते हैं एवं उन्हें धन भी बहुत मिलता है। यह सब अर्थकरी विद्या का ही फल है। आर्य्यजाति की दृष्टि प्राचीन भाव पर से हट गई है। अर्थलोभ व विषयवासना बढ़ गई है। कर्म्मानुसार जातिव्यवस्था कालप्रभाव से आर्य्यजाति में इस भाव को और भी बढ़ावेगी एवं आध्यात्मिकभाव को भुलाकर नास्तिकता को फैलावेगी जिससे आर्य्यत्व नष्ट होकर अनार्य्यत्व प्राप्त होगा। इसका और भी एक खराब फल यह होगा जो कि आज पश्चिम देश में होरहा है। धर्म्म व ज्ञान को छोड़कर अर्थ पर दृष्टि अधिक होने और आत्मा पर से दृष्टि हटा स्थूल शरीर को ही सर्व्वस्व समझने से वासना बढ़ेगी इससे अशान्ति और लड़ाई फैलेगी, जीवन-

संग्राम बढ़ेगा; अभाव बढ़ जायगा, सन्तोष नष्ट होजायगा; आत्मभाव नष्ट होकर पशुभाव बढ़ जायगा और संसार घोर अशान्ति का स्थान हो जायगा। प्राचीन महर्षियों का जो शान्तिमय जीवन था सो नष्ट होकर दुःख व अशान्ति का दावानल आर्य्यजाति के हृदय में निशिदिन प्रज्वलित हो आर्य्यजाति को नष्ट करदेगा। जन्म व कर्म्म दोनों के अनुसार वर्णव्यवस्था रहने से केवल वैश्यत्व पर ही मनुष्यों की दृष्टि नहीं जायगी क्योंकि उसमें प्रारब्ध संस्कारों के प्राधान्य के अनुसार शरीर का भी पार्थक्य माना जायगा और उसके अनुसार उन्नति का भी प्रकारभेद होगा। केवल धन की उन्नति नहीं कहलावेगी। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, सब प्रकार की उन्नति पर ही दृष्टि रहेगी, श्रमविभाग व कार्य्यविभाग पूर्व्वसंस्कारों के सम्बन्ध से होने से ज्ञान व धर्म्म पर से दृष्टि नहीं हटेगी। प्रत्येक वर्ण का पृथक् पृथक् कर्म्मनिर्देश जन्म के अनुसार ही होने से प्रथम अवस्था से ही ब्राह्मणों की दृष्टि शम, दम, तपस्या और ज्ञान की ओर, क्षत्रियों की दृष्टि वीरता की ओर, वैश्यों की दृष्टि धनधान्य की ओर और शूद्रों की दृष्टि सेवा की ओर अग्रसर होगी जिसका फल यह होगा कि आध्यात्मिक भाव आर्य्यजातीय जीवन में अटूट रहेगा, वीरता पूर्ण रहेगी और वाणिज्य शिल्पकलादि के प्रचार से सुख व समृद्धि भी पूर्ण रहेगी। इन सब विचारों से स्पष्ट समझ में आता है कि जन्म व कर्म्म दोनोंके अनुसार वर्णव्यवस्था ही आर्य्यजाति के लिये अनन्त कल्याण की देनेवाली है।

कोई कोई विचारशील गुणकर्म्मसम्बन्धीय जातिविज्ञान पर सन्देह करते हैं और कहते हैं कि शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि गुण व कर्म्म से जाति का विभाग होता है। जैसा कि गीता में :—

चातुर्व्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः।

गुण और कर्म्म के विभाग से चार वर्ण की सृष्टि की गई है। इस सिद्धान्त का तात्पर्य्य यह है कि गुण का आधार शरीर है इस कारण स्थूल शरीर के परिवर्त्तन के विना गुण का परिवर्त्तन नहीं हो सकता है; सत्त्व, रज और तमोगुण जैसा जिस शरीर में पूर्व्वकर्म्मानुसार प्रकट होता है सो ही मनुष्यों के कर्म्म करने की भित्ति है। पूर्व्व संस्कारों की प्राप्ति सूक्ष्म

शरीर में होकर स्थूल शरीर के द्वारा मनुष्य को होती है। इस कारण जबतक मनुष्य के स्थूल शरीर के परमाणुओं का परिवर्त्तन न हो तबतक सत्त्व, रज और तमोगुणों का कदापि परिवर्त्तन नहीं हो सक्ता है। हाँ मनुष्य बाल्यावस्था से विशेष-विशेष कर्म्मों का अभ्यास करने से विशेष-विशेष कार्य्यकुशलता को प्राप्त कर सक्ता है; परन्तु जबतक गुण और कर्म्म दोनों का परिवर्त्तन न हो तबतक एक ही मनुष्य एक जाति से दूसरी जाति में नहीं पहुँच सक्ता है। अतः गुणकर्म्म से जाति की उत्पत्ति मानने पर जन्म से जाति का सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। यही गुणकर्म्म-विचार से वर्णव्यवस्था का वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

वर्णव्यवस्था का आदर्श दिखाया गया है। स्थूल, सूक्ष्म व कारण प्रकृति के साथ वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध बताया गया है और सिद्धान्त किया गया है कि जीव प्राक्तन सात्त्विक, राजसिक सात्त्विक, तामसिक राजसिक और तामसिक कर्म्मानुसार ही चतुर्व्वर्ण को प्राप्त करते हैं। प्राक्तन कर्म्मों से ही धीरे धीरे स्थूल, सूक्ष्म व कारण तीनों शरीरों की पूर्णता साधन करते हुए मुक्तिपद प्राप्त होते हैं इसलिये वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध तीनों ही शरीरों से है। तीनों हो की पूर्णता से प्रत्येक वर्ण की पूर्णता होती है। जो वर्ण प्रकृति के जिस अधिकार में है उसके स्थूल, सूक्ष्म व कारण इन तीनों ही शरीरों की उन्नति उसी अधिकार के अनुकूल होना प्राकृतिक है और उसीमें ही उस वर्ण की पूर्णता हो सकती है, अन्यथा–प्रकृति के किसी अङ्ग को छोड़ने से, नहीं होगी। जन्म से, कर्म्म से और ज्ञान से पूर्ण होने पर तभी पूर्ण ब्राह्मण, पूर्ण क्षत्रिय, पूर्ण वैश्य व पूर्ण शूद्र कहला सकते हैं। अब इस आदर्श को वर्त्तमान देशकाल के साथ मिलाकर वर्त्तमान देशकाल में वर्णव्यवस्था का आदर्श किस प्रकार से निभ सकता है जिससे देशकाल में भी विरुद्ध न हो और आदर्श भी भ्रष्ट न होजाय इसका विचार किया जाता है क्योंकि जो विधि देश काल के विरुद्ध है वह सत्य धर्म्म नहीं है। जब प्राक्तन कर्म्मानुसार ही मनुष्य की स्थूल, सूक्ष्म व कारण प्रकृति बनती है तो इस जन्म का कर्म्म भी चारों वर्ण का ऐसा ही होना चाहिए जैसी कि उनकी प्रकृति है। यदि शूद्र की तीनों शरीर की प्रकृति तमःप्रधान है तो साधारण रीति से शूद्र में और वर्णों के सदृश कर्म्मशक्ति नहीं होनी चाहिये

और यदि ब्राह्मण के तीनों शरीरों की प्रकृति सत्त्वप्रधान है तो उसमें और वर्णों के सदृश प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये । परन्तु क्या कारण है कि शूद्र में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिकों के सदृश असाधारण कर्म्मशक्ति व योग्यता देखने में आती है और ब्राह्मण में भी इतर वर्णों के सदृश नीच कर्म्मों में प्रवृत्ति देखने में आती है । आजकल जो वर्णव्यवस्था के विषय में इतना सन्देह बढ़ गया है कि वर्ण जन्मानुसार है या कर्म्मानुसार है या है कि नहीं ? ऐसे प्रश्न होते हैं, इन सबों का कारण केवल प्रत्येक वर्ण में शास्त्रानुसार, कर्म्मानुष्ठान न होना ही है । यदि ब्राह्मण अपने कर्मों पर प्रतिष्ठित रहते, अब्राह्मण, नीच या शूद्र की तरह आचरण न करते तो कदापि इस प्रकार सन्देह नहीं होता और न जन्म को उड़ाने की इच्छा ही किसीकी होती । मनुष्य कर्म्मों से भ्रष्ट होगये हैं, कोई वर्ण अपने कर्म्मानुसार आचरण नहीं करते तभी "जन्म से जाति का सम्बन्ध है" इस विषय में इतना सन्देह उत्पन्न होगया है । प्राचीन काल में जब चारों ही वर्ण अपने-अपने कर्म्मों पर प्रतिष्ठित थे इससे इस प्रकार का सन्देह कभी नहीं उत्पन्न होता था । अब विचार करना चाहिये कि इस प्रकार चारों वर्णों में कर्म्मभ्रष्टता या विपरीतकर्म्म का कारण क्या है और विपरीत लक्षणों से होने से वर्त्तमान देश-काल में वर्णव्यवस्था का आदर्श किस प्रकार से स्थिर रह सकता है ।

आजकल जो इतर वर्णों में भी उच्च वर्णों के गुण, कर्म्म, स्वभाव पाये जाते हैं और ब्राह्मण आदि उच्च वर्ण भी बहुधा अपने-अपने आचरण से गिर गये हैं जिसमें तीन कारण हैं । यथा—वर्णसङ्करता, आरूढपतन और मिश्रसंस्कार । नीचे तीनों का विस्तृत वर्णन किया जाता है ।

कलियुग तमःप्रधान है, पाप का स्त्रोत प्रबल वेग से बह रहा है, स्त्रियोंमें शिक्षा के अभाव से या दोषों से व और अनेक कारणों से पातिव्रत्य धर्म्म का ह्रास हो गया है, पुरुषों में भी विषयबुद्धि बढ़ने से परदारगमन प्रवृत्ति बहुधा देखने में आती है, इन सब कारणों से वर्णसङ्कर प्रजा बहुत उत्पन्न हो गई है और इसी से कर्म्मसंकरता भी फैल गई है । दृष्टान्तरूप से समझ सकते हैं कि कोई कुलस्त्री ब्राह्मणी छुपकर किसी शूद्र उपपति से सम्बन्ध कर पुत्र

उत्पन्न करे तो वह पुत्र पूरे ब्राह्मण के गुण कर्म्म कैसे प्राप्त करेगा ? विषय गुप्त होने से किसीको मालूम नहीं हुआ, वह सन्तान ब्राह्मण ही कहलाने लगी, परन्तु उसके बहुत कर्म्म ब्राह्मण की तरह के होंगे और अनेक कर्म्म शूद्र की तरह के होंगे। उसी प्रकार शूद्रा में भी ब्राह्मण से व्यभिचार के द्वारा उत्पन्न सन्तान साधारण शूद्र से और प्रकार का कर्म्म करेगी। उस में कुछ ब्राह्मण का भी कर्म्म दिखाई देगा। कलि के प्रभाव से आजकल ऐसा बहुत होगया है जिससे नालायक ब्राह्मण भी मिलते हैं और अच्छे शूद्र भी मिलते हैं।

द्वितीय कारण का नाम आरूढपतन है। कर्म्मों का भोग संस्कारों की प्रबलता के अनुसार होता है। मनुष्य अपने जीवन में कई प्रकार के कर्म्म करते हैं। त्रिगुणमयी माया के राज्य में सात्त्विक, राजसिक, तामसिक ऐसे बहुत प्रकार के कर्म्म होजाते हैं, उनमें से जो कर्म्म सबसे बलवान् होता है वही प्रारब्ध पहले फल देता है श्रीभगवान् ने गीता में लिखा है कि:—

ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

सात्त्विक कर्म्मों से स्वर्गादिलोक-प्राप्ति, राजसिक कर्म्मों से पृथ्वीलोक में ही मनुष्यादिरूप से जन्म और नीच तामसिक कर्म्मों से अधोलोकों में जन्म या पश्वादि नीच योनी प्राप्त होती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई मनुष्य ऐसे अनेक कर्म्म करे जिनसे उसको स्वर्ग मिलना चाहिये, ऐसे अनेक कर्म्म करे जिनसे उनको पृथिवी में ही मनुष्यजन्म मिलना चाहिये और ऐसे अनेक कर्म्म करे जिससे उसको नीच पशुयोनी प्राप्त होना चाहिये तो इन तीनों प्रकार के कर्म्मों में से जो कर्म्म सब से बलवान् होंगे वे ही उसकी मृत्यु के समय प्रारब्ध कर्म्म बनकर चित्ताकाश को आश्रय करेंगे और उन्हींके अनुसार उसका जन्म होगा। गीता में लिखा है कि:—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥

मृत्यु के समय साधारणतः सूक्ष्म शरीर दुर्ब्बल होजाता है, इसलिये

दुर्बल सूक्ष्म शरीर को वे ही कर्म्म आश्रय करते हैं जो कि सबोंसे बलवान् होते हैं और जीव उसी भाव में भावित होकर वैसी ही योनि को प्राप्त करता है। इससे यह सिद्धान्त निकलेगा कि यदि कोई मनुष्य अन्य कर्म्म अच्छे करने पर भी कुछ कर्म्म मन्द करे और वे कर्म्म प्रबलतम हों तो उन मन्द कर्म्मों का भोग पहले होगा। यथा–किसी ब्राम्हण ने ब्राम्हणों के सदृश अच्छे कर्म्म अनेक किये, किन्तु मोहवशात् कुछ कर्म्म शूद्रों के सदृश भी कर दिये और वे कर्म्म और अच्छे कर्म्मों से प्रबल हुए तो मरते समय वे शूद्रों के सदृश किये हुए कर्म्म ही उसका प्रारब्ध बनकर वे शूद्रशरीर उत्पन्न करेंगे। वह शूद्र के घर में उत्पन्न होगा और इन शूद्रसदृश कर्म्मों के भोग के बाद यदि ब्राम्हणसदृश कर्म्म जो पहले किये हुए थे वे ही प्रबल हों तो पुनर्जन्म ब्राम्हण का होगा; परन्तु इस प्रकार शूद्र माता-पिता के द्वारा शूद्रशरीर मिलने पर भी पूर्व्वजन्म में ब्राम्हणसदृश कर्म्म भी अनेक किये थे इससे और उन सब अच्छे कर्म्मों का संस्कार उसके कर्म्माशय में रहने के कारण वह साधारण शूद्र से अनेक प्रकार से उन्नत होगा क्योंकि उसके कर्म्माशय में स्थित ब्राम्हण्य कर्म्म का प्रभाव अवश्य ही उसके चित्त पर पड़ेगा। वह शरीर से शूद्र है परन्तु भाव व आचार से ब्राह्मण के सदृश होगा। श्रीमद्भागवत में जड़भरत का पूर्व्व जन्म का वृत्तान्त जो लिखा है वह जन्म इसी प्रकार के आरूढपतन के कारण से हुआ था। महाराजा भरत बहुत तपस्या करने पर भी मरने के कुछ दिन पहले एक मृग में इतने आसक्त होगये थे कि उसीको स्मरण करते करते मरे और मृगयोनि को प्राप्त हुए, परन्तु वे अन्य साधारण मृगों से बहुत ऊँचे थे क्योंकि तपस्या का संस्कार चित्त में था। इसी प्रकार महाराणा प्रताप का चेतक नामक घोड़ा या और भी कुत्ते आदिकों में समय-समय पर असाधारण बातें जो देखने में आती हैं और मनुष्यों में भी जो इतर वर्णों में कभी कभी उच्चवर्ग की तरह शक्ति व गुण कर्म्म स्वभाव देखने में आते हैं उन सबोंका यही उपर्युक्त रहस्य है; अर्थात् ये ही अब आरूढपतन के दृष्टान्त हैं। वे सब पहले जन्म में उच्चवर्ण के थे, परन्तु कुछ प्रबल कर्म्म नीच वर्ण की तरह कर दिया था जिसका प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ने से स्थूल शरीर नीच मिला है; परन्तु चित्त में उच्चसंस्कार और प्रकार के

रहने से आचार व कर्म्म उच्च वर्ण की तरह बहुत-सा दिखाई देता है। जिस प्रकार भरत राजा मृगयोनि के बाद ही पुनः पूर्व्वतपस्या के फल से भरत ऋषि बनगये थे; उसीप्रकार वे लोग भी मन्द कर्म्म का भोग नीच योनि में समाप्त होने पर आगामी जन्म में कर्म्माशयस्थित अन्य उच्च कर्म्म के कारण अच्छी योनि प्राप्त करेंगे। कलियुग तमःप्रधान है। देश-काल व सङ्ग इसमें बहुत विरुद्ध है इसलिये कलियुग में अच्छे मनुष्यों से भी बहुत बुरे कर्म्म हो जाते हैं अतः कलियुग में इसप्रकार आरूढपतन होने की बहुत ही सम्भावना हैं। यही कर्म्मसङ्करता का दूसरा कारण है।

कर्म्मसङ्करता का तीसरा कारण मिश्रसंस्कार है। प्रकृति के त्रिगुणमयी होने से मनुष्यों के सब कर्म्म सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, इन तीन भागों में विभक्त होते हैं। अन्य युगों में जब भाव की गम्भीरता थी तब मनुष्यों में प्रायः एक ही गुण के कर्म्म प्रबल होते थे, अन्य गुण दबे रहते थे इसलिये कर्म्मों की प्राकृतिक गति प्रायः एकसी होती थी व मनुष्य भी प्रायः एक ही ढंग की प्रकृति के होते थे; परन्तु कलियुग में भाव की गम्भीरता कम होने से और देश काल का प्रभाव मनुष्य-प्रकृतिपर पड़ने से कर्म्मसंस्कार कलियुग में प्रायः तीनों गुणों के मिले-जुले होते हैं। सात्त्विकसंस्कार के साथ भी राजसिक-तामसिक कर्म्मोंके संस्कार होते हैं। इसी प्रकार तामसिक मनुष्य में भी और दो गुणों के कर्म्म देखने में आते हैं; अर्थात् मिश्रसंस्कारयुक्त मनुष्य प्रायः इस युग में उत्पन्न होते हैं। पुनः मिश्रसंस्कार भी दो प्रकार के होते हैं, एक स्थूलशरीर द्वारा भोगे जानेवाले कर्म्मसंस्कार और दूसरे सूक्ष्मशरीर में ही भोगे जानेवाले कर्म्मसंस्कार। शरीर के द्वारा अनुष्ठित कर्म्म का फल शरीर के द्वारा ही भोग होता है और मन के द्वारा अनुष्ठित कर्म्म का फल मन में ही हुआ करता है। यथा पाप या पुण्य-चिन्ता का फल मन में ही दुःख या सुखरूप से प्राप्त होता है और व्यभिचार, हत्या या धर्म्म के लिये शरीर उत्सर्ग करना रूप कर्म्मों का फल स्थूलशरीर के द्वारा ही भोग होता है। अतः सात्त्विक, राजसिक व तामसिक इन तीनों ही प्रकार के कर्म्मों में से जो कर्म्म स्थूलशरीर के द्वारा भोगने लायक हैं उन्हीं कर्म्मों के वेग से पिता-माता द्वारा स्थूलशरीर मिलता है और जो कर्म्म सूक्ष्मशरीर द्वारा भोगने लायक हैं उन्हीं के

अनुसार चित्तवृत्ति होती है। मनुष्य इन तीनों प्रकार के कर्म्मानुसार ही जन्म से जन्मान्तर को प्राप्त होते हैं और तदनुसार ही शरीर व चित्तवृत्ति बनती है। दृष्टान्त दिया जाता है कि यदि किसी मनुष्य के मिश्रकर्म्मों में से स्थूलशरीर में भोग होने लायक कर्म्म सात्त्विक हों परन्तु सूक्ष्मशरीर में भोग होने लायक कर्म्म तामसिक हों तो उसका स्थूलशरीर ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होगा किन्तु उसका बहुतसा आचरण तामसिक शूद्र की तरह होगा। इसी प्रकार यदि किसीके स्थूलशरीर में भोग होने लायक कर्म्म तामसिक हों परन्तु सूक्ष्मशरीर में भोग होने लायक कर्म्म सात्त्विक हों तो उसका जन्म शूद्र माता पिता से होगा किन्तु उसका बहुतसा आचरण सात्त्विक ब्राह्मण की तरह होगा। आजकल कलियुग के प्रभाव से मिश्र-कर्म्मवाले लोग बहुत होते हैं इसलिये इतर वर्णों में भी अच्छे आचरण करनेवाले लोग देखने में आते हैं और उच्च वर्णों में भी नीच आचरण करनेवाले लोग मिलते हैं।

आजकल चारों वर्णों में कर्म्मसंकरता के ये ही उपर्य्युक्त कारण हैं जिन के कारण इतना सन्देह व गड़बड़ मच गया है। अब इस प्रकार वर्णसंकर व कर्म्मसंकरमय कलियुग में एक ही उपाय है जिससे वर्णव्यवस्था के आदर्श को पूर्ण रखतेहुए भी देशकालानुसार व्यवस्था हो सकती है। आदर्श वर्णव्यवस्था की बीजरक्षा अवश्य ही करनी होगी क्योंकि बीजरक्षा न होने से अनुकूल देश-काल में पुनः वर्णधर्म्म की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो सकेगी और ऐसा न होने से अर्थात् वर्णव्यवस्था नष्ट हो जाने से आर्य्यजाति की किस प्रकार सत्ता नाश होगी सो पहले कहा गया है। और साथ ही साथ देश-काल पर भी ध्यान रखना कर्त्तव्य है क्योंकि ऐसा करना प्राकृतिक व धर्म्मानुकूल है। इसलिये यही उपाय अब होना चाहिये कि एक वर्ण के साथ अन्य वर्ण का जो द्वेष या घृणाभाव विद्यमान है उसको दूर करके जिस वर्ण के मनुष्य में जिस शरीर की श्रेष्ठता देखी जाय उसीका योग्य सम्मान करना चाहिये और उसको ऐसा ही अधिकार देना चाहिये। जिस का स्थूलशरीर शुद्ध अर्थात् उच्च वर्ण का है उससे स्थूलशरीर सम्बन्धीय कार्य्य उच्च वर्ण से लेने योग्य जो हो सो लेना चाहिये। ऐसा ही जिस किसी का सूक्ष्मशरीर उन्नत है उससे सूक्ष्मशरीरविषयक उन्नत कार्य्य कराना

चाहिये । उसका स्थूलशरीर निकृष्ट होने पर भी सूक्ष्मशरीर के विचार से ऐसा ही करना चाहिये । दृष्टान्तरूप से समझ सकते हैं कि पूर्व्वकथित कारणों के अनुसार यदि कोई ब्राह्मण स्थूलशरीर सम्बन्ध से ब्राह्मण हो परन्तु उसका मन बुद्धि आदि सूक्ष्मशरीर का भाव नीच हो अर्थात् वह निर्बुद्धि या विषयासक्त हो तो उसके साथ बैठकर ब्राह्मण भोजन कर सकता है या उससे भोजन बनवाकर खासकता है क्योंकि भोजन करना या बनवाना स्थूलशरीर से ही सम्बन्ध रखता है । अवश्य यह भी विचार रक्खा जाय कि वह मनुष्य छिपाहुआ वर्णसङ्कर न हो क्योंकि वर्णसङ्कर होने से उसके हाथ का अन्न भी नहीं खासकते हैं । और न एक पङ्क्ति में भोजन होसकता है। परन्तु उसका सूक्ष्मशरीर जब खराब है अर्थात् ब्राह्मण के सदृश चरित्र या बुद्धि नहीं है तो उसके साथ बैठकर शास्त्रविचार नहीं कर सकते हैं या शास्त्र व उपासना व ज्ञानसम्बन्धीय कार्य्य उससे नहीं करा सकते हैं क्योंकि ये सब कार्य्य सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध रखते हैं । उसको श्राद्ध में भोजन नही करा सकते हैं क्योंकि शास्त्र में शक्तिमान् या विद्वान् ब्राह्मण को खिलाने की आज्ञा है जिससे वह ब्राह्मण भोजन से तृप्त होकर अपनी शक्ति के द्वारा मृत आत्मा का कल्याण कर सके । परन्तु उस नाममात्र ब्राह्मण में जब यह शक्ति नहीं है तो श्राद्ध में उसको खिलाने से कोई फल नहीं है और मनुजी ने भी ऐसा ही लिखा है । ठीक इसीप्रकार यदि कोई शूद्र भी सूक्ष्मशरीर से अच्छा हो तो उससे शास्त्र व विद्यासम्बन्धीय कार्य्य ले सकते हैं क्योंकि ऐसा विचार केवल सूक्ष्मशरीर से ही सम्बन्ध रखता है । परन्तु उसके साथ एक पंक्ति में बैठकर द्विज लोग भोजन नहीं कर सकते हैं और न उसके हाथ का अन्न ही खासकते हैं क्योंकि उसका स्थूलशरीर पूर्व्व कहे हुए कारणों में से किसीके द्वारा शूद्र का होगया है इस लिये स्थूल शरीर से अपूर्ण है अतः स्थूल स्पर्श-दोष का सम्बन्ध अवश्य है इस कारण स्थूल शरीर का कार्य्य उससे ब्राह्मण नहीं ले सकते । और वह स्थूलशरीर से शूद्र परन्तु सूक्ष्मशरीर से ज्ञानीपुरुष यदि यथार्थज्ञानी व विचारवान् होगा तो ऐसा करना भी नहीं चाहेगा क्योंकि जब कर्म्म के वैचित्र्य से उसको यह इतर योनि प्राप्त हुई है जिससे प्रमाण होता है कि पूर्व्व जन्म में और कर्म्म उन्नत होने पर भी कुछ स्थूलशरीरसम्बन्धीय कर्म्म उसके खराब

थे जिसके स्थूलशरीर शूद्र माता-पिता से उत्पन्न हुआ है तो उसका कर्त्तव्य है कि पूर्व्वकर्म्म का भोग स्थूल अंश में ऐसा ही निभाया करे और सूक्ष्मशरीर से उन्नत आचरण करे जिससे आगामी जन्म में उसको स्थूल शरीर भी उन्नत वर्ण का प्राप्त होजाय। उसको वर्णव्यवस्था के प्राकृतिक सिद्धान्त पर धक्का नहीं देना चाहिये क्योंकि ऐसा करना अज्ञान का कार्य्य होगा; परञ्च यथावत् स्थूल सूक्ष्म शरीर के विचार से जिस शरीर में जितनी योग्यता है उस शरीर से उसी प्रकार का कार्य्य करना चाहिये। प्राचीन महर्षियों ने इसी प्रकार के धर्म्म का ही पालन किया है। यथा-समस्त ऋषि शूद्र सूत के मुख से पुराणों को सुनते थे क्योंकि सूत शूद्र होने पर भी ज्ञानी थे; परन्तु उनके साथ ऋषियों ने स्थूलशरीर का कोई व्यवहार नहीं किया। मनुजी ने भी नीच वर्ण से विद्या सीखने को कहा है परन्तु उससे स्थूल व्यवहार करने को नहीं कहा है। यही सत्य सिद्धान्त है। कोई शूद्रशरीरधारी यदि ज्ञानी व सच्चरित्र हो तो ज्ञान का विषय सिखा सकता है परन्तु वेद के मन्त्रभाग पढ़ने-पढ़ाने का उसको कोई अधिकार नहीं होगा क्योंकि वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के साथ स्थूलशरीर का सम्बन्ध है सो उसका स्थूलशरीर शूद्र होनेसे अपूर्ण व वेदोच्चारण के योग्य नहीं है। और वह यथार्थज्ञानी होगा तो ऐसा करेगा भी नहीं क्योंकि ऐसा करना अज्ञान है। यही सब वर्त्तमान देश काल में वर्णव्यवस्था के आदर्श को रखकर उन्नत करने की युक्ति है। किसी वर्ण के प्रति घृणा न कीजाय, किसीकी उन्नति में बाधा न दीजाय, जिसका जो शरीर जिस अधिकार का है उसके उस शरीर की उन्नति उसी अधिकार के अनुसार की जाय, स्थूलशरीर की उन्नति उसीके अधिकार व योग्यतानुसार और सूक्ष्मशरीर की उन्नति उसीकी शक्ति के अनुसार कीजाय एवं सबका सम्मान अधिकारानुसार किया जाय, तभी यथार्थ में भारतवर्ष की उन्नति होगी और इस घोर कलियुग में वर्णव्यवस्था की बीजरक्षा होगी।

तृतीय समुल्लास का द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

आश्रमधर्म्म ।

संक्षेप से आश्रमधर्म्म का वर्णन किया जाता है। जीवनसंग्रामव वैषयिकभाव के बढ़जाने से तथा देश-काल के भिन्नरूप होजाने से महर्षियों के द्वारा विहित चतुराश्रमधर्म्म ठीक ठीक पालन करना आजकल बहुत ही कठिन होगया है। तथापि महर्षियों की दूरदर्शिता मायामुग्ध जीवों के लिये सदा ही कल्याणकर होने से मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि उनके द्वारा विहित आश्रमधर्म्म को ध्रुव तारा की न्यांई लक्षीभूत रखकर जीवनतरणि को संसारसमुद्र में डाल देवें जिससे शान्तिमय गन्तव्य स्थल उनके लिये सुलभ व निश्चित होजाय। मनुजी ने कहा है कि:—

प्रवृत्तिरेषां भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।

मनुष्यों की प्रवृति हो विषयों की ओर है परन्तु निवृत्ति महाफलप्रदायिनी है। पहले ही कहा गया है कि मनुष्ययोनि में आकर स्वतन्त्रता व अहङ्कार बढ़जाने से इन्द्रियलालसा व भोगप्रवृत्ति बहुत बढ़जाती है। इसी प्रवृत्ति को धीरे धीरे घटाकर मोक्षफलप्रद निवृत्तिमार्ग की ओर लेजाना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। आश्रमधर्म्म इसी कर्त्तव्य के उपायों को बताता है। ब्रह्मचर्य्यआश्रम में धर्म्ममूलक प्रवृत्ति के लिये शिक्षालाभ होता है, गार्हस्थ्य में धर्म्ममूलक प्रवृति की चरितार्थता होती है, वानप्रस्थ आश्रम में निवृत्तिमार्ग के लिये शिक्षालाभ होता है और संन्यासआश्रम में निवृत्ति की पूर्ण चरितार्थता होती है। पूर्व्वकर्म्म बलवान् होने से ब्रह्मचर्य्य से ही संन्यास ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा, साधारणरीति तो यह है कि प्रवृत्तिमार्ग से ही धीरे धीरे निवृत्तिमार्ग में आया जाय। सब आश्रमों में संन्यास श्रेष्ठ होने से संन्यासी वर्ण गुरु ब्राह्मणों के भी प्रणाम करने योग्य हैं इसलिये संन्यास में ब्राह्मण का ही अधिकार है ऐसी सम्मति कहीं-कहीं मिलती है तथापि मनुजी ने द्विजगण के लिये ही चारों आश्रमों की व्यवस्था दी है। और वेदादि में अनधिकार और शारीरिक असम्पूर्णता के कारण शूद्र के लिये केवल गृहस्थाश्रम की व्यवस्था दी है। ऐसा ही आश्रम का आदर्श है। अबकाल के प्रभाव से वर्णधर्म्म में किस प्रकार व कैसा व्यतिक्रम होगया है और इस दशा में वर्णधर्म्म के आदर्श

को अटल रखकर देश-काल के अनुसार कैसी व्यवस्था होसकती है सो वर्णधर्म्म के अध्याय में पहले कहागया है। इसलिये जब वर्णधर्म्म का सम्बन्ध आश्रमधर्म्म के साथ भी है तो आश्रमधर्म्म के भी आदर्श को महर्षियों की आज्ञानुसार अटल रखकर देश, काल, पात्र, के साथ मिलाकर काम करना होगा, वह कैसे हो सकेगा सो वर्णधर्म्म के अध्याय के उत्तरांश (अन्तिम अंश) पर विचार करने से ही बुद्धिमान् लोग कर्त्तव्य निर्णय कर सकेंगे। अब शास्त्रोक्त चारों आश्रमों का शास्त्रोक्त कर्त्तव्य बताया जाता है।

(ब्रह्मचर्य्याश्रम)

प्रथम आश्रम का नाम ब्रह्मचर्य्याश्रम है। द्विज पिता का कर्त्तव्य है कि यथासमय पुत्र का उपनयन करके उससे पूर्ण ब्रह्मचर्य्य का पालन करावे। उपनयन काल के विषय में मनु जी ने कहा है कि:—

> गर्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
> गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥
> ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्य्यं विप्रस्य पञ्चमे।
> राज्ञो बलाऽर्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहाऽर्थिनोऽष्टमे॥
> आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नाऽतिवर्त्तते।
> आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः।
> अत ऊर्द्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
> सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य्यविगर्हिताः॥

गर्भ से अष्टम वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन होना चाहिये, एकादश वर्ष में क्षत्रिय का और द्वादश वर्ष में वैश्य का उपनयन होना चाहिये। यदि यह इच्छा हो कि ब्राह्मण में ब्रह्मतेज उत्पन्न हो, क्षत्रिय को बल प्राप्त हो और वैश्य को धन प्राप्त हो तो यथाक्रम पांच, छः व आठ वर्ष में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का उपनयन होना चाहिये। सोलह वर्ष पर्य्यन्त ब्राह्मण का, बाईस वर्ष पर्य्यन्त क्षत्रिय का और चौबीस वर्ष पर्य्यन्त वैश्य का उपनयन काल अतीत नहीं होता है। इतने वर्षतक में भी यदि उपनयन नहीं

हो तो द्विज उपनयनभ्रष्ट होकर व्रात्य कहलाते हैं और आर्य्यजनों में उनकी निन्दा होती है अतः यथासमय उपनयनसंस्कार करना उचित है। तद-नन्तर ब्रह्मचारी का वेष दण्ड वसन मेखला आदि धारण कराकर गुरु के आश्रम में बालक को भेजना चाहिये या और तरह से ब्रह्मचर्य्य व्रत पालन कराना चाहिये।

ब्रह्मचर्य्य व्रत पालन के लिये जितने कर्त्तव्य शास्त्रों में बताये गये हैं उन सबको तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। यथा —वीर्य्यधारण, गुरु-सेवा व विद्याभ्यास।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य का संयम, गृहस्थाश्रम की धार्मिक प्रवृत्ति, वान-प्रस्थाश्रम की तपस्या व संन्यासाश्रम का ब्रह्मज्ञान सभी ब्रह्मचर्य्याश्रम की वीर्य्यरक्षा पर निर्भर करते हैं। मनुसंहिता में लिखा है कि :—

सेवतेमाँस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः।
वर्ज्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनञ्चाऽक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च नर्त्तनं गीतवादनम्।
द्यूतञ्च जनवादञ्च परीवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणाञ्च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
एकः शयीत सर्व्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः।
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वाऽर्क्कमर्च्चयित्वा त्रिः पुनर्म्मामित्यृचं जपेत्॥

ब्रह्मचारी गुरु-आश्रम में वास करने के समय इन्द्रियसंयम करके तपोबल बढ़ाने के लिये नीचे लिखे हुए नियमों का पालन करें। उनको मधु, मांस, गन्धद्रव्य, माल्य व रस आदि का सेवन और स्त्रीसम्बन्ध त्याग करना

चाहिये । जो वस्तु स्वभावतः मधुर है परन्तु किसी कारण से अम्ल हो गया है, इस प्रकार की वस्तु ब्रह्मचारी कदापि सेवन न करे और किसी जीव की हिंसा न करे । तैलमर्द्दन, आँखों में अञ्जन, पादुका व छत्रधारण, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, वाद्य, अक्षक्रीडा, मनुष्यों के साथ वृथा वाक्कलह या दोषदर्शन, मिथ्यावचन, स्त्रियों के प्रति कटाक्ष या आलिङ्गन, दूसरों का अपकार ये सभी ब्रह्मचारी के लिये त्याज्य हैं । ब्रह्मचारी एकाकी शयन करें, कभी रेतःपात न करें, इच्छा से रेतःपात करने पर ब्रह्मचारी का व्रत भङ्ग हो जाता है, यदि इच्छा न होने पर भी कभी स्वप्न में शुक्रनाश होजाय तो स्नान करके व सूर्य्यदेव की पूजा करके तीन बार "पुनर्मामेत्विन्द्रियम्" अर्थात् मेरा वीर्य्य मेरे में पुनः लौट आवे, इस प्रकार का वेदमन्त्र पढ़ना चाहिये । यही सब ब्रह्मचर्य्यरक्षा की विधि है ।

संसार में देखा जाता है कि प्रत्येक वस्तु में प्रधानतः आधिभौतिक या आधिदैविक या आध्यात्मिक उन्नति करने की शक्ति विद्यमान है; परन्तु यदि किसी वस्तु में एकाधार में तीनों प्रकार की उन्नति करने की शक्ति है ? तो यही कहना पड़ेगा कि वह परमवस्तु ब्रह्मचर्य्य ही है । अब ब्रह्मचर्य्य के द्वारा आध्यात्मिकादि त्रिविध उन्नति कैसे होती है सो बताया जाता है ।

मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि :—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा ।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम् ॥

सत्य, तपस्या, ज्ञान व ब्रम्हचर्य्य के द्वारा आत्मा की उपलब्धि होती है । ब्रम्हचर्य्य ज्ञानरूप प्रदीप के लिये स्नेहरूप है, सँसारसमुद्र में दिग्भ्रान्त जीवों के लिये ध्रुवतारारूप है व जगद्यन्त्र की जीवनीशक्ति है । इसीको ही आश्रय करके आध्यात्मिक उन्नति-साधन करता हुआ जीव परमात्मा का साक्षात्कार लाभ कर सकता है । छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि :—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येवेष्टात्मानमनुविन्दते ।

ब्रह्मचर्य्य ही यज्ञ और इष्टरूप है जिससे मनुष्य आत्मा को प्राप्त होसकता है । श्री भगवान् ने गीताजी में कहा है किः—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

वेदवित् ज्ञानीगण जिसको अक्षर पुरुष कहते हैं, वासनारहित यतिगण जिस परमपद को प्राप्त करते हैं, जिस परमपद की इच्छा से साधकलोग ब्रह्मचर्य्य पालन करते हैं उसके विषय में मैं संक्षेप से कहता हूँ । श्रीभगवान् ने इस श्लोक में ब्रह्मचर्य्य के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति व आत्मा की उपलब्धि होती है ऐसा बताया है । जिस शक्तिद्वारा महर्षिलोग प्राचीन काल में ब्रह्मज्ञान को प्राप्तकरके दिग्दिगन्त में उसकी छटा को फहराते थे, और जिस शक्ति के द्वारा उनके समाधिशुद्ध अन्तःकरण में वेद की ज्योति प्रतिफलित हुआ करती थी वह शक्ति ऊर्द्धरेता महर्षियों में ब्रह्मचर्य्य-शक्ति ही है । आज हीनवर्य्य भारतवासियों में ब्रह्मचर्य्य की शक्ति नष्ट होने से वेद देखना तो दूर रहा उसका अर्थ करना व उच्चारण करना भी असम्भव होगया है और हजारों प्रकार के सन्देह वेद के अर्थ में होरहे हैं । छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्रविरोचनसंवाद में इस सिद्धान्त को स्पष्टतया दिखाया गया है कि केवल ब्रह्मचर्य्य के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होसकती है । वहाँ ब्रमहाजी ने दोनोंको ही ३२ बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य-पालन की आज्ञा की है । समाधि के समय शरीर के भीतर जो वैद्युतिकशक्ति भर जाती है उसका धारण केवल ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही योगी करसकते हैं । अन्यथा-अल्पवीर्य्यसाधक योगानुष्ठान करे, तो कठिन रोग से आक्रान्त होसकता है । मानवशरीर भगवान् का पवित्र मन्दिर है परन्तु इस मन्दिर की भित्ति ब्रह्मचर्य्य ही है जिसके विना भगवान् कभी हृदयमन्दिर में सुशोभित नहीं होसकते हैं । उपनिषदों में लिखा है किः—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयाऽऽसक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है। विषयासक्त मन बन्धन का और निर्विषय मन मोक्ष का कारण है। योगशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि मन वायु और वीर्य्य तीनों एक सम्बन्ध से युक्त हैं। इनमें से एक भी वशीभूत हो तो और दो वशीभूत होजाते हैं। जिसका वीर्य्य वशीभूत ब्रह्मचर्य्य के द्वारा है उसका मन वशीभूत होता है और मनके वशीभूत होने से निर्विषय अन्तःकरण में ब्रम्हज्ञान का स्फुरण होता है। यही सब ब्रह्मचर्य्य के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति होने के प्रमाण हैं।

इसीप्रकार ब्रह्मचर्य्य के द्वारा आधिदैविक उन्नति भी होती है। महर्षि पतञ्जलिजी ने योगदर्शन में लिखा है किः—

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः।

ब्रह्मचर्य्य की प्रतिष्ठा होने से परमशक्ति प्राप्त होती है। योगदर्शन के विभूतिपाद में जितने प्रकार की सिद्धियों का वर्णन है, यथा-सूर्य्य में संयम से भुवनज्ञान और संस्कारों में संयम से परचित्तज्ञान आदि, ये सभी ब्रह्मचर्य्य के द्वारा दैवीशक्ति प्राप्त करने का फल है। महर्षि लोग जो अष्ट सिद्धि प्राप्तकरके संसार में सभी दैवी बातों को कर दिखाते थे जिनकी शक्तियों को स्मरणकरने से दीन हीन भारतवासियों के मृतकङ्काल में आज भी प्राण का सञ्चार होने लगता है और संसार में जब बड़े बड़े कर्म्मवीर और धर्म्मवीर महापुरुष अपनी शक्ति के प्रताप से अलौकिक कार्य्यों को कर गये एवं धर्म्म का व देश का उद्धार किया यह सब ब्रह्मचर्य्य के द्वारा आधिदैविक शक्ति प्राप्त करनेका ही फल है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है किः—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणाऽनुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषा ॐ सर्व्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही ब्रह्मलोक प्राप्त होता है और उस लोक में सिद्ध पुरुष कामचारी होते हैं। यह सब ब्रह्मचर्य्य के द्वारा दैवीशक्तिलाभ का ही फल है। इसी शक्ति को प्राप्त होने से ही भीष्मपितामह को इच्छा-मृत्यु लाभ हुआ था और शरशय्या पर शयनकरके भी उन्होंने पवित्र ब्रह्म-

ज्ञान और धर्म्मोपदेश किया था । मनुसंहिता में उत्तरायणगति की बात इस प्रकार लिखी है कि :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः ॥

परिव्राजक योगी और सन्मुखयुद्ध में वीर की तरह प्राण समर्पण करनेवाले महापुरुष, ये दोनों ही सूर्य्यमण्डलभेद करके उत्तरायण गति को प्राप्त करते हैं । उनको दुःखमय संसार में पुनः आना नहीं पड़ता है । इस प्रकार ऊर्द्ध्वगतिलाभ ब्रह्मचर्य्य की ही महिमा प्रकट करता है ।

तीसरी ब्रह्मचर्य्यसे आधिभौतिक उन्नति होती है । शास्त्रोंमें कहा है कि:—

शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम् ।

स्थूलशरीर की रक्षा किये विना मनुष्य किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता है । मानसिक उन्नति या आध्यात्मिक उन्नति सभी शारीरिक स्वास्थ्य के ऊपर निर्भर करती है । शरीर में सबसे उत्तम धातु वीर्य्य है जिसकी रक्षासे स्वास्थ्य की रक्षा हुआ करती है । चिकित्साशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि भुक्त अन्न पाकस्थली में जाकर पहले रस बनता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य्य बनता है । इस प्रकार अन्न के रस से एक महीने में वीर्य्य बनता है और ४० चालीस बिन्दु रक्त से एक बिन्दु वीर्य्य होता है । इसीसे समझ सकते हैं कि शरीर की रक्षा के लिये वीर्य्य का कितना प्राधान्य है । वीर्य्य ही समस्त शरीर का प्राणरूप है । वीर्य्य के स्तम्भन से प्राण की पुष्टि, समस्त शरीर में कान्ति और मानसिक शान्ति बनी रहती है । वीर्य्य के नाश से प्राणनाश व सकल प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं । शरीर की नीरोगता के विषय में महर्षियों ने कहा है कि :—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेः स्युस्त्रयो गुणाः ।
तेषां गुणानां यत्साम्यं तदाहुः स्वास्थ्यलक्षणम् ॥

प्रकृति के तीन गुण हैं, उनकी समता से शरीर व मन की स्वास्थ्य-रक्षा हुआ करती है । इन तीनों गुणों के अनुसार शरीर में पित्त वायु व कफ तीनों की स्थिति रहती है । पित्त सात्त्विक, वायु राजसिक और कफ ताम-

सिक है । वायु, पित्त और कफ की समता से शरीर नीरोग रहता है और अन्तःकरण में भी आनन्द व शान्ति रहती है । वीर्य्य के साथ वायु का सम्बन्ध होने से वीर्य्य के स्थिर रहने पर वायु भी शान्त रहता है जिससे मन भी शान्त रहता है । अन्तःकरण के शान्त रहने से मनुष्य परम सुखी और आध्यात्मिक उन्नतिशील होता है । अतः सिद्धान्त हुआ कि ब्रह्मचर्य्य-रक्षा ही सकल आनन्द की निदान है । यह बात पहले ही कही गई है कि शरीर के भीतर मनोवहा नाम की एक नाड़ी है जो कि मनुष्य के चित्त में कामभाव होते ही दूध को मथन करके माखन निकालने की तरह शरीर व रक्त को मथन करके वीर्य्य को निकालती है । मनोवहा नाड़ी के साथ शरीर की सब नाड़ियों का सम्बन्ध है इसलिये शुक्रनाश के समय शरीर की सब नाड़ियाँ काँप उठती हैं, शरीर के भीतर वज्राघात होने से जैसा कम्पन व आघात होता है वैसा होता है, शरीर के सब यन्त्र हिल जाते हैं जिसकी प्रतिक्रिया शरीर व मन पर इतनी होती है कि उस पाशविक क्रिया के अन्त में शरीर व मन अतिदीन, खिन्न, दुर्ब्बल व मृतप्राय होकर दुःख के अनन्त समुद्र में डूब जाता है । इसी लिये गीता में लिखा है कि :—

> शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
> कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

जिस प्रकार किसी मृत पुरुष के सामने काम या क्रोध का कोई विषय रखने पर भी उसके शरीर व मन में कोई चाञ्चल्य नहीं होता है; उसी प्रकार जीते ही जिसने शरीर व मन को ऐसा शान्त कर लिया है कि किसी प्रकार काम व क्रोध से इन्द्रियाँ चञ्चल न हों वही योगी व सुखी है । चिकित्साशास्त्र का सिद्धान्त है कि प्रत्येक मनुष्य के खून में दो प्रकार के कीट होते हैं, एक सफेद (White corpuscle) व दूसरे लाल (Red corpuscle), इन दोनों में से सफेद कीट रोग के कीटों से लड़ाई करके शरीर की रोग से रक्षा करते हैं क्योंकि हैज़ा, प्लेग, मलेरिया आदि सब रोगों के कीट होते हैं जो कि शरीर पर आक्रमण करके उसे नष्ट करते हैं । अब यह बात निश्चय है कि रक्त को मथन करके वीर्य्य निकल जाने

से रक्त निःसार हो जायगा जिससे वे सब रक्त के कीट भी दुर्ब्बल होजायँगे अतः उनमें रोग के कीटों के साथ लड़ाई करके शरीर की रक्षा करने की शक्ति नहीं रहेगी। इसका फल यह होगा कि शरीर बहुत प्रकार के रोगों से आक्रान्त होजायगा, शारीरिक आरोग्य नष्ट हो जायगा और मनुष्य जीता ही मुर्दे की तरह बना रहेगा। यही सब शुक्रनाश का फल है। जिस प्राण के साथ शरीर का इतना सम्बन्ध है कि उसके अभाव से शरीर मृत हो जाता है, वीर्य्य के नाश से उस प्राणशक्ति का भी नाश होने लगता है जिससे मनुष्य अल्पायु व चिररोगी होजाते हैं। योगशास्त्र में श्वास-प्रश्वास पर संयम करके लिखा गया है कि मनुष्यों की नियमित आयु के लिये नियमित श्वास की भी आवश्यकता होती है। साधारण अवस्था में सारे दिन व रात के बीच में प्रत्येक मनुष्य के श्वास २१६०० इक्कीस हजार छः सौ बार निकलते हैं। योग की शक्ति से इस श्वाससंख्या को घटाने से आयु बढ़ती है। योगी लोग इसी प्रकार से दीर्घायु होते हैं। और भी योगशास्त्र में लिखा है किः—

देहाद्बहिर्गतो वायुः स्वभावाद्द्वादशाङ्गुलिः।
भोजने षोडशाङ्गुल्यो गायने विंशतिस्तथा॥
चतुर्विंशाङ्गुलिः पान्थे निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः॥
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम्॥
स्वभावेऽस्य गते न्यूने परमायुः प्रवर्द्धते।
आयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चाऽन्तराद्गते॥
तस्मात्प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते।

जो दिवारात्रि में २१६०० इक्कीस हजार छः सौ वार श्वास निकलता है उसी हिसाब से निकला करे तो प्रत्येक श्वासका वायु १२ बारह अङ्गुलि तक नासिका से बाहर जायगा। यही स्वाभाविकरूप से निकलतेहुए श्वास की पहुँच है। यही श्वास भोजन करते समय १६ सोलह अङ्गुलि, गान करते समय २० बीस अङ्गुलि, रास्ते चलते समय २४ चौबीस अङ्गुलि, निद्रा लेते समय ३० तीस अङ्गुलि, मैथुन के समय ३६ छत्तीस अङ्गुलि और

व्यायाम में उससे भी अधिक दूरतक पहुँचता है । श्वास की इस स्वाभाविक गति को रोककर घटाने से आयु बढ़ती है और भीतर से अधिक दूर तक श्वास जाने से आयुःक्षय होता है । व्यायाम में श्वास अधिक निकलने पर भी व्यायाम की खास प्रतिक्रिया से शरीर सबल व नीरोग रहता है, परन्तु इससे आयु की वृद्धि नहीं होती है । प्राणायाम करने पर शरीर सबल व नीरोग रहता है और आयु भी बढ़ती है । इसीलिये शास्त्र में कहता है कि :—

प्राणायामः परं बलम् ।

प्राणायाम परम बल है । इसतरह से प्राणायाम की स्तुति व उसके करने की आज्ञा की गई है । परन्तु मैथुन में व्यायाम का कोई फल नहीं होता है, उल्टा श्वास ३६ छत्तीस अङ्गुलि व अधिक निकलने से विशेषरूप से आयुः-क्षय होता है । स्वाभाविक श्वास जो कि १२ बारह अङ्गुलि है उससे तीन गुण अधिक जोर से श्वास निकलने पर मनुष्य बहुत ही अल्पायु होजाता है और प्राणरूप वीर्य्य के निकलने से अत्यन्त दुर्ब्बल व रुग्णदेह होजाता है । यही सब ब्रह्मचर्य्यनाश का विषमय फल है । इसीलिये योगशास्त्र में कहा है कि :—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।

वीर्य्यनाश से मनुष्य की मृत्यु और वीर्य्यधारण से मनुष्य का जीवन है ।

शरीर के समस्त यन्त्रों में से स्नायु, पाकस्थली, हृदय व मस्तिष्क ये चार यन्त्र मुख्य हैं । वीर्य्यनाश से इन चारों यन्त्रों पर कठिन आघात पहुँचता है । काम का तुच्छ सुख केवल इन्द्रिय के स्नायुओं के चाञ्चल्य से ही होता है, परन्तु पुनः पुनः चञ्चल करने से वे सब नसें दुर्बल होजाती हैं और साथ ही साथ समस्त शरीर के स्नायुओं में आघात होने से वे सब भी दुर्बल होजाते हैं । फल यह होता है कि स्नायुओं के दुर्बल होने से उनमें वीर्य्यधारण करने की शक्ति नहीं रहती है जिससे सामान्य काम सङ्कल्प व चाञ्चल्य से ही वीर्य्य नष्ट होने लगता है और धातुदौर्ब्बल्य, प्रमेह, स्वप्नमेह, मधुमेह आदि कठिन कठिन रोग होजाते हैं । और शरीर के स्नायुओं पर धक्का अधिक लगने से पक्षाघात, ग्रन्थिवात, अपस्मार (मृगी)

आदि भीषण रोगों की उत्पत्ति होती है। केवल इतना ही नहीं, जिस विषय-सुख के लिये विषयी लोग ब्रह्मानन्द को भी तुच्छ समझते हैं वह विषयसुख भी ब्रह्मचर्य्य के नहीं पालने से, उसे वे पूरा भोग नहीं सकते है क्योंकि धातुदौर्ब्बल्य, वीर्य्यतारल्य या स्नायविक दौर्ब्बल्य होने से वीर्य्यधारण की शक्ति नष्ट हो जाती है और सामान्य काम सङ्कल्प व स्त्री के देखनेमात्र से ही वीर्य्यनाश होने लगता है इस कारण विषयसुख व गार्हस्थ्य सुख भी उन्हें पूरा नहीं मिलता है। उनकी स्त्रियां अतृप्ता रहने से उनमें व्यभिचारिणी होने की सम्भावना रहती है जिससे कुल नष्ट, वर्णसङ्कर सृष्टि व पितरों का पिण्डनाश होता है और संसार में दारिद्र्य, दुर्भिक्ष व हजारों प्रकार की अशान्ति फैलती है। द्वितीयतः अपानवायु के साथ प्राणवायु का और प्राणवायु के साथ वीर्य्य का सम्बन्ध रहने से अपानवायु के साथ भी वीर्य्य का सम्बन्ध है और अपानवायु के साथ पाकयन्त्र, वायु व उपस्थ-यन्त्र का सम्बन्ध है। अपान के ठीक रहने से अन्न का परिपाक भी ठीक-ठीक होता है जिससे अजीर्ण का रोग नहीं होता है। परन्तु वीर्य्य के नाश या चाञ्चल्य से जब अपान की क्रिया में खराबी हो जाती है तब पेट में अन्न नहीं पचता है, अजीर्ण रोग से शरीर आक्रान्त हो जाता है, आज अम्लरोग हुआ, कल पेट फूल गया, परसों डकार आता है, अम्लशूल, हैजा, ग्रहणी, उदरामय, मन्दाग्नि आदि कितनी ही बीमारियाँ शरीर को ग्रास कर लेती हैं और संसार में ऐसा कोई रोग नहीं है जो कि अजीर्णरोग के परिणाम से नहीं हो सकता है। बहूमूत्र, शिरोरोग, धातुरोग, दृष्टिहीनता, रक्तविकार अर्श आदि सभी रोग अजीर्णरोग के परिणाम से होते हैं और मनुष्य के जीवन को भारभूत व अशान्तिमय कर देते हैं। अपानवायु के खराब होने से वायुयन्त्र के भी सब रोग हो जाते हैं। यथा—समय पर शौच न होना, अधिक दस्त होना, दस्त बन्द हो जाना, पेट में आम होना आदि बहुत रोग होजाते हैं। जिस उष्णता के रहने से पेट में अन्न पचता है, वीर्य्यनाश से वह उष्णता नष्ट होजाती है जिससे पित्तप्रकृति नष्ट होकर कफप्रकृति होती है और पित्त दुर्ब्बल होने से अजीर्ण होता है। तृतीयतः वीर्य्य के निकलते समय कलेजे में धक्का बहुत लगता है क्योंकि जब हृदय ही रक्त का मूलस्थान है तो जितनी बार दुग्ध के सारभूत मक्खन की तरह रक्त का

सारभूत वीर्य्य नष्ट होगा उतनी ही बार दुर्ब्बल रक्त को पुष्ट करने के लिये हृद्यन्त्र से रक्त का प्रवाह होगा जिसका फल यह होगा कि हृद्यन्त्र पर चोट लगेगी जिससे क्षय, कास, यक्ष्मा आदि कठिन रोग उत्पन्न होकर अकाल मृत्यु के ग्रास में मनुष्य को डाल देंगे। और चतुर्थतः वीर्य्यनाश से मस्तिष्क पर बहुत ही धक्का लगता है। शरीर का सर्वोत्तम अङ्ग मस्तिष्क है उसमें शरीर के सारभूत पदार्थ भरे रहते हैं और समस्त स्नायुओं का केन्द्रस्थान भी मस्तिष्क ही है, इसलिये वीर्य्य के नाश से मस्तिष्क निस्सार व दुर्ब्बल हो जाता है जिससे स्मृति, बुद्धि, प्रतिभा सभी नष्ट होने लगती है, मनुष्य सामान्य दिमागी परिश्रम से ही थक जाता है, सिर घूमने लगता है, आध्यात्मिक विषयों पर विचार नहीं कर सकता है, बहुत देर तक किसी बात को चित्त लगाकर सोच नहीं सकता है, दिन भर या सन्ध्या के समय सिर में दर्द होने लगता है, कोई बात बहुत देर तक स्मरण नहीं रहती है, थोड़ी थोड़ी बात में ही घबराहट होने लगती है, धैर्य्य सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है, प्रकृति रूखी क्रोधी व भीरु हो जाती है और अन्त में उन्मादरोग तक हो जाता है। पागलखानों में जितने उन्मादी देखे जाते हैं, अनुसन्धान करने पर कई बार पता लगा है कि उनमें से फी सैकड़ा नब्बे व्यभिचार द्वारा वीर्य्यहीन होकर पागल बन गये हैं। मस्तिष्क सब स्नायुओं का केन्द्रस्थान होने से मस्तिष्क के दुर्ब्बल होनेपर स्नायु भी दुर्ब्बल हो जाते हैं जिससे सब इन्द्रियों में दुर्ब्बलता होती है क्योंकि प्रत्येक स्थूल इन्द्रिय का जो मस्तिष्क से स्नायुओं के द्वारा सम्बन्ध है उसीसे इन्द्रियों का कार्य्य ठीक ठीक चलता है इसलिये मस्तिष्क जब दुर्ब्बल होता है तब इन्द्रियों का कार्य्य भी बिगड़ जाता है। आँख में, कान में, सब में कमजोरी आने लगती है। यही सब वीर्य्यनाश का फल है। आज जो भारतवर्ष में आर्य्यशास्त्रों के विषयों पर इतना सन्देह फैल गया है और अनन्त मतभेद हो गये हैं इसका प्रधान कारण भारतवासियों की ब्रह्मचर्य्यहीनता ही है जिससे मस्तिष्क में दुर्ब्बलता होने से शास्त्रों का सिद्धान्त भारतवासियों को ठीक ठीक नहीं ज्ञात हो रहा है और इसीलिये हजारों मतभेद, सम्प्रदाय व लड़ाइयाँ हो गई हैं।

वीर्य्य में तैजसपदार्थ अधिक है जिससे प्राणशक्ति, शारीरिक उत्ताप

और आँख के तेज का सम्बन्ध है इसलिये वीर्य्य के नष्ट होने से तीनों की शक्ति घट जाती है।। प्राणशक्ति घट जाने से शरीर व मुखच्छवि तेज, कान्ति व श्री हीन होजाती है, समस्त शरीर फीका व मुर्दे के शरीर की तरह दीखने लगता है, आँखें बैठ जाती हैं, मुँह बैठ जाता है, शरीर कृश होजाता है, भीतर से कमजोरी बहुत मालूम होती है; शब्द व मन्त्रोच्चारण की शक्ति घट जाती है और गला बैठ जाने से स्वरभङ्ग होजाता है। शारीरिक उत्ताप घटजाने से पेट में परिपाकशक्ति घटजाती है और आबहवा का परिवर्त्तन थोड़ा भी सहन नहीं होता है, हर समय सर्दी लगने लगती है, थोड़ी ही ठण्ड में जुकाम होजाता है, ऋतुओं के परिवर्त्तन के समय प्रायः रोग होजाता है और देश में बीमारी फैलने के समय सबसे पहले ऐसा मनुष्य बीमार पड़ता है। आँख का तेज कम होने से यौवन के पहले ही चश्मा लेने की आवश्यकता होती है जो कि आजकल के युवकों में प्रायः देखने में आता है। वीर्य्य के कमजोर होने से उसमें सन्तानोत्पादन करने की शक्ति नहीं रहती है जिससे स्त्री वन्ध्या और पुरुष सन्तानहीन रहते हैं, अथवा रजसे वीर्य्य के दुर्ब्बल होने के कारण कन्या उत्पन्न होती हैं, पुत्र नहीं उत्पन्न होते या कम होते हैं और कभी होते हैं तो दुर्ब्बल व रोगी पुत्र उत्पन्न होते हैं और अल्पायु पुत्र उत्पन्न होते हैं। बहुतों में बालकपन में वीर्य्यनाश से नपुंसकता हो जाती है। इन सब पापों से कुलनाश व पितृपुरुषों का अधःपतन होता है। सर्व्वोपरि वीर्य्य के साथ मन का अतिघनिष्ठ सम्बन्ध रहने से वीर्य्यनाश के साथ ही साथ मन भी बहुत दुर्ब्बल हो जाता है जिससे मनुष्य का मनुष्यत्व, पुरुषार्थशक्ति, स्वाधीनचित्तता, दृढप्रतिज्ञा, अध्यवसाय, जातीयता, आध्यात्मिक उन्नति, जितेन्द्रियता सभी नष्ट होजाते हैं। दुर्ब्बलचित्त मनुष्य इच्छा करने पर भी संयम नहीं कर सकता है, इन्द्रियों का दास होकर स्त्री का भी दास हो जाता है। विषयभोग में जो जो दुःख हैं उन सबको जानकर छोड़ने की इच्छा करने पर भी चित्त की दुर्ब्बलता के कारण छोड़ नहीं सकता है और विषयों के सामने न रहने पर उनको छोड़ने की हजारों प्रतिज्ञा करने पर भी विषयों के सामने आने से ही सम्पूर्णरूप से उनके वशीभूत हो पड़ता है, सभी प्रतिज्ञाएँ धरी रह जाती हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य्यनाश से मनुष्य का मनुष्यत्वलोप व जीवन भारभूत

होजाता है । आज जो भारतवर्ष में सच्चे ब्राह्मण और सच्चे क्षत्रिय आदि विरल ही मिलते हैं, ब्राह्मणों की यह शक्ति और क्षत्रियों का वह तेज कुछ भी नहीं है, जो ऋषि पहले अमोघवीर्य्य होते थे उनके पुत्र आज निर्व्वीर्य्य हो रहे हैं, आर्य्यसन्तान आज तेजोहीन होकर भारतमाता के मुख पर कलङ्क आरोपण कररहे हैं, ऋषियों के दिव्यनेत्र और ज्ञाननेत्र सब नष्ट होकर आज उपनेत्र के बिना देखा नहीं जाता है, हमारा शरीर और मन श्मशान के दृश्य को स्मरण करा रहा है, वेद के मन्त्रों को देखना और शुद्ध उच्चारण करना दूर रहा वेद अर्थ पर भी हजारों लड़ाइयाँ चल पड़ी हैं, तपस्या के फलरूप से ज्ञान-अर्जन करके ब्रह्म का साक्षात्कार दूर रहा आज अज्ञान की घनघोरघटा भारत-आकाश को आच्छन्न कर रही है, ये सब दुर्भाग्य और दुर्दशाएं आर्य्यजाति में ब्रह्मचर्य्यहीनता का ही फलरूप हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य्य आश्रम की पुनः प्रतिष्ठाकरके द्विजबालकों को उपनयन संस्कार के बाद अवश्य ही ब्रह्मचर्य्यव्रत पालन कराना चाहिये जिससे उनका समस्त जीवन शान्ति, सुखमय और देश व धर्म्म के लिये कल्याणकर हो जाय।

ब्रह्मचर्य्यपालन के विषय में दक्षसंहिता में लिखा है कि :—

ब्रह्मचर्य्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक् ।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।।

स्मरण, कीर्त्तन, केलि, दर्शन, गुप्तबात, सङ्कल्प, चेष्टा और क्रियासमाप्ति, ये ही मैथुन के आठ अङ्ग हैं, इनसे विपरीत ब्रह्मचर्य्य है जो कि सदा पालन करने योग्य है। इसके पूरे पालन के लिये शरीर मन व बुद्धि तीनों को ही संयत रखना ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है। इस विषय में मनुजी की आज्ञा पहले ही बताई गई है। प्रथम—शरीर को संयत रखने के लिये अन्यान्य उपायों के अतिरिक्त खानपान का भी विचार अवश्य रखना चाहिये। श्रीभगवान् ने गीताजी में त्रिविध आहार के विषय में कहा है कि :—

आयुःसत्त्वबलाऽऽरोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
कट्वम्ललवणाऽत्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकाऽऽमयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितञ्च यत् ।
उच्छिष्टमपि चाऽमेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

आयु, प्राणशक्ति, बल, आरोग्य, सुख व प्रीति का बढ़ानेवाला, सरस, स्निग्ध, सारयुक्त व चित्त को सन्तोष देनेवाला आहार सात्त्विक मनुष्य का प्रिय है । जिससे दुःख, शोक व रोग हो इस प्रकार का कटु, अम्ल, लवण, अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष व शरीर में ज्वलन उत्पन्न करनेवाला आहार राजसिक लोगों का प्रिय है । और कच्चा, रसहीन, दुर्गन्धियुक्त, बासी, उच्छिष्ट व अभक्ष्य आहार तामसिक लोगों का प्रिय है । ब्रह्मचारी को सात्त्विक आहार करना चाहिये । प्याज़, लशुन, लालमिरच, खटाई आदि राजसिक तामसिक पदार्थ हैं । गरिष्ठ मसालेदार अन्न और उत्तेजक अन्न ब्रह्मचारी को भी नहीं खाना चाहिये । तमाखू भाँग आदि मादक द्रव्यों का सेवन कदापि नहीं होना चाहिये । कोमल शय्या; जैसा पलङ्ग आदि पर नहीं सोना चाहिये। भूमिशय्या पर सोना चाहिये । खराब पुस्तकें पढ़ना, कुसङ्ग, कुचिन्ता, खराब चित्र देखना व आपस में कामविषयक बातचीत कभी नहीं करनी चाहिये । एकाहार करना चाहिये अथवा रात को बहुत कम लघु पाक अन्न खाना चाहिये । सोते समय ठंडा जल पीना, प्रातःकाल निद्रा टूटने पर फिर सोना, पान खाना, अधोअङ्ग से वृथा हाथ लगाना, दिन में सोना, मछली या मांस खाना, प्रातःकाल तक सोते रहना आदि ब्रह्मचारी के लिये निषिद्ध हैं । दूसरा—ब्राह्ममुहूर्त में उठकर शौचादि से निवृत्त हो प्रातः सन्ध्या और देवता ऋषि एवं पितरों का तर्पण करना चाहिये । सन्ध्या के साथ साथ गुरुकी आज्ञानुसार कुछ कुछ पूजा, प्राणायाम व मुद्रा आदि भी करना चाहिये । प्राणायाम व मुद्राओं के करने से चित्त शान्त व एकाग्र होगा और स्नायु भी सतेज रहेंगे जिससे ब्रह्मचर्य्य की रक्षा व शारीरिक

नीरोगता रहेगी। पूजा करने से मानसिक उन्नति व शक्ति बढ़ेगी। मन को संयत करने के लिये सदा ही ब्रह्मचारी को यत्न करना चाहिये। गीता में लिखा है कि :—

ध्यायतो विषयान् पुंसः,
सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः।

विषय की चिन्ता करने से उसमें आसक्ति उत्पन्न होती है और आसक्ति से काम उत्पन्न होता है। इसलिये ब्रह्मचारी को सर्वदा काम-सङ्कल्प से बचना चाहिये। कामजय करने के लिये सीधा उपाय संङ्कल्प न करना है। श्रीमद्भागवत में कहा है कि :—

असङ्कल्पाज्जयेत्कामम्।

असंकल्प से काम जय करना चाहिये। कभी काम का संकल्प चित्त में उदय हो उसी वक्त चित्त को उससे हटाकर और चिन्ता या शास्त्र पाठ में लगाना चाहिये। इसी प्रकार चित्त को काम संकल्प करने का मौका न देने का अभ्यास कुछ दिनों तक करते रहने से अभ्यास बढ़ने पर काम-संकल्प करने की इच्छा घट जायगी जिससे चित्त की उन्नति होगी। स्मरण रहे, केवल अभ्यास से ही काम बढ़ता है और विषयेच्छा बढ़ती है। यह एक प्रकार के नशे की तरह है। इस अभ्यास के घटाने से और संयम का अभ्यास बढ़ाने से कुछ दिनों के बाद संयम करना ही अच्छा लगेगा, ब्रह्मचर्य्यं धारण करने में आनन्दबोध होने लगेगा और नष्ट करने में दुःखबोध होगा और त्याग ही शान्तिकर होने लगेगा, इसलिये शरीर व चित्त के साथ ब्रह्मचर्य्यंव्रत पालन करना चाहिये। तीसरा—ब्रह्मचर्य्यं की रक्षा के लिये बुद्धि की भी सहायता लेनी चाहिये। बुद्धि के द्वारा विचार करके सत्यासत्य निर्णय करना चाहिये। संसार में त्याग का सात्त्विक सुख भोग के राजसिक सुख से कितना उत्तम है, विषयसुख के अन्त में किस प्रकार परिणामदुःख मनुष्य के चित्त को दुःखी करता है, इन्द्रियों के साथ विषय का सम्बन्ध पहले मधुर होने पर भी परिणाम में किस प्रकार अत्यन्त दुःख उत्पन्न करके सब सुख को मिट्टी में मिला देता है और निवृत्ति

का आनन्द किस प्रकार मनुष्य के लिये प्रवृत्ति से उत्तम व नित्यानन्दमय है, इन बातों का विचार सदा ही ब्रह्मचारी को हृदय में धारण करके अपने व्रत के पालन में पूर्ण होना चाहिये । महाभारत में लिखा है कि:—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाऽक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम् ॥

संसार में जो कामसुख या स्वर्ग में जो महान् दिव्यसुख है, ये कोई भी सुख वासनानाशसुख के षोडशांश में से एक अंश भी सुख देनेवाले नहीं हैं । भगवान् ने गीता में भी आज्ञा की है कि:—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

विषय के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से जो कुछ सुख होता है वह दुःख का ही उत्पन्न करनेवाला है । विषयसुख आदि अन्त से युक्त है अतः विचारवान् पुरुष को कभी विषयसुख में फंसना नहीं चाहिये । जो मनुष्य यावज्जीवन काम और क्रोध के वेग को धारण कर सकता है वही योगी और वही सच्चा सुखी है । श्रीभगवान् की इस आज्ञा को हृदय में धारण करके ब्रह्मचारी को सदा ही संयत होना चाहिये ।

वीर्य्यधारण की उपकारिता के विषय में जो कुछ बातें ऊपर लिखी गई हैं इससे गृहस्थ लोग यह न समझें कि वीर्य्यरक्षा केवल ब्रह्मचर्य्य आश्रम के लिये ही है, गृहस्थाश्रम के लिये नहीं है । इस प्रकार की धारणा मिथ्या है क्योंकि वीर्य्यनाश से जितनी हानि बताई गई है वह मनुष्य की सकल अवस्था में ही घटती है । आजकल बहुत लोगों की यह धारणा होगई है कि गृहस्थ होते ही अनर्गल विषय-भोग करना चाहिये, इसमें कोई नियम या संयम नहीं है । यह सिद्धान्त मिथ्या है । संयम व नियमपूर्व्वक गृहस्थाश्रम न करने से वही दुर्दशा होगी जैसा कि पहले बतलाया गया है । गृहस्था-

श्रम के लिये ऋतुकाल गमन आदि जो कुछ नियम हैं सो आगे बताया जायगा, उसीसे गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य्यरक्षा होगी, अन्यथा नहीं होगी।

ब्रह्मचर्य्याश्रम का दूसरा कर्त्तव्य गुरुसेवा है। श्रीभगवान् ने गीताजी में ज्ञानप्राप्ति का उपाय बताया है कि:—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

प्रणिपात, जिज्ञासा व सेवा के द्वारा तत्त्वज्ञानी गुरु से ज्ञान प्राप्त करना होता है। श्रुति में भी लिखा है कि:—

"मातृदेवो भव" "पितृदेवो भव"
"आचार्य्यदेवो भव" इत्यादि।

माता, पिता और गुरु की सेवा करना चाहिये। इस प्रकार माता, पिता व गुरुसेवा के लिये आज्ञा की गई है। मनुजी ने भी कहा है कि:—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्य्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥

जिस प्रकार खनित्र (खोदने का यन्त्र) से खोदते रहने पर जल मिलता उसी प्रकार सेवा के द्वारा गुरु से विद्या मिलती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य्याश्रम में गुरुसेवा द्वारा विद्यालाभ के विषय में मनुजी ने बहुत बातें बताई हैं। यथाः

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्य्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च॥
अध्येष्यमाणस्त्वाऽऽचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माऽञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥
ब्रह्माऽऽरम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥
व्यत्यस्तपाणिना कार्य्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥

गुरु शिष्य का उपनयन कराकर पहले आद्योपान्त शौच, आचार, अग्नि-

कार्य्य व सन्ध्योपासना उसे सिखावें। अध्ययन करने के लिये शिष्य शास्त्रानुसार आचमनकरके संयत होकर उत्तरमुख व ब्रह्माञ्जलि हो पवित्र लघु वेष पहनकर गुरु के सम्मुख बैठें। वेदाध्ययन के आरम्भ व अन्त में शिष्य प्रतिदिन गुरु के पादद्वय स्पर्श करें और पढ़ते समय हाथ जोड़े रहें इसीको ब्रह्माञ्जलि कहते हैं। दक्षिण हस्त ऊपर, वाम हस्त नीचे और दोनों हस्त आड़े टेढ़े (Cross) रखकर दक्षिण हस्त से गुरु के दक्षिण चरण को और वाम हस्त से वाम चरण को स्पर्श करें।

पूर्वां सन्ध्यां जपँस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमान्तु समासीनः सम्यगृहक्षविभावनात् ॥

प्रातःसन्ध्या के समय सूर्य्यदर्शनपर्य्यन्त एक स्थान में रहकर सावित्री-जप करें और सायंसन्ध्या के समय नक्षत्रदर्शनपर्य्यन्त आसन पर बैठ कर जप करें।

अग्नीन्धनं भैक्षचर्य्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्त्तनात्कुर्य्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥

ब्रह्मचारी समावर्त्तन के पहले जबतक गुरु-आश्रम में रहें तबतक प्रतिदिन प्रातः, सायङ्काल हवन, भिक्षा, भूमिशय्याशयन व गुरु का प्रिय आचरण करें।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्य्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताऽभ्यर्च्चनञ्चैव समिदाधानमेव च ॥

नित्य स्नानकरके पवित्र होकर देवता, ऋषि व पितरों का तर्पण करें और देवतापूजन व समिध् के द्वारा होम करें।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तन्न द्रुह्येत्कदाचन ॥
उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥

जो गुरु सत्यस्वरूप वेदमन्त्रों से कर्णों को पवित्र करते हैं वे ही माता

व पिता के तुल्य हैं, उनसे कभी विरोध नहीं करना चाहिये । जन्म देनेवाले पिता और वेदज्ञान करानेवाले गुरुरूपी पिता दोनोंमें से गुरु पिता ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि द्विजाति का ब्रह्मजन्म ही इहलोक व परलोक में नित्य फल देनेवाले है ।

वेदमेव सदाऽभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाऽभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥

तपस्या करने की इच्छा रखनेवाले द्विज सदा ही वेद का अभ्यास करें क्योंकि वेदाभ्यास ही द्विजगण की परम तपस्या कही गई है ।

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति साऽन्वयः ॥

जो द्विज विद्याध्ययन न करके अन्य विद्या में श्रम करता है वह जीते रहते ही वंशसहित शूद्रभाव को प्राप्त करता है ।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्म्मसु ।
ब्रह्मचार्य्याहरेद्भैक्ष्यं गृहेभ्यः प्रयतोन्वहम् ॥

वेदानुष्ठान करनेवाले और अपनी वृत्ति में रहनेवाले गृहस्थों के मकान से ब्रह्मचारी प्रतिदिन शुद्ध होकर भिक्षा ग्रहण करें ।

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्य्यादध्ययने यत्नमाचार्य्यस्य हितेषु च ॥
शरीरञ्चैव वाचञ्च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥
हीनाऽन्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्व्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमञ्चाऽस्य चरमञ्चैव संविशेत् ।
गुरोर्यत्र परीवादोनिन्दा वाऽपि प्रवर्त्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥

गुरु की आज्ञा हो या न हो ब्रह्मचारी प्रतिदिन अध्ययन और गुरु के

हितानुष्ठान में तत्पर रहेंगे। शरीर, वाक्य, बुद्धि, इन्द्रिय व मन को संयत करके कृताञ्जलि हो गुरु-आज्ञा की प्रतिक्षा करेंगे। गुरु के समीप साधारण वेष व अन्न ग्रहण करेंगे, उनके उठने के पहले उठेंगे और सोने के बाद सोवेंगे। जहाँ गुरु की सच्ची या झूठी निन्दा हो वहां हाथों से कानों को ढक लेंगे या वहां से उठ जायंगे। इस प्रकार गुरु सेवा करते हुए विद्याध्ययन की आज्ञा मनुजी ने की है। ब्रह्मचारी को गुरुसेवा के साथ ही साथ माता-पिता की सेवा करनी चाहिये क्योंकि ये तीनों ही परमपूज्य हैं। मनुजी कहा है कि :—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्य्यादाचार्य्यस्य च सर्व्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्व्वं समाप्यते ।।
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ।।
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ।
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते ।।

प्रतिदिन माता-पिता व आचार्य्यं तीनों का ही प्रियानुष्ठान करना चाहिये। इनके सन्तुष्ट रहने से सब तपस्या समाप्त होती है। वे तीनों ही तीन लोक, तीन आश्रम, तीन वेद व तीन अग्नि है; अर्थात् इनके फल की प्राप्ति के कारणस्वरूप हैं। पिता गार्हपत्य-अग्नि, माता दक्षिणाग्नि और आचार्य्यं आहवनीय-अग्नि है। ये तीनों अग्नि ही श्रेष्ठ हैं। मातृभक्ति से भूलोक, पितृभक्ति से मध्यलोक और गुरुसेवा से ब्रह्मलोक प्राप्त होता है।

सर्व्वे तस्याऽऽदृता धर्म्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्व्वास्तस्याऽफलाः क्रियाः ।।

पिता माता व गुरु का आदर करने से सब धर्म्मों का आदर होता है, अन्यथा सब धर्म्मं कर्म्मं ही निष्फल होते हैं। ये ही सब ब्रह्मचर्य्याश्रम के धर्म्मं

हैं जो मनुजी ने अपनी संहिता में पूर्णरीति से बताये हैं। आजकल इस प्रकार गुरुसेवा की रीति बहुत घट गई है। पाश्चात्य शिक्षालयों में तो यह रीति एक प्रकार से उठ ही गई है। केवल अर्थ के विनिमय से वहां विद्या प्राप्त होती है इसलिये शिक्षा भी ऐसी ही होती है जिससे अहङ्कार और अश्रद्धामात्र बढ़ती है, आध्यात्मिक उन्नति कुछ भी नहीं होती है। यह रीति सुधारने योग्य और प्राचीन रीति पुनः प्रतिष्ठापन करने योग्य है। सामाजिक नेताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट होना चाहिये।

प्रत्येक धर्म्म की विधि के देशकालानुकूल होने से ही उससे सुफल की प्राप्ति होती है। इसलिये ब्रह्मचर्य्य आश्रम में प्राचीन आर्य्यजातीय वैदिक शिक्षा के साथ साथ देशकालज्ञान और देशकाल के अनुकूल शिक्षा भी अवश्य होनी चाहिये जिससे गृहस्थाश्रम में वृत्ति भी सुलभ हो और धर्म्म भी बना रहे। आजकल ब्रह्मचर्य्य आश्रम का पालन कम हो गया है और जहां कुछ है भी वहां पर ठीक ठीक अध्यापन की कमी है इसलिये शास्त्रानुकूल शिक्षा व ब्रह्मचर्य्यरक्षा नहीं होती है। इसका सुधार होना चाहिये। ब्रह्मचर्य्याश्रम की शिक्षा साधारण पाठशाला की तरह नहीं होनी चाहिये, उसकी विशेषता व गौरव पर ध्यान रहना चाहिये। कलियुग में गर्भाधानादि संस्कार ठीक ठीक न होने से सन्तान का शरीर प्रायः कामज होता है इसलिये अनेक चेष्टा करने पर भी पूरी ब्रह्मचर्य्यरक्षा कठिन हो गई है; तथापि जहां तक हो सके इसमें सबको तत्पर होना चाहिये। और यदि किसी कारण से ब्रह्मचर्य्यआश्रम में शिक्षा की सुविधा न मिले और व्यावहारिक शिक्षालय में ही प्रविष्ट होना पड़े; तथापि उस दशा में भी जहां तक हो सके ब्रह्मचर्य्यरक्षा, गुरुसेवा व व्यावहारिक अर्थकारी विद्या के साथ शास्त्रीय शिक्षा भी प्राप्त करना चाहिये जिससे भविष्यत् जीवन धर्म्ममय, सुखमय व शान्तिमय हो। पिता-माता का कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तान को बालकपन में पहले ही धार्म्मिक शिक्षा देकर पीछे व्यावहारिक शिक्षा देवें क्योंकि बाल्यावस्था में धर्म्म का संस्कार चित्त पर जम-जाने से सन्तान भविष्यत् जीवन में कभी नहीं बिगड़ सकेगी। ये सब बातें ध्यान देने योग्य हैं।

ब्रह्मचर्य्य दो प्रकार के हैं। यथा—नैष्ठिक और उपकुर्व्वाण। नैष्ठिक

ब्रह्मचारी के लिये गृहस्थाश्रम की आज्ञा नहीं है, आजन्म ब्रह्मचर्य्य रखने की आज्ञा है। यदि शिष्य का अधिकार इस प्रकार उन्नत होवे तो गुरु उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनावे। इसके लिये मनुजी ने आज्ञा की है कि :—

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥
आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥
आचार्य्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥
एतेष्वविद्यमानेषु स्थानाऽऽसनविहारवान्।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥
एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्य्यमविप्लुतः।
स गच्छत्युत्तमं स्थानं न चेह जायते पुनः ॥

यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी यावज्जीवन गुरुकुल में वास करना चाहें तो गुरु सेवा करते हुए गुरुके आश्रम पर ही संयत होकर रहें। मृत्युपर्य्यन्त इसप्रकार गुरुसेवा करने से नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्रह्मधाम को प्राप्त करते हैं। आचार्य्य की मृत्यु के अनन्तर नैष्ठिक ब्रह्मचारी गुणवान् गुरुपुत्र, गुरुपत्नी अथवा गुरु के सपिण्ड पुरुषों की सेवा करें और इन सबके अभाव होने से आचार्य्य की अग्नि के पास ही रहकर होम द्वारा अग्नि सेवा करते हुए आत्मा के उद्धारार्थ प्रयत्न करें। जो विप्र इस प्रकार अखण्डित नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यव्रत का पालन करते हैं उनको परमपद लाभ होता है और पुनः संसार में शरीर धारण नहीं करना पड़ता है। श्रुति में नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये संन्यास की आज्ञा लिखी है। यथा—जाबालश्रुति में :—

ब्रह्मचर्य्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृहीभूत्वा वनी भवेत्। वनीभूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।

ब्रह्मचर्य्य-आश्रम समाप्त करके गृही होवे। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थ होवे। वानप्रस्थाश्रम के बाद संन्यास लेवे। अथवा ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही संन्यास आश्रम ग्रहण करे या गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रम से संन्यास लेवे। वैराग्य उदय होने से ही संन्यास लेवे। इस प्रकार से श्रुति ने वैराग्यवान् नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये संन्यास की आज्ञा दी है। इसप्रकार की आज्ञा प्रारब्धवान् उत्तम अधिकारी के लिये है। जिसका इस प्रकार के नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य में अधिकार नहीं है उसके लिये मनुजी ने उपकुर्व्वाण ब्रह्मचर्य्य की आज्ञा की है। ऐसे ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में कुछ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य धारणपूर्व्वक विद्याभ्यास करने के बाद गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देवें और उनकी आज्ञा लेकर व्रतसमाप्ति का स्नान करके गृहस्थाश्रम ग्रहण करें। यथा—मनुसंहिता में:—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणाऽन्तिकमेव वा॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो गृहस्थाऽऽश्रममावसेत्॥

ब्रह्मचारी तीन वेद समाप्त करने के लिये गुरु के आश्रम में ब्रह्मचर्य्य धारणपूर्व्वक ३६ छत्तीस वर्ष, १८ अट्ठारह वर्ष या ९ नौ वर्ष तक निवास करेंगे अथवा निज शाखा-अध्ययन के अनन्तर वेद की तीन शाखा, दो शाखा, या एक शाखा मन्त्रब्राह्मणक्रमानुसार अध्ययन करके अस्खलित ब्रह्मचर्य्य के साथ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें।

(गृहस्थाश्रम)

पहले ही कहागया है कि ब्रह्मचर्य्य-आश्रम में धर्म्ममूलक प्रवृत्ति की शिक्षा और गृहस्थाश्रम में धर्म्ममूलक प्रवृत्ति की चरितार्थता होती है। गृहस्थाश्रम प्रवृत्ति में मुग्ध होकर बन्धन व अधोगति प्राप्त करने के लिये नहीं है; परन्तु ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही जिनका एकाएक संन्यासाश्रम में अधिकार नहीं है उनको धर्म्ममूलक प्रवृत्तिमार्ग के भीतर से धीरे धीरे उन्नत करते हुए अन्त में निवृत्तिमूलक संन्यास आश्रम के अधिकारी बनाने के लिये ही गृहस्थाश्रम का विधान किया गया है। इसलिये गृहस्थाश्रम में प्रत्येक कार्य्य की विधि

इस प्रकार की होनी चाहिये कि जिससे धर्म्ममूलक प्रवृत्ति की चरितार्थता से निवृत्ति में रुचि हो, वासना की वृद्धि न होकर भावशुद्धिमूलक भोग द्वारा वासना का क्षय हो और आध्यात्मिक मार्ग में उन्नतिलाभ हो। यही गृहस्थाश्रम का मूल मन्त्र है। इस पर ध्यान रखकर प्रत्येक गृहस्थ को अपनी जीवनचर्य्या का प्रतिपालन करना चाहिये। अब इसी भाव को लक्ष्य में रखते हुए गृहस्थाश्रमधर्म्म का निर्द्देश किया जाता है।

मनुजी ने आज्ञा की है कि:—

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥

गुरु की आज्ञा से यथाविधि व्रतस्नान व समावर्त्तन करके द्विज सुलक्षणा सवर्णा कन्या का पाणिग्रहण करे। विवाहसंस्कार गृहस्थाश्रम का सर्व्व-प्रधान संस्कार है। इसके तीन उद्देश्य हैं। अनर्गल प्रवृत्ति का निरोध, पुत्रोत्पादन द्वारा प्रजातन्तु की रक्षा और भगवत्प्रेम का अभ्यास।

मनुष्य योनि प्राप्त करके जीव के स्वतन्त्र होने से इन्द्रियलालसा अत्यन्त बढ़ जाती है। प्रत्येक पुरुष के चित्त में सभी स्त्रियों के लिये और प्रत्येक स्त्री के चित्त में सभी पुरुषों के लिये भोगभाव प्राकृतिकरूप से विद्यमान है। उसीको सङ्कोच करके एक पुरुष व एक स्त्री के परस्पर में प्रवृत्ति को बांधकर धर्म्म के आश्रय से व भावशुद्धि से तथा बहुत प्रकार के नियमों से उस प्रवृत्ति को भी धीरे धीरे घटाकर अन्त में महाफला निवृत्ति में ही मनुष्य को लेजाना विवाह का प्रथम उद्देश्य है।

विवाह का दूसरा उद्देश्य प्रजोत्पत्ति द्वारा वंशरक्षा और पितृ-ऋण शोध करना है। श्रुति में लिखा है कि:—

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र आदि परम्परा से प्रजा का सूत्र अटूट रखना चाहिये। मनुजी ने कहा है कि:—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्राँश्चोत्पाद्य धर्म्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

ऋषि-ऋण, देव-ऋण व पितृ-ऋण तीनों ऋणों को शोध करके मोक्ष में चित्त को लगाना चाहिये । ऋणत्रय से मुक्त न होकर मोक्षधर्म्म का आश्रय लेने से पतन होता है । स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण, पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण और यज्ञसाधन द्वारा देव-ऋण से गृहस्थ मुक्त होते हैं । आकुमारब्रह्मचारी के सब ऋण ज्ञानयज्ञ में लय होते हैं । उसको उक्त प्रकार से ऋणत्रय से मुक्त नहीं होना पड़ता है परन्तु गृहस्थ के लिये पितृ-ऋणादि शोध करने के लिये पुत्रोत्पादनादि धर्म्म हैं । यही विवाहसंस्कार का दूसरा उद्देश्य है ।

विवाह का तीसरा उद्देश्य भगवत्प्रेम के अभ्यास से आध्यात्मिक उन्नति करना है । जीवभाव स्वार्थमूलक है और ईश्वरभाव परार्थमूलक है । मनुष्य जितना ही स्वार्थ का सङ्कोच करता हुआ परार्थता को बढ़ाता है उतना ही वह ईश्वरभाव और आध्यात्मिक उन्नति को लाभ करता है । जिस कार्य्य के द्वारा इस स्वार्थभाव का सङ्कोच और परार्थभाव की पुष्टि हो वह धर्म्मकार्य्य और भगवत्कार्य्य है । विवाहसंस्कार के द्वारा मनुष्य इस परार्थ-भाव को शिक्षा प्राप्त करने लगता है क्योंकि पुरुष का जो स्वार्थ अपने में ही बद्ध था वह विस्तृत होकर पहले स्त्री में और पीछे पुत्र, कन्या व समस्त परिवार में बंट जाता है, इससे परार्थभाव बढ़कर आध्यात्मिक मार्ग में उन्नति होती है । यही परार्थभाव अपने घर से प्रारम्भ होकर क्रमशः समाज, देश व समस्त संसार के साथ मिलजाता है, तभी जीव "वसुधैव कुटुम्बकम्" होकर मुक्त होजाते हैं । विवाहसंस्कार के द्वारा इस भाव का प्रारम्भ होता है इसलिये यह प्रधान संस्कार है इससे आध्यात्मिक उन्नति होती है । द्वितीयतः इसके द्वारा भगवत्प्रेम का अभ्यास होता है । सकल रसों के मूल में सच्चिदानन्द का आनन्द रस ही भरा हुआ है । वही एक रस माया के आवरण से कहीं प्रेम, कहीं स्नेह, कहीं श्रद्धा, कहीं काम, कहीं मोह आदि नाना रसों में विभक्त होगया है । इन्हीं रसों के प्रवाह की गति को मोड़कर भगवान् की ओर लगाने से ये ही सब भगवत्प्रेमरूप हो जाते हैं । विवाहसंस्कार के द्वारा इसी भगवत्प्रेम का अभ्यास होता है ।

पति पत्नी परस्पर में प्रीतिभाव को बाँध करके परोक्षरूप से भगवत्प्रेम की ही शिक्षालाभ करते हैं और उसी परस्पर में अभ्यस्त प्रेम को धीरे धीरे भगवान् की ओर लगाकर आध्यात्मिक उन्नति और शुद्ध आनन्द को लाभ करते हैं। यही विवाह का तृतीय उद्देश्य है।

स्त्री व पुरुष दोनों विवाहसंस्कार से मिलकर किस प्रकार शनैः शनैः एक अद्वितीय पूर्णता को प्राप्त होते हैं सो नारीधर्म्मनामक अध्याय में कहा जायगा।

विवाह का और एक महान् उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा दम्पति का जीवन मधुरिमामय व दिव्यभावपूर्ण हो जाता है। प्रेमपाशबद्ध स्त्री-पुरुष सदा ही परस्पर को सन्तुष्ट रखने के लिये उत्सुक रहा करते हैं और उसी कारण से जो कुछ कार्य्य करते हैं सभी में उदारता, भावशुद्धि व परार्थपरता बढ़ती है। अच्छी तरह से पान, भोजनादि करने की इच्छा सभी में होती है परन्तु केवल अपने ही सुख के लिये पान, भोजनादि करने में मनुष्य को लज्जा आती है और वह पान भोजनादि पापभोजनमात्र है। परन्तु यदि ऐसा हो कि एक के पान, भोजनादि से दूसरों की आत्मा सन्तुष्ट होगी तो वह पान भोजनादि पापभोजन न होकर देवसेवा होगी। विवाह के द्वारा यही दिव्यभाव दम्पति के हृदय में उत्पन्न होता है। इस नश्वर क्षणभङ्गुर शरीर का वेषविन्यास करते हुए किस स्त्री को लज्जा नहीं आती? परन्तु प्रियतम के आनन्द के लिये शरीर का यत्न होरहा है, अपने लिये नहीं, इस प्रकार की भावना रखने से वेषविन्यास में लज्जा नहीं आती। अधिकन्तु उसमें यही भाव उत्पन्न होता है कि जितना सौन्दर्य्य अभी है उससे कोटिगुण अधिक न होने से पति देवता के चरणकमल में अर्पण करने योग्य शरीर नहीं होगा। स्त्री का शरीर, मन, शोभा, सौन्दर्य्य सभी पति के सुख के लिये है, अपने लिये नहीं है। प्रकृति का लीलाविलास उष्ट्र के कुङ्कुमवहनवत् पुरुष के भोग व मोक्ष के लिये है यही सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त है। विवाहसंस्कार के द्वारा इस भाव की पुष्टि होकर उदारता व आत्मोन्नति होती है। धनसञ्चय करने से धनदान करने में आनन्द अधिक है। धनसञ्चय करने से लोग कृपण कहकर निन्दा करते हैं व आत्मग्लानि भी होती है, परन्तु पुत्र, कन्यादि के पालन के लिये मितव्ययिता व धन-

सञ्चय आत्मग्लानि उत्पन्न न करके प्रशंसा व सन्तोष ही उत्पन्न करता है एक के भोजन से दूसरे की तृप्ति होगी, एक के सौन्दर्य्य से दूसरे को आनन्द मिलेगा व एक के धनसञ्चय से दूसरे का भावी कल्याण होगा, इस प्रकार साधुजनोचित परार्थभाव की शिक्षा विवाह के द्वारा स्त्री, पुरुष सहज ही पाते हैं। स्वार्थ को धीरे-धीरे परार्थ में मिलाकर लय करदेने से ईश्वर-भाव उत्पन्न करना विवाहसंस्कार का उद्देश्य है इसीलिये विवाहसंस्कार अति उत्तम है।

ऊपरलिखित विवाह के उद्देश्यों की पूर्णता के लिये पाणिग्रहण बहुत विचारपूर्वक होना चाहिये। अन्यथा संसार में अशान्ति, दाम्पत्यप्रेम का अभाव और निकृष्ट प्रजोत्पत्ति की सम्भावना रहती है। अतः विवाहसंस्कार के विषय में नीचे लिखी हुई बातें ध्यान रखने योग्य हैं।

(१) परस्पर विभिन्नरूप और गुणवाले दम्पति के मेल से न दाम्पत्य प्रेम होता है और न अच्छी सन्तानोत्पत्ति होती है।

(२) स्त्री पुरुष में प्रेम की पूर्णता न होने से अच्छी सन्तान नहीं होती है।

(३) कन्या सुलक्षणा न होने से संसार का अकल्याण होता है।

(४) पिता-माता का शारीरिक व मानसिक दोष, गुण व रोग सन्तान को स्पर्श करता है।

(५) वर-कन्या में एक भी अङ्ग का दोष नहीं रहना चाहिये, उससे सन्तान खराब होती है। शारीरिक व मानसिक गुणों के मेल से सन्तान अच्छी होती है।

(६) कन्या की वयः (उमर) पुरुष से कम होनी चाहिये, नहीं तो पुरुष का पुरुषत्वनाश, कठिन रोग व अकाल मृत्यु होती है और सन्तान भी रोगी व दुर्ब्बल होती है।

महर्षि गौतम, वसिष्ठ व याज्ञवल्क्यजी ने अपनी-अपनी संहिताओं में लिखा है कि :—

गृहस्थः सदृशीं भार्य्यां विन्देताऽनन्यपूर्व्वां यवीयसीम्।
गृहस्थो विनीतक्रोधहर्षो गुरुणाऽनुज्ञातः स्नात्वा असमानार्षामस्पृष्टमैथुनां यवीयसीं सदृशीं भार्य्यां विन्देत।

अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत ।
अनन्यपुर्व्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥

गृहस्थ होने के लिये गुरु की आज्ञा लेकर समावर्त्तन संस्कार करते हुए अनुरूपा, भिन्नगोत्रीया, अपने से अल्पवयस्का व पहले किसीके भी साथ अविवाहिता कन्या का पाणिग्रहण करें । मनुसंहिता में लिखा है कि:—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्म्मणि मैथुने ॥
महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाऽविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्ज्जयेत् ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारि-श्वित्रि-कुष्ठिकुलानि च ॥
नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गी न रोगिणीम् ।
नाऽलोमिकां नाऽतिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम् ॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥
यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत यत्पिता ।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाऽधर्म्मशङ्कया ॥

जो कन्या माता की सपिण्डा व पिता की सगोत्री नहीं है, वही विवाह-कार्य्य व संसर्ग के लिये प्रशस्ता है । गो, छाग, मेष व धन-धान्य से समृद्धि-सम्पन्न होने पर भी स्त्रीग्रहण के विषय में दश कुल त्याज्य हैं । जिस कुल में नीच क्रिया होती है, जिसमें पुरुष उत्पन्न नहीं होते हैं, जिसमें वेदाध्ययन नहीं है, जिसमें लोग बहुत रोमयुक्त हैं और जिस कुल में अर्श, क्षय, मन्दाग्नि, अपस्मार, श्वित्र और कुष्ठरोग हैं उस कुल में विवाह-सम्बन्ध नहीं करना चाहिये । जिस कन्या के केश पिङ्गल वर्ण हैं, छः अंगुलि आदि अधिक अङ्ग हैं, जो चिररुग्णा, रोमहीना या अधिक रोम-

वाली, अधिक वाचाल व जिसके चक्षु पिङ्गलवर्ण हैं, ऐसी कन्या से विवाह नहीं करना चाहिये। जिसके किसी अङ्ग में विकार नहीं है, सौम्य नामवाली, हंस या गज की तरह चलनेवाली, सूक्ष्म रोम-केश व दन्तवाली और कोमलाङ्गी कन्या का विवाह करना चाहिये। जिसका भ्राता नहीं है और पिता का वृत्तान्त भी ठीक नहीं मिलता है ऐसी कन्या से पुत्रिका प्रसव करने की व अधर्म्म की आशंका के कारण विवाह नहीं करना चाहिये।

कन्या की तरह वरके भी लक्षण देखना कन्या के पिता-माता का आवश्यक कर्त्तव्य है। रूप, गुण, कुल, शील, स्वास्थ्य, विद्वत्ता, नीरोगता, सच्चरित्रता, ब्रह्मचर्य्य, मर्य्यादा, सुलक्षण, दीर्घायुः, नम्रता, सत्याचार, आस्तिकता, धर्म्म-भीरुता आदि पुरुष के जितने गुण होने चाहिये उन सबों को अवश्य ही कन्या के पिता-माता देख लेवें।

वर कन्या के निर्व्वाचन में वर कन्या या अध्यापक की अपेक्षा पिता माता पर निर्भर करना उत्तम विवाह और भविष्यत् में गृहस्थाश्रम की शान्ति के लिये अधिक हितकर होगा। पुरुष अथवा स्त्री की प्रकृति या लक्षण, वर्त्तमान और अतीत दशा तथा घराने की अवस्था को देखकर निर्णय तो करना ही चाहिये, अधिकन्तु अच्छे ज्योतिषियों के द्वारा जन्मपत्रिका आदि दिखाकर वर-कन्या के भविष्यत् लक्षणों के विषय में निश्चय कर-लेना चाहिये। मनुष्य कर्म्म करने के विषय में स्वतन्त्र होने पर भी प्रारब्ध बलवान् होने के कारण बहुत से कर्म्म प्रारब्ध के अधीन हुआ करते हैं उसीके अनुसार वर-कन्या के गुण, कर्म्म, स्वभाव और भाग्य में भी भविष्यत् में परिवर्त्तन हो सकता है। इसलिये वर्त्तमान अथवा बालकपन के गुण कर्म्म, स्वभाव के मिलाने से भविष्यद्भाग्य का या चरित्र का कुछ भी पता नहीं लग सकता। अतः केवल वर्त्तमान और अतीत पर ही इस विषयका सिद्धान्त निश्चय नहीं करना चाहिये, परन्तु सच्चे बने हुए जन्मपत्र के द्वारा भविष्यत् की अवस्था भी मालूम कर लेनी चाहिए। जन्मपत्रों के द्वारा ग्रहों की दशा मालूम होती है जिससे कर्म्म और कर्म्मफल का भी पता लग-सकता है। इसका वृत्तान्त दूसरे समुल्लास में वेदाङ्ग के अध्याय में कहा गया है। परन्तु वर्त्तमान हो या भविष्यत् हो, गुण, कर्म्म, स्वभाव का विचार और उसीके अनुसार विवाह का भार अध्यापक या वर-कन्या के

ऊपर कभी नहीं छोड़ना चाहिये । पहले तो अध्यापक से इतनी आशा ही नहीं की जा सकती है कि वे पिता-माता की तरह हार्दिकभाव से इतनी जाँच करेंगे इसलिये उन पर निर्भर करना ठीक नहीं है । जिनको वर व वधू को लेकर जीवनयात्रा निर्व्वाह करनी है ऐसे माता-पिता ही हृदय के साथ इसमें यत्न कर सकते हैं । द्वितीयतः वर-कन्या के ऊपर इसका भार छोड़ना तो सम्पूर्ण ही अविचार का काम है । विचार व दूरदर्शिता वृद्धत्व के साथ सम्बन्ध रखती है, युवावस्था के साथ नहीं । युवावस्था में मानसिक वृत्ति बलवती होनेसे प्रायः विचार दब जाया करते हैं और खास करके जहाँ इन्द्रियसुख या काम का सम्बन्ध हो, वहां तो ज्ञान और विचार का सम्बन्ध ही नहीं रहता है । श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है कि :—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणाऽनलेन च ॥

अग्नि की तरह अतृप्त व ज्ञानी के नित्य शत्रु काम के द्वारा ज्ञान पर आवरण पड़ता है । विवाह के पहले वरकन्या का निर्व्वाचन करना विचार और दूरदर्शिता का काम है । वर और कन्या से इस दूरदर्शिता की आशा कभी नहीं की जा सकती है । यदि वर-कन्या की उमर अधिक हो तो उनका परस्पर साक्षात् होने से परस्पर के हृदय में कामभाव का उन्मेष होगा जिस से वे यथार्थ गुण, कर्म्म, स्वभाव का विचार नहीं कर सकेंगे और जो कुछ विचार करेंगे सो भोगबुद्धि को मुख्य रखकर करेंगे; अर्थात् इस प्रकार के सम्बन्ध से दम्पति में यावज्जीवन कलह और घर में अशान्ति रहेगी क्योंकि काममूलक सम्बन्ध घर में कभी शान्ति पैदा नहीं करसकता । और यदि कन्या की उमर छोटी हो, जैसा कि शास्त्र में लिखा है तो उससे गुण, कर्म्म, स्वभाव का विचार हो नहीं हो सकता है । अतः पूर्व्वकथित शास्त्रानुसार पिता-माता का ही कर्त्तव्य है कि पुत्र-कन्या की भविष्यत् शुभकामना के लक्षणों को ठीक-ठीक जाँचकर विवाहसंस्कार करें । और जो विवाह इस प्रकार उभय पक्ष के पिता-माता के द्वारा सम्पादित होता है वही विवाह सब प्रकार से श्रेष्ठ है इसमें सन्देह ही नहीं । और यह भी बात सत्य है कि

हिन्दुशास्त्र में कन्या का दान होता है, देय वस्तु के देने में दाता का ही अधिकार है, अन्य किसीका अधिकार नहीं है ।

हमारे शास्त्रों में विवाह आठ प्रकार के लिखे हैं। मनुसंहिता में लिखा है कि:-

ब्राह्मो दैवस्तथैवाऽऽर्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्व्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाऽष्टमोऽधमः ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व्व, राक्षस, पैशाच,—ये आठ तरह के विवाह हैं। इन आठ प्रकार के विवाहों के लक्षणों के विषय में मनुजी ने कहा है कि कन्या को वस्त्र अलंकार आदि से सज्जित करके विद्या और शीलवान् वर को बुलाकर जो कन्यादान किया जाता है उस को ब्राह्मविवाह कहते हैं। ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के होने पर उस यज्ञ में कर्म्म-कर्त्ता ऋत्विक् को अलंकारादि द्वारा सज्जिता कन्या का दान दैवविवाह है। यज्ञादि धर्म्मकार्य्य के लिए एक या दो जोड़ा बैल व गौ लेकर विधि-पूर्व्वक कन्यादान करने को आर्षविवाह कहते हैं। "तुम दोनों मिलकर गृहस्थधर्म्म का आचरण करना" इस प्रकार कहकर विधि के साथ वर की पूजा करके कन्यादान का नाम प्राजापत्यविवाह है। स्वेच्छा से कन्या के कुटुम्बियों को वा कन्या को धन देकर जो कन्याग्रहण हो उसे आसुर विवाह कहते हैं। कन्या और वर दोनों का परस्पर के अनुराग से जो संयोग है उसको गान्धर्व्वविवाह कहते हैं, यह विवाह काममूलक है परन्तु इसमें होम आदि के द्वारा पीछे शास्त्रीय संस्कार हुआ करता है। कन्या के पक्ष के लोगों को मारकर व काटकर और उनका घर तोड़कर रोती हुई और किसी रक्षक को पुकारती हुई कन्या को बलपूर्व्वक हरण करके जो विवाह किया जाता है उसको राक्षसविवाह कहते हैं। निद्रिता, मद्यपान से विह्वला अथवा और तरह से उन्मत्ता स्त्री के साथ एकान्त में सम्बन्ध करके जो विवाह होता है वह अधम और पापजनक विवाह पैशाचविवाह कहाजाता है। इनमें से प्रथम चार विवाहों की प्रशंसा शास्त्रों में की गई है और बाकी चार विवाहों की निन्दा की गई है। यथा—मनुसंहिता में लिखा है कि :—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवाऽनुपूर्व्वशः ।
ब्रह्मवर्च्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्य्याप्तभोगा धर्म्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ।।
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसाऽनृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्म्मद्विषः सुताः ।।
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्ज्जयेत् ।।

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों से जो सन्तान उत्पन्न होती हैं वे ब्रह्मतेज से युक्त और शिष्टप्रिय होती हैं। ऐसी सन्तान सुन्दर स्वरूप, सात्त्विक, धनवान्, यशस्वी, पर्याप्तभोगवान् और धार्म्मिक होकर शतवर्ष तक जीवित रहती हैं और बाकी चार प्रकार के विवाह अर्थात् आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच विवाहों से क्रूर, मिथ्यावादी, धर्म्म और वेद के विद्वेषी पुत्र उत्पन्न होते हैं। अनिन्दित स्त्रीविवाह से अनिन्दित सन्तान और निन्दित स्त्रीविवाह से निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है इस लिये निन्दित विवाह को त्यागदेना चाहिये।

शास्त्रों में धन लेकर कन्यादान की बड़ी निन्दा की गई है। यथा मनु-संहिता में लिखा है कि:—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृहणीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ।।
स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ।।

विचारशील पिता कन्यादान करने के लिये सामान्य भी धन वरपक्ष से न लेवे क्योंकि लोभ से धन लेलेने पर अपत्यविक्रयी का पाप होता है। पिता आदि आत्मीय लोग मोह के कारण स्त्री-धन उसकी दासी वाहन या वस्त्रादि जो कुछ लेते हैं वा जो कुछ भोग करते हैं उससे उनकी अधोगति होती है। किसी किसीने गोवध और अपत्य-विक्रय, दोनों का ही समान पाप कहा है। आर्षविवाह में जो गोमिथुन लिया जाता है

उसको शुल्क नहीं कहना चाहिये क्योंकि वह धर्म्मकार्य्यार्थ लिया जाता है, भोगार्थ नहीं लिया जाता है। और ऐसी ही मनुजी की सम्मति है कि धर्म्मकार्य्यार्थ-यज्ञादि के लिये वह लिया जाता है। वरपक्ष के लोग स्वेच्छा से प्रीति के साथ कन्या को कुछ धन देवें, यदि कन्या का पिता उस धन को न लेकर कन्या को देवे तो उसको भी कन्याविक्रय नहीं कहना चाहिये क्योंकि वह एक प्रकार का व्यवहारमात्र है। स्त्रीजाति की पूजा के लिये शास्त्रों में आज्ञा भी है। यथा-मनुसंहिता में लिखा है कि:—

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्व्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥

जिस कुल में स्त्रियों का समादर है वह वहां देवता लोग प्रसन्न रहते हैं और जहां ऐसा नहीं है उस परिवार में समस्त यागादि क्रिया वृथा होती हैं।

कन्याविक्रय की तरह पुत्र के विवाह में भी कन्या के माता पिता से दबाकर धन लेना एक प्रकार का पुत्रविक्रय है। कन्या के पिता का यह कर्त्तव्य है कि कन्या को कुछ अलङ्कारादि देकर वर के हाथ में समर्पण करे क्योंकि पुत्र की तरह कन्या का भी अधिकार पिता के धन पर है और यह अधिकार प्राकृतिक है। अलङ्कारादि के द्वारा उस प्रकृति की पूजा करनी चाहिये; अर्थात् उस प्रकृतिसिद्ध अधिकार का पालन करना चाहिये। परन्तु पूजा भी अपनी शक्ति और अपने अधिकार के अनुसार हुआ करती है इसलिये वर के पिता को कन्या के पिता से उसकी शक्ति के अतिरिक्त दबाकर धन कभी नहीं लेना चाहिये। कन्या सुन्दरी है, उसका स्वभाव नम्र है व उसके पिता धर्म्मशील और उसकी माता धर्म्मपरायणा है इत्यादि बातों का विचार पहले करना चाहिये। यदि ये सब बातें ठीक-ठीक मिल जायं तो कन्यारत्न को अवश्य ही ग्रहण करलेना चाहिये। इतना होनेपर धन के लिये पीड़न करना नीचता और पाप है। इसी पाप से भारत के बहुतसे समाजों का आजकल अधःपतन होरहा है। पुत्र का भावी सुख और वंश की उन्नति पर पिता का लक्ष्य होना चाहिये। अर्थलोभ से कुटुम्ब में विरोध और अशान्ति उत्पन्न करना अधर्म्म और अविचार का कार्य्य है। सामाजिक नेताओं की दृष्टि इस पर अवश्य आकृष्ट होनी चाहिये।

गृहस्थाश्रम में शान्ति कल्पतरु है और दाम्पत्यप्रेम उस कल्पतरु का मूल है। जिस संसार में पतिपत्नी का परस्पर प्रेम नहीं है वह संसार श्मशान है, दुःख दारिद्रय और अशान्तिरूप प्रेत व पिशाच वहाँ नृत्य करते हैं। दाम्पत्यप्रेम का सर्व्वप्रधान लक्षण दम्पत्ति का परस्पर मनोगत आकर्षण है। इस आकर्षण के प्रधानतः चार हेतु हैं। पहला हेतु शरीरी जीव का स्थूल शरीर का धर्म्म है जो स्वाभाविकरूप से स्त्री के प्रति पुरुष का और पुरुष के प्रति स्त्री का आकर्षण उत्पन्न करता है। आकर्षण का दूसरा हेतु सौन्दर्य्यबोध है। पत्नी पति को और पति पत्नी को अन्य सब पुरुषों और स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सुन्दर देखेंगे, यह भाव उस आकर्षण के मूल में है। संसार में सौन्दर्य्य का ज्ञान भिन्न भिन्न होता है। एकके सामने जो सुन्दर है वह दूसरेके सामने सुन्दर ही होगा यह निश्चय नहीं कहा जा सकता। सौन्दर्य्य चित्त की वृत्ति के साथ सम्बन्ध रखता है। वह वृत्ति अवस्था, शिक्षा और संसर्ग आदि के द्वारा स्त्री पुरुष के चित्त में दाम्पत्य-प्रेम को पुष्ट करती है बालिकापन से प्रेम भी इस भाव को पवित्र और पुष्ट करता है। हिन्दुसमाज में अल्पवयस्का कन्या का विवाह करने की जो विधि है उसके मूल में भी यह वैज्ञानिक सिद्धान्त निहित है। इसका विस्तृत विचार आगे के समुल्लास में किया जायगा। आकर्षण का तीसरा हेतु परस्पर के गुणों का बोध है। पति पत्नी के और पत्नी पति के गुणों का उत्कर्ष अनुभव करेंगे यह भाव आकर्षण के मूल में है। पिता-माता और श्वशुर सास आदि को वर कन्या के सामने परस्पर के रूप और गुणों की प्रशंसा करके दोनों के हृदय में प्रेमभाव को प्रस्फुटित करना चाहिये। दाम्पत्यप्रेम हृदयसरोवर में प्रफुल्ल कमल की तरह है। कमल का विकाश धीरे धीरे ही होता है आकर्षण का चौथा हेतु धर्म्ममूलक प्राण-विनिमय है। हिन्दुशास्त्र में विवाह का संस्कार ही ऐसा है कि जिससे पति के साथ पत्नी का और पत्नी के साथ पति का आध्यात्मिक सम्बन्ध बन जाता है। स्त्री का जीवन पति के भोग और मोक्ष के लिये और पति का जीवन भोगबाधा दूर करके निवृत्ति के लिये होना ही विवाहसंस्कार का लक्ष्य है। इस प्रकार का आध्यात्मिकभाव भी कर्त्तव्य बुद्धि के साथ प्रेम को उत्पन्न करता है।

सती स्त्री का सौभाग्य-अभिमान दाम्पत्यप्रेम को और भी पुष्ट करता है। विशुद्धचित्त स्त्री पुरुष के हृदय, दोनों ही निर्म्मल दर्पण की तरह परस्पर के सम्मुख अवस्थान करते हैं। एकका भाव दूसरे के हृदय में प्रतिबिम्बित हुआ करता है। "मैं उनके हृदय में इतना प्रवेश कर गई हूँ कि उनके हृदय के भाव के प्रकट न होते होते ही मैं समझ लेती हूँ, उनकी पूजा से ही मेरी पूजा है, उनके रहने से ही मेरा रहना है, उनके सुख से ही मेरा सुख है, मेरे रहने से उनको सुख होता है इसलिये मैं रहती हूँ।" इस प्रकार का सौभाग्य का अभिमान दाम्पत्यप्रेम को चन्द्रकला की तरह बढ़ाता हुआ संसार में शान्तिरूपी अमृतधारा की वर्षा करता है।

विवाहसंस्कार के बाद इसी प्रकार दाम्पत्यप्रेम के साथ पति-पत्नी संसारयात्रा को निर्व्वाह करते हैं। इसके लिये जितने कर्त्तव्यों का निर्णय शास्त्र में किया गया है सो नीचे संक्षेपतः बतलाये जाते हैं। विवाह का मुख्य उद्देश्य प्रजा की उत्पत्ति करना है इसलिये शास्त्र के अनुसार गर्भाधान संस्कार के अनुसार सन्तानोत्पत्ति करना चाहिये। इस विषय में मनुजी ने कहा है कि :—

ऋतुकालाऽभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।

एकपत्नीव्रत होकर ऋतुकाल में अपनी स्त्री में गर्भाधान करना चाहिये। और भी लिखा है कि:—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्राऽर्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम्॥
पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्रीभर्वत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्य्ययः॥

निन्द्यास्वष्टासु चाऽन्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राऽश्रमे वसन् ॥

पहली चार दिवा रात्रियां लेकर स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल १६ सोलह रात्रियां हैं । इनमें पहली चार रात्रियाँ व एकादशी और त्रयोदशी रात्रियां ये ६ छः रात्रियाँ निषिद्ध हैं, बाकी १० दस रात्रियां स्त्री-गमन के लिये प्रशस्त हैं । इन दसों में से भी छठी आंठवीं दसवीं आदि युग्म रात्रियों में गर्भ होने पर पुत्र होता है और पाँचवीं सातवीं नवीं आदि अयुग्म रात्रियों में गर्भाधान करने से कन्या होती है इसलिये पुत्र के लिये ऋतुकाल की युग्म रात्रियों में ही गमन का विधान किया गया है । अयुग्म रात्रि होने पर भी पुरुष का वीर्य्य अधिक होने पर पुत्र होता है और युग्म रात्रि होने पर भी रज के आधिक्य होने से कन्या उत्पन्न होती है । और दोनों के समान होने से क्लीब अथवा यमज कन्यापुत्र उत्पन्न होते हैं । और यदि दोनों के ही रजवीर्य्य असार हों तो गर्भ ही नहीं होता है । इस प्रकार निन्दित छः रात्रि और अनिन्दित दस रात्रियों में से कोई भी आठ रात्रियाँ अर्थात् कुल १४ चवदह रात्रियों में सम्बन्ध त्याग करके बाकी दो रात्रियों में जिनमें कोई पर्व्व न हो, जो स्त्री पुरुष गमन करते हैं वे आश्रम में रहने पर भी ब्रह्मचारी बने ही रहते हैं । पूर्णिमा, अमावस्या, चतुर्द्दशी, अष्टमी और संक्रान्ति को पर्व्वदिन कहा जाता है इस लिये इन दिनों में भी स्त्री सम्बन्ध करना मना है । दिवाभाग में संसर्ग अत्यन्त दोषयुक्त हैं । वेदादि शास्त्रों में लिखा है कि : –

प्राणं वा एते प्रस्तन्दति
ये दिवा रत्या संयुञ्जन्ते ।

दिन में रति के द्वारा प्राण में हानि होती है । सन्ध्याकाल में भी संसर्ग नहीं करना चाहिये । यम संहिता में लिखा है कि: —

चत्वारि खलु कर्म्माणि सन्ध्याकाले विवर्ज्जयेत् ।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायञ्च चतुर्थकम् ॥

सन्ध्याकाल में आहार, मैथुन, नींद और स्वाध्याय, ये नहीं करने

चाहिए । इसी प्रकार प्रातःकाल के समय में भी संसर्ग प्राणान्तकर है । ऋतुकाल की तो बात ही क्या कहना है, ऋतुकाल में संसर्ग सर्व्वथा त्याग करना उचित है उससे स्त्री-पुरुष दोनों को ही कठिन पीड़ा, आध्यात्मिक अवनति और प्राणनाश होता है । रजःसंयम का काल साधारणतः चार दिन होने पर भी स्वास्थ्य के व्यतिक्रम से और अधिक भी हो सकता है । इसलिये नियम यह होना चाहिये कि जब तक रजःसंयम न हो तब तक संसर्ग न हो । उदर में आहार्य्य द्रव्य अपक्व रहते स्त्री-पुरुष का संयोग नहीं होना चाहिये । स्त्री अथवा पुरुष किसीके शरीर में किसी प्रकार की ग्लानि रहने पर भी स्त्रीसंयोग होना निषिद्ध है । गर्भिणी स्त्री के साथ सम्बन्ध व रजोदर्शन के पहले सम्बन्ध महापाप है । गर्भिणी स्त्री के चित्त में किसी प्रकार के कामभाव के उत्पन्न होने से गर्भस्थ सन्तान कामुक व खराब होता है इसलिये हिन्दुशास्त्र में उस दशा में पुरुष का सम्बन्ध निषेध किया गया है और बहुत प्रकार के संस्कार व धर्म्मभाव बढ़ाने की आज्ञा की है । और स्त्री सम्बन्ध जब संतान के लिये है तो उस समय अर्थात् गर्भ के समय में सम्बन्ध वृथा है । गर्भाधान संस्कार शास्त्रीय विधि के अनुसार होना चाहिये जो आगे किसी समुल्लास में वर्णन किया जायगा । किसी-किसी निरंकुश व्यक्ति की सम्मति है कि स्त्रीसम्बन्ध से निवृत्त रहने पर पुरुष को रोग हो जाता है यह सम्पूर्ण मिथ्या है । भीष्मदेव ने ब्रह्मचर्य्य से इच्छामृत्यु लाभ किया था, बीमार नहीं हो गये थे । अवश्य चित्त में कामभाव रहने से उसको दमन करने की इच्छा न करके जो लोग मानस मैथुन किया करते हैं उनको रोग हो सकता है परन्तु संयमी ब्रह्मचारी वीर्य्य के बल से सकल प्रकार की उन्नति कर सकते हैं क्योंकि उनका शरीर नीरोग और दृढ़ होता है, उनमें द्वन्द्वसहिष्णुता और परिश्रम करने की शक्ति बढ़ती है, उनमें आयु और मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है और उनमें चित्त की एकाग्रता और मानसिक शक्ति बढ़ती है एवं उनको रोग नहीं होता है ।

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदाऽनध्ययनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणाऽतिक्रमेण च ॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्म्मणा ।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥

(मनुसंहिता)

खराब विवाह, श्राद्धादि क्रियालोप, वेद-अध्ययन का अभाव, ब्राह्मणों का अनादर, अयाज्य का याजन, श्रौत स्मार्त्त कर्म्मों के प्रति नास्तिक्य बुद्धि और वेदहीनता आदि कारणों से कुल नष्ट हो जाते हैं। और भी लिखा है कि:—

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यांश्च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥

जिस कुल में वेद का अध्ययन और वैदिक कर्म्म का अनुष्ठान होता है वह धनी न होने पर भी कुलों की गणना में उत्कृष्ट और प्रशंसापात्र हुआ करता है। इसलिये गृहस्थ को अपने कुल और आश्रम का आचार और नित्यकर्म आदि यथाविधि करने चाहिये।

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानञ्च पक्तिञ्चाऽन्वाहिकीं गृही ॥
पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥
तासां क्रमेण सर्व्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥

गृही वैवाहिक अग्नि में प्रतिदिन नियम से गृहकर्म्म करे एवं पञ्च महायज्ञ और पाकक्रिया भी करे ; गृहस्थ के घर में नाना जीवों के मरने के

स्थान साधारणतः पाँच हैं। यथा-चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखल और कलश। इन पाँच पदार्थों को काम में लाने से जीव मरते हैं इसलिये इस प्रकार जीवों के मरने से जो पाप प्रतिदिन अवश्य होता है उससे निस्तार पाने के लिये महर्षियों ने पञ्च महायज्ञरूप नित्य कर्म्मका विधान किया है। पढ़ना-पढ़ाना, ब्रह्मयज्ञ, तर्पण पितृयज्ञ, होम, देवयज्ञ, पशु-पक्षी, आदिकों-को अन्न देना, भूतयज्ञ और अतिथिसेवा नृयज्ञ का नाम है। यथाशक्ति जो गृहस्थ पञ्चयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं उनको पञ्चसूना का पाप नहीं लगता है। पञ्चसूनादोष से मुक्त होने के सिवाय पञ्चमहायज्ञ के द्वारा किस प्रकार विश्वजीवन के साथ एकता प्राप्त करके मनुष्य मुक्तिपद तक प्राप्त कर सकता है इसका पूरा विज्ञान प्रथम समुल्लास में दिया गया है। पञ्च महायज्ञ की क्रिया-विधि अगले किसी समुल्लास में बताई जायगी। मनुजी ने लिखा है कि:—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनाऽन्नेनचाऽन्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्जयेष्ठाऽऽश्रमो गृही॥

जिस प्रकार प्राणवायु के आश्रय से सभी प्राणी जीवित रहते हैं; उसी प्रकार गृहस्थाश्रम द्वारा भी अन्य आश्रमों के लोग जीवित रहते हैं क्योंकि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी ये तीनों आश्रमही गृहस्थ द्वारा विद्या और अन्नदान से प्रतिपालित होते हैं इसलिये गृहस्थाश्रम सब आश्रमों से श्रेष्ठ है। गृहस्थ के लिये अतिथिसेवा की महिमा शास्त्रों में बहुतही वर्णित है। गृहस्थ प्रतिदिन बलिवैश्वदेव के अनन्तर सबके पहिले अतिथि को भोजन करावेंगे और भिक्षुक ब्रह्मचारी को भिक्षा देंगे यह आज्ञा मनुजी ने की है। पराशरजी ने लिखा है कि:—

सन्ध्या स्नानं जपो होमः स्वाध्यायो देवताऽर्च्चनम्।
वैश्वदेवाऽऽतिथेयञ्च षट् कर्म्माणि दिने दिने॥
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा।
वैश्वदेवेति सम्प्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥

न पृच्छेद्गोत्रचरणं न स्वाध्यायव्रतानि च।
हृदयं कल्पयत्तस्मिन् सर्व्वदेवमयो हि सः॥
अतिथिर्यस्य भग्नाऽऽशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते।
पितरस्तस्य नाऽश्नन्ति दशवर्षशतानि च॥
न प्रसज्यति गोविप्रो ह्यतिथिं वेदपारगम्।
अददन्नमात्रं तु भुक्त्वा भुङ्क्ते तु किल्बिषम्॥

प्रिय या अप्रिय व पण्डित या मूर्ख, जैसा हो हो वैश्वदेव के समय उपस्थित होनेपर वही अतिथि कहलावेगा और उसकी सेवा से स्वर्गलाभ होगा। अतिथि का गोत्र, आचरण, स्वाध्याय और व्रत, कुछ भी न पूछकर प्रेम से सेवा करना चाहिए क्योंकि अतिथि सर्व्वदेवों के रूप हैं। अतिथि निराश होकर जिसके घर से लौट जाता है उसके पितर सहस्र वर्ष पर्यन्त अनाहार में रहते हैं। जो विप्र वेदज्ञ को अन्न न देकर भोजन करते हैं वे पाप-भोजन करते हैं। अतिथि के लक्षण के विषय में मनुजी ने कहा है कि जो एकरात्रमात्र दूसरे के घर में बास करे वह अतिथि है; अर्थात् अनित्य स्थिति होने के कारण ही वह अतिथि है। गृहस्थ का अन्न भोग के लिए नहीं, परंतु यज्ञ के लिये प्रस्तुत होना चाहिये, क्योंकि भगवान् ने गीता में लिखा है किः—

यज्ञशिष्टाऽशिनःसन्तो मुच्यन्ते सर्व्वकल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

नृयज्ञ, भूतयज्ञ आदिकों के शेष अन्न को खाने से सब पापों से मुक्त होता है। जो अपने लिये अन्न पाक करते हैं वे पाप भोजन करते हैं। अपने अधीन या आश्रित जो नौकर आदि हैं उनपर गृहस्थों की कृपा रहनी चाहिये। जिनकी स्थिति गृहस्थों की दया पर निर्भर है उनपर सब तरह से दया और स्नेह का वर्त्ताव करना गृहस्थका अवश्य कर्त्तव्य है। ब्राह्ममुहूर्त्त में शय्या से उठ कर शौचादि से निश्चिन्त होकर प्रातः संध्या गायत्रीजप करना और इसीतरह सायंकाल को भी गायत्रीजप करना चाहिये। मनुजीने लिखा है किः—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिञ्च ब्रह्मवर्च्चसमेव च॥

ऋषिलोग दीर्घ काल तक सन्ध्या करने से दीर्घायु, प्रज्ञा, यश, कीर्त्ति और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया करते थे । सन्ध्या और पञ्च महायज्ञ गृहस्थ के नित्यकर्म हैं, इनके न करने से पाप होता है इसलिये इन दोनों कर्म्मों में कभी आलस्य नहीं करना चाहिये । सन्ध्योपासना के अतिरिक्त गुरु से दीक्षा लेकर इष्टदेव पूजा, जप व प्राणायाम मुद्रा आदि साधन करना चाहिये । अब मनुसंहिता में से गृहस्थाश्रम में पालन करने योग्य कर्त्तव्यों का निर्देश किया जाता है ।

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ।।
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ।।
सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्य्ययः ।।
इन्द्रियार्थेषु सर्व्वेषु न प्रसज्जेत कामतः ।
अतिप्रसक्तिञ्चैतेषां मनसा सन्निवर्त्तयेत् ।।

जिससे जीवों का कुछ भी अनिष्ट न हो या अभावपक्ष में उनको सामान्य ही कष्ट हो, इस प्रकार की वृत्ति आपत्काल भिन्न और सब समय में आश्रय करके गृहस्थ जीवनयात्रा निर्व्वाह करे। केवल संसारयात्रा निर्व्वाह के लिये ही शरीर को कष्ट न देकर अनिन्दित कर्म्मों से धनसञ्चय करना चाहिये । सुखार्थी मनुष्य सन्तोष को आश्रय करके ही संयत रहे क्योंकि संतोष ही सुख का मूल और असन्तोष दुःख का कारण है । इच्छा से किसी इंद्रिय के विषय में आसक्त नहीं होना चाहिये, मनोबल से इन्द्रियों की अत्यासक्ति परित्याग करनी चाहिये ।

अग्निहोत्रञ्च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्द्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ।।

उदित होमकारी दिन व रात्रि के पहले और अनुदित होमकारी दिन

व रात्रि के अन्त में अथवा उदित होमकारी दिन के पहले व अन्त में और अनुदित होमकारी रात्रिके पहले व अन्त सदा अग्निहोत्र करें। कृष्ण-पक्ष पूर्ण होने पर दर्शनामक यज्ञ और पूर्णिमा में पौर्णमासनामक यज्ञ करें।

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥
रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥
नाऽश्नीयाद्भार्य्यया सार्द्धं नैनामीक्षेत चाऽश्नतीम् ।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चाऽऽसीनां यथासुखम् ॥

काम से उन्मत्त होनेपर भी रजोदर्शन के निषिद्ध चार दिन कदापि स्त्रीगमन नहीं करे और न स्त्री के साथ सोवे। रजस्वला स्त्री से गमन करने पर पुरुष के तेज, प्रज्ञा, बल, चक्षु और आयु सबही नष्ट होजाते हैं। स्त्री के साथ भोजन न करे, जिस समय वह भोजन कर रही है उस दशामें उसको न देखे और छींकने, जँभाई लेने के समय या यथासुख बैठने के समय भी उसको न देखे।

नाऽन्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्व्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥
"रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत्" ।
"न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्" ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नाऽऽर्द्रपादस्तु संविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥

एक वस्त्र पहनकर अन्न नहीं खाना चाहिये। विवस्त्र होकर स्नान नहीं करना चाहिये। रास्ते पर, भस्म में या गोचारण स्थान में मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिये। रात को वृक्ष के नीचे नहीं रहना चाहिये। नग्न होकर नहीं सोना चाहिये। उच्छिष्टमुखसे चलना नहीं चाहिये। आर्द्रपाद होकर (पैर धोकर) भोजन करना चाहिये परन्तु आर्द्रपाद से शयन नहीं

करना चाहिये । आर्द्रपाद होकर भोजन करने से दीर्घायु लाभ होता है ।

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥
बालाऽऽतपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम् ।
न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥
न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ।

दूसरे के धारण किये हुए जूते, वस्त्र अलङ्कार, जनेऊ, माला व कमण्डलु धारण नहीं करने चाहियें । उदय होते हुए सूर्य्य का ताप, चिता का धूम और भग्न आसन, ये सब त्याज्य हैं । स्वयं नख व रोम का छेदन या दाँत से नख-छेदन नहीं करना चाहिये । दोनों हाथों से सिर खुजलाना नहीं चाहिये । उच्छिष्टमुख होने पर सिर को नहीं छूना चाहिये । सिर धोये बिना स्नान नहीं करना चाहिये ।

अमावास्यामष्टमीञ्च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥
न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नाऽतुरो न महानिशि ।
न वासोभिः सहाऽजस्रं नाऽविज्ञाते जलाशये ॥
वैरिणं नोपसेवेत सहायञ्चैव वैरिणः ।
अधार्म्मिकं तस्करञ्च परस्यैव च योषितम् ॥
न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ॥
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥

अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा व चतुर्दशी, इन तिथियों में स्त्री के ऋतुस्नाता होने पर भी स्नातक द्विज कदापि स्त्रीगमन न करे । भोजन के बाद स्नान नहीं करना चाहिये । पीड़ित अवस्था में, मध्यारात्रि में, बहुत वस्त्र पहन कर अथवा अज्ञात जलाशय में कभी स्नान नहीं करना चाहिये । शत्रु की,

शत्रु के सहायक की, अधार्मिक की, चोर की व परस्त्री की सेवा नहीं करनी चाहिये। परस्त्रीगमन करने से जितना आयुःक्षय होता है उतना और किसीसे नहीं होता है।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यम प्रियम् ।
प्रियञ्च नाऽनृतं ब्रूयादेष धर्म्मः सनातनः ॥
अभिवादयेद्वृद्धाँश्च दद्याच्चैवाऽऽसनं स्वयम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥

सत्य और प्रिय वचन कहना चाहिये। अप्रिय सत्य नहीं कहना चाहिये। प्रिय होने पर भी मिथ्या नहीं कहना चाहिये। यही सनातन धर्म्म है। गृहागत वृद्धों को प्रणाम व आसन देना चाहिये। उनके सामने कृताञ्जलि हो बैठना चाहिये। और उनके जाने के समय थोड़ी दूर तक पीछे पीछे जाना चाहिये।

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्म्मसु
धर्म्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धर्म्ममक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥
सर्व्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥

आलस्य त्याग करके श्रुति स्मृति के अनुकूल, अपने वर्णाश्रम धर्म्मद्वारा विहित और सकल धर्म्मों के मूलस्वरूप सदाचारसमूह का पालन करें। आचारपालन से आयु, उत्तम सन्तति व यथेष्ट धनलाभ होता है और कुलक्षणों का नाश होता है। दुराचारी पुरुष लोकसमाज में निन्दित, सदा ही दुःखभागी, रोगी और अल्पायु होते हैं। सकल प्रकार के शुभ लक्षणों से हीन होने पर भी आचारवान्, श्रद्धालु और दोष-दर्शनप्रवृत्ति-

रहित मनुष्य सौ वर्षतक जीवित रहते हैं। आचार का और भी वर्णन आगेके किसी समुल्लास में किया जायगा।

यद्यत्परवशं कर्म्म तत्तद्यत्नेन वर्ज्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः॥
सर्व्वं परवशं दुःखं सर्व्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥
यत्कर्म्म कुर्व्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्व्वति विपरीतं तु वर्ज्जयेत्॥

परवश सभी कर्म्म यत्न से परित्याग करे और आत्मवश कर्म्म यत्न से करे। परवश कर्म्म सभी दुःखद हैं और आत्मवश सभी सुखदायी हैं। सुख दुःख का यही संक्षेप से लक्षण जाने। जिस कर्म्म से आत्मा का सच्चा सन्तोष हो वही यत्न से करना चाहिये। और जिस कर्म्म से अन्तरात्मा में ग्लानि उत्पन्न हो ऐसा कर्म्म नहीं करना चाहिये।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेभ्यो न समाचरेत्॥

जिस कर्म्म से अपनी आत्मा दुःखी हो ऐसा आचरण दूसरेके साथ भी नहीं करना चाहिये, यह महाभारत का वचन है।

न सीदन्नपि धर्म्मेण मनोऽधर्म्मे निवेशयेत्।
अधार्म्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्य्ययम्॥
नाऽधर्म्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति॥
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्म्मवर्ज्जितौ।
धर्म्मञ्चाऽप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥

अधार्म्मिक लोगों का शीघ्र ही नाश होता है, ऐसा जानकर धर्म्म से आपाततः असुविधा होने पर भी अधर्म्म नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार

खेती में बीज बोने से उसी वक्त ही फल नहीं देता है उसी प्रकार अधर्म्म का भी फल साधारणतः उसी वक्त नहीं मिलता है। परन्तु कुछ दिनों के बाद यथा काल अधर्म्माचारी समूल विनाश को प्राप्त होता है। धर्म्मविरुद्ध अर्थ व काम त्याग करने चाहियें। और जिस धर्म्मकार्य्य से आगे असुबिधा हो, कष्ट हो अथवा जो लोकविरुद्ध हो ऐसा धर्म्मकार्य्य भी नहीं करना चाहिये। सभी धर्म्मकार्य्य देश, काल, पात्र के अनुसार होने से ही सुखदायी होते हैं।

मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्य्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥
प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्ज्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याऽऽशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति॥

माता, पिता, भगिनी, पुत्रवधू, पुत्र, स्त्री, कन्या, भ्राता, नौकर आदि के साथ कभी झगड़ा करना नहीं चाहिये। प्रतिग्रह की शक्ति रहने पर भी प्रतिग्रह में आसक्ति नहीं करनी चाहिये क्योंकि प्रतिग्रह के द्वारा शीघ्र ब्रह्म-तेज नष्ट होता है।

न वार्य्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नाऽवेदविदि धर्म्मवित्॥
दानधर्म्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्त्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः॥

विडालतपस्वी, बकव्रती या वेदज्ञानहीन द्विज को जलमात्र प्रदान भी धार्म्मिक पुरुष को नहीं करना चाहिये। अपात्र में दान करने से दाता व ग्रहीता दोनोंको ही नरक होता है। विद्या व तपस्यायुक्त पात्र मिलने से सन्तोष के साथ यथाशक्ति इष्टापूर्त्तादि व दानधर्म्म का अनुष्ठान करना चाहिये।

सर्व्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्य्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्प्पिषाम्॥

जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना व सर्पिः, इन सब वस्तुओं के दान से विद्यादान ही श्रेष्ठ है ।

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमाँस्त्यजेत् ॥

कुल की उन्नति करने के लिये विद्या व आचार से युक्त उत्तम उत्तम कुलों के साथ कन्यादानादि से सम्बन्ध करे और अधम-अधम कुलों के साथ सम्बन्ध त्याग करे ।

वाच्यर्था नियताः सर्व्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्व्वस्तेयकृन्नरः ॥

सकल पदार्थ ही वाक्य में नियत और वाक्यमूलक हैं एवं वाक्य से ही सब पदार्थ निर्गत हुए हैं इसलिये जो मनुष्य मिथ्या बोलकर वाक्य का अपलाप करता है वह सब प्रकार से चोर है ।

नाऽमुत्र हि सहायाऽर्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्म्मस्तिष्ठति केवलः ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्म्मस्तमनुगच्छति ॥
तस्माद्धर्म्मं सहायाऽर्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्म्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥
धर्म्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम् ॥
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥

परलोक में सहायता के लिये माता, पिता, स्त्री, पुत्र व ज्ञाति, कोई भी नहीं रहता है, केवल धर्म्म ही परलोक में सहायक है। मनुष्य एकाकी ही जन्मता है, एकाकी ही लय प्राप्त होता है और एकाकी ही अपने पाप-पुण्य का फल भोग करता है। मृत शरीर को काष्ठ व लोष्ट की तरह परित्याग

करके विमुख होकर आत्मीय लोग चले जाते हैं, केवल धर्म्म ही जीव का अनुगमन करता है; इसलिये परलोक में सहायता के अर्थ गृहस्थाश्रम में रहने के समय क्रमशः धर्म्मसञ्चय करे। धर्म्म की सहायता से दुस्तर नरक से उद्धार हो सकता है। धर्म्मपरायण और तपस्या से निष्पाप पुरुषको धर्म्म ही मृत्यु के पश्चात् दीप्तिमान् आकाशशरीर धारण कराकर शीघ्र सुखमय परलोक में ले जाता है। इसलिये गृहस्थाश्रम का समस्त कार्य्य धर्म्मानुकूल होना चाहिये जिससे प्रवृत्तिमार्ग के आश्रम से धीरे-धीरे निवृत्ति-लाभ होते हुए आश्रमान्तर ग्रहण की योग्यता हो। इस प्रकार से मनुजी ने गृहस्थ के लिये बहुत प्रकार के आचार व धर्म्मविधियाँ बतलाई हैं जिससे प्रत्येक गृहस्थ अपने आश्रमधर्म्म को पूरा पूरा निभा सकते हैं। प्रत्येक गृहस्थ पिता-माता का कर्त्तव्य है कि वे आदर्शभूत होकर इन आचारों का पालन करते हुए अपनी सन्ततियों को भी इनके पालन में प्रवृत्त करें क्योंकि इनसे अपने कुल की उन्नति, आयु, सम्पत्ति व सकल प्रकार की शान्ति मिलेगी।

विचार करने पर यह भी निश्चय होगा कि इन सब सदाचारों में आध्यात्मिक व मानसिक उन्नति के सिवाय शारीरिक उन्नति के लिये पदार्थ-विद्या (सायन्स) की भित्ति भी सभीमें महर्षियों ने रक्खी है। कोई भी आचार सायन्स से विरुद्ध नहीं है। महर्षियों की वैज्ञानिक बुद्धि दैनिक सदाचारों में भी त्रिविध उन्नति के लिये युक्ति बताती है। एक दो दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। पहले बताया गया है कि 'रात को वृक्ष के नीचे नहीं सोना चाहिये" यह आज्ञा महर्षियों ने हजारों वर्ष पहले से की है। परन्तु आज सायन्स के जाननेवालों ने इसका पता लगाकर देखा है कि महर्षियों की आज्ञा वास्तव में सायन्स के अनुकूल थी। वृक्ष की प्रकृति दिन आक्सीजन (Oxygen) त्याग करने की और कार्बन डायक्साइड् (Carban dioxide) ग्रहण करने की है। आक्सीजन मनुष्य के शरीर के लिय परम हितकारी है इसलिये दिन में वृक्ष के नीचे बैठने से आक्सीजन के द्वारा शरीर को विशेष उपकार पहुँचता है अतएव महर्षिलोग वृक्ष के नीचे बैठ शिष्यों को उपदेश करते थे। परन्तु रात को वृक्ष आक्सीजन लेता है और कार्बन डायक्साइड् त्याग करता है इसलिये रात को वृक्ष के नीचे

रहने से आक्सिजन कम मिलता है और कार्बन डायक्साइड् अधिक मिलता है। कार्बन डायक्साइड् मनुष्य के शरीर को नष्ट करता है अतः रात को वृक्ष के नीचे रहने से वृक्ष से निकले हुए कार्बन डायक्साइड् के द्वारा शरीर को बहुत ही हानि पहुँचेगी अतः महर्षियों ने लिखा है कि रात को वृक्ष के नीचे नहीं रहना चाहिये। इसी प्रकार "उत्तर दिशा में मस्तक रखकर नहीं लेटना चाहिये" यह आज्ञा भी महर्षियों ने की है जो कि सायन्स के पूर्ण अनुकूल है। सबही सायन्सवेत्ता लोग जानते हैं कि पृथिवी एक बड़े भारी चुम्बक की तरह सब पदार्थों को खींचती है। पृथिवी का वह आकर्षण उत्तर दिशा से जारी है इसलिये उत्तर दिशा में सिर करके सोने से मस्तिष्क पर अधिक आकर्षण का सम्बन्ध होकर मस्तिष्क में हानि होगी। इसीलिये महर्षियों ने सदाचार में इस प्रकार सोने को मना किया है। इस तरह जितनी बातें उन्होंने सदाचाररूप से लिखी हैं सभीमें कुछ न कुछ सायन्स की युक्ति भरी हुई है जिसको सायन्सवेत्ता विचार करके जान सकते हैं। दृष्टान्तरूप से उक्त प्रकार से एक दो बातें ही यहां बताई गई हैं।

सकल परिवार ही एक राज्य की तरह है। जिस प्रकार राजा की योग्यता और न्यायपरता के बल से राज्य में शान्ति रहती है उसी प्रकार परिवार की भी शान्ति और उन्नति गृहकर्त्ता और गृहकर्त्री की न्यायपरता पर निर्भर करती है। परिवारों के बीच में वैमनस्य, लड़ाई व वाग्वितण्डा आदि अशान्तिकर विषय जिससे न होसकें इस विषय में कर्त्ता व कर्त्री को सदाही सावधान रहना चाहिये और कभी हो भी जाय तो निष्पक्षविचार से शीघ्र ही शान्त कर देना चाहिये। गृहकार्य्य परिवार के स्त्री व पुरुषों में विभक्त करदेना, स्वयं सब कार्यों पर दृष्टि रखना, सबको मदद देना और उस कार्य्यविभाग में परिवर्त्तन करना, यह सब गृहिणी व गृहस्वामी का कर्त्तव्य है। सुस्थ शरीर व्यक्तिमात्र को ही अर्थोपार्ज्जन की चेष्टा करनी चाहिये। दूसरे के ऊपर अन्न व वस्त्रादि के लिये निर्भर करना ठीक नहीं है। इससे परिवार में दरिद्रता व अशान्ति फैलती है। प्रत्येक गृहस्थ को व्यय के अतिरिक्त सञ्चय की ओर भी लक्ष्य रखना चाहिये। मितव्ययी लोग ही मितसञ्चयी हो सकते हैं। सञ्चय का लक्ष्य खर्च के पहले होना चाहिये, पीछे नहीं होना चाहिये। आय-व्यय का हिसाब गृहस्थ को अवश्य ही रखना चाहिये।

आय के अनुसार ही व्ययसङ्कोच होना चाहिये । परिवाररूपी छोटा राज्य समाजरूपी बृहद्राज्य के अन्तर्भुक्त है इसलिये सामाजिक शान्ति व उन्नति के साथ प्रत्येक परिवार की शान्ति व उन्नति का सम्बन्ध है । प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि सामाजिक अनुशासन को मानकर चले, उसकी कदापि अवज्ञा न करे अधिकन्तु सामाजिक उन्नति के लिये अपना स्वार्थत्याग भी करे । प्रत्येक परिवार जबतक सामाजिक स्वार्थ के लिये अपना स्वार्थसङ्कोच करना नहीं सीखता है तबतक समाज की उन्नति नहीं होती है इसलिये समाज के साथ अङ्गाङ्गिभाव रखकर प्रत्येक गृहस्थ को बर्त्तना चाहिये । जाति और कुटुम्ब को अपने गौरव का अंशभागी करके उनके साथ सदा ही प्रेम के साथ मेल रखना चाहिये । प्रत्येक सार्व्वजनिक कार्य्य में उनके परामर्श लेने चाहिये । उनकी उन्नति के ईर्ष्यालु न होकर अपनेको सुखी व गौरवान्वित समझना चाहिये । कृत्रिम मैत्री व स्वजनता बढ़ाकर अपने गृहस्थाश्रम का केन्द्र धीरे धीरे बढ़ाना चाहिये । उनके स्त्रीपुरुषोंको बीच-बीचमें अपने घर में सम्मान के साथ बुलाकर और उनके भी घर में जाकर प्रीतिसम्बन्ध स्थापन करना चाहिये । समस्त संसार को अपना परिवार व कुटुम्ब समझकर अपने जीवन को संसार की सेवा में उत्सर्ग करदेना गृहत्यागी चतुर्थाश्रमी संन्यासी का धर्म्म है । गृहस्थाश्रम में उस प्रकार की कृत्रिम स्वजनता के द्वारा उस चतुर्थाश्रम के धर्म्म का प्रारम्भ होता है अतः प्रत्येक गृहस्थ को उदारभाव से इसी प्रकार का बर्त्ताव आत्मीयजनों से करना चाहिये । अपनी उन्नति के साथ साथ सन्तानों की उन्नति व सत्शिक्षा के लिये पिता-माता को सदा ही सचेष्ट रहना चाहिये । स्मरण रहे कि पिता-माता जिस संसार में आदर्श चरित्र हैं उसमें सन्तान भी अच्छी होती है । गर्भाधानसंस्कार ठीक ठीक शास्त्रानुकूल होने से धर्म्मपुत्र उत्पन्न होता है और कामज सन्तति नहीं होती है क्योंकि गर्भाधान के समय दम्पति के चित्त का जैसा भाव होता है उसीके ही अनुरूप पुत्र का भी चित्त होता है । सात्त्विक भाव से उत्पन्न पुत्र सात्त्विक होता है । अत्यन्त पशुभाव के द्वारा उन्मत्त होकर सन्तान उत्पन्न करने से सन्तान भी तामसिक होती है । दुर्ब्बल शरीर, दुर्ब्बल-चेता और कामुक पुत्र जो कि आजकल देखने में आते हैं इसका कारण गर्भाधानसंस्कार का बिगड़ जाना ही है । पिता माता को इन बातों का

ख्याल अवश्य रहना चाहिये, नहीं तो नालायक सन्तान उत्पन्न होकर उन्हींको दुःख देगी और वंशमर्यादा नष्ट करेगी। दूसरी बात विचार रखने की यह है कि सन्तान की सकल प्रकार की उन्नति के लिये माता पिता को आदर्शचरित्र होना चाहिये। गृहस्थाश्रम में सन्तान होना विशेष सौभाग्य की बात है क्योंकि पुत्र माता-पिता को नरक से त्राण करता है यह जो शास्त्र में कहा गया है इसको चरितार्थता इहलोक-परलोक दोनों में ही देखने में आती है। श्राद्ध-तर्पण आदि द्वारा पुत्र परलोक में शान्ति व उन्नति तो माता-पिता की करते ही हैं; अधिकन्तु मायामय संसार में बद्ध पिता-माता की आध्यात्मिक उन्नति के लिये इहलोक में भी पुत्र निमित्तरूप होते हैं। जीवभाव स्वार्थमूलक है। सन्तान होने से पिता माता के इस स्वार्थ में बहुत ही सङ्कोच हुआ करता है। सन्तान के सुख के लिये पिता माता अपनी सुखेच्छा व स्वार्थबुद्धि को तिलाञ्जलि देते हैं इससे उनकी उन्नति होती है। शास्त्रों में कहा है कि:—

सर्व्वत्र विजयं हीच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्।

सर्व्वत्र विजय चाहने पर भी लोग अपने पुत्र से पराजय चाहते हैं। अपने पुत्र को अपनेसे भी गुणवान् देखने की इच्छा पिता-माता की हुआ करती है। यह भाव अहङ्कार का नाश करके गृहस्थ की आध्यात्मिक उन्नति करता है। अपने चालचलन में खराबी होने से पुत्र भी बिगड़ जायगा और अपने में मितव्ययिता, सदाचार, स्वास्थ्यरक्षा-प्रवृत्ति आदि गुण न होने से पुत्र भी अमितव्ययी कदाचारी व रोगी होगा, ये सब भाव माता-पिता को सच्चरित्र, मितव्ययी, सदाचारी व नीरोग बनने में सहायता करते हैं। इस प्रकार से सन्तान इहलोक में भी पिता-माता के नरकत्राण में निमित्तरूप होती है। प्रत्येक गृहस्थ पिता-माता का कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तान के सामने वे ही सब आदर्श रक्खें जिनसे अपनी उन्नति के साथ-साथ सन्तान की भी उन्नति हो और दिन बदिन वंशगौरव की प्रतिष्ठा हो। सन्तान के शिक्षाविषय में पिता-माता को ध्यान रखना चाहिये कि शिक्षा के पूर्व्व संस्कारों के अनुकूल होनेसे ही ठीक-ठीक उन्नति हो सकती है। शास्त्रों में लिखा है कि:—

पूर्व्वजन्माऽर्ज्जिता विद्या पूर्व्वजन्माऽर्ज्जितं धनम् ।
पूर्व्वजन्माऽर्ज्जितं पुण्यमग्रे धावति धावति ॥

पूर्व्व जन्म में अर्ज्जित विद्या, धन व पुण्यों के संस्कारानुकूल ही इस जन्म में उन वस्तुओं की प्राप्ति होती है । इसलिये विद्या वही पढ़ानी चाहिये जिसका संस्कार सन्तान में पूर्व्वजन्म से है । आजकल कई माता-पिता अपनी ही इच्छा व संस्कार के अनुसार पुत्र को शिक्षा देना चाहते हैं, ऐसा करना ठीक नहीं हैं । अवश्य, पुत्र का संस्कार पिता माता के संस्कार के अनुकूल ही बहुधा पाया जाता है, परन्तु सब विषयों में ऐसा नहीं भो होता है । इस विषय पर लक्ष्य रखकर पुत्र की शिक्षा, खासकरके उसकी व्यावहारिक शिक्षा होनी चाहिये । उसका संस्कार जिस विद्या या विभाग के सीखने का हो उसे वही पढ़ाना चाहिये । और साथ ही साथ आदर्शचरित्र व धार्म्मिक होकर पिता-माता को पुत्र के लिये धार्म्मिक शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिये जिससे बालकपन से उसके चित्त में धर्म्म संस्कार जम जायं । ऐसा होने पर भविष्यत् में सन्तान सच्चरित्र, धार्म्मिक, गुणवान्, व विद्यावान् अवश्य होगी । यही गृहस्थाश्रम का धर्म्म संक्षेप से बताया गया, इसके ठीक-ठीक अनुष्ठान से गृहस्थ देव, ऋषि व पितरों के ऋण से मुक्त होकर तृतीय अर्थात् वानप्रस्थाश्रम के अधिकारी अनायास ही हो सकते हैं ।

(वानप्रस्थाश्रम)

अब वानप्रस्थाश्रम धर्म्म का वर्णन किया जाता है । शास्त्रोंमें लिखाहै कि:—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्व्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्य्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥

इस प्रकार से स्नातक द्विज गृहस्थाश्रम-धर्म्म को पालन करके यथा

विधि जितेन्द्रिय होकर वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करे। गृहस्थ जब देखे कि वार्द्धक्य का लक्षण होरहा है और पुत्र के पुत्र हो गया हो उसी समय वान-प्रस्थ होजाय। ग्राम के आहार व परिच्छद परित्याग करके व स्त्री को पुत्र के पास रखकर अथवा स्त्री के साथ ही वन में जावे। ये सब आज्ञाएं मनुजी ने की हैं। पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक धर्म्मविधि के लक्ष्य को दृढ़ रखकर देश, काल, पात्र के अनुसार विधि का नियोजन होने से ही यथार्थ फल मिल सकता है। आजकल देश काल इस प्रकार होगया है कि प्राचीन रीति के अनुसार वानप्रस्थाश्रम विधि का पालन करना बहुत ही कठिन है और पात्र के विषय में भी बहुत कठिनता होगई है क्योंकि वान-प्रस्थ में जिस प्रकार तपस्या या व्रत आदि करने की आज्ञा शास्त्र में पाई जाती है, तमःप्रधान कलियुग में गर्भाधान आदि संस्कारों के नष्टप्राय होजाने से कामज सन्तति प्रायः होने के कारण उन सब तपस्या या व्रतों का आचरण कामज शरीरों के द्वारा नहीं होसकता है इसलिये वन में जाकर कठिन तपस्या, भृगु तन, अग्निप्रवेश आदि करना असम्भव होगया है। इन्हीं सब बातों पर विचार करके भगवान् शङ्कराचार्य्य प्रभु ने भी वानप्रस्थ व संन्यास दोनोंकी सहायता के अर्थ मठस्थ ब्रह्मचर्य्य-आश्रम की नवीन विधि की सृष्टि की थी। अतः देशकालपात्रानुसार लक्ष्य को स्थिर रखते हुए वानप्रस्थाश्रम को निभाना ही विचार व शास्त्रसङ्गत होगा। वान-प्रस्थाश्रम का लक्ष्य निवृत्ति का अभ्यास करना है। श्रीमहाभारत में लिखा है कि:—

पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव॥
निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः॥

पुत्र, स्त्री और कुटुम्ब में आसक्त होकर मनुष्य दलदल में फंसे हुए वृद्ध वन्य-हस्ती की तरह दुःख पाता है। विषयमूलक प्रवित्तिमार्ग में रति ही जीव का संसारबन्धन रज्जु है। पुण्यात्मा लोग इसको छेदन कर सकते हैं परन्तु पापी इसको छेदन नहीं कर सकता है। विषय का ध्यान, वैषयिक पुरुषों

का सङ्ग और विषयों के कार्य्यों में दिनभर लगे रहना, इन सबों से मनुष्य बन्धन को प्राप्त होता है इसलिये गार्हस्थ्याश्रम में धर्म्ममूलक प्रवृत्ति की चरितार्थता के बाद निवृत्तिमूलक संन्यास के निःश्रेयस पद प्राप्ति के लिये उद्योग करना द्विजगण का अवश्य कर्त्तव्य होने से वानप्रस्थाश्रम की विधि शास्त्रों में बताई गई है जिसके ठीक-ठीक पालन से गार्हस्थ्याश्रम-भोग-मुग्ध शरीर शारीरिक तपस्या के द्वारा शुद्ध होकर द्वन्द्वसहिष्णुता को प्राप्त करे और अन्तःकरण भी मानसिक तप से पवित्र होकर उन्नत उपासना व ज्ञान का अधिकार प्राप्त करे। यही वानप्रस्थरूपी तृतीय आश्रमधर्म्मकी आज्ञा का हेतु है। वर्त्तमान देशकाल में तीर्थवास और अधिकारानुसार संयम, तपस्या आदि के द्वारा यह आश्रमधर्म्म कथञ्चित निभ सकता है। पार्व्वत्यप्रदेश में वन और जङ्गलपूर्ण सुविधाजनक एकान्त स्थान भी मिल सकता है। इसीप्रकार विचार के साथ स्थान नियत करके अपनी आयु के तृतीयभाग में वानप्रस्थाश्रम-धर्म्म पालन करना चाहिये। पहले ही कहा गया है कि "आश्रमधर्म्म निवृत्ति का पोषक है"। वह निवृत्ति पहले दो आश्रमों में धर्म्ममूलक प्रवृत्ति के द्वारा और वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में साक्षात् निवृत्तिधर्म्म के सेवन द्वारा हुआ करती है वानप्रस्थ में निवृत्ति-धर्म्म का प्रारम्भ होकर संन्यास में इसका अवसान होता है इसीलिये वान-प्रस्थाश्रमी के लिये शारीरिक, वाचनिक व मानसिक, इस प्रकार के त्रिविध तपों की आज्ञा की गई है। ये तप वर्त्तमानकाल के जीवों की शारीरिक व मानसिक अवस्था पर विचार करके अधिकारानुसार विहित होने चाहियें। नीचे इसके कुछ आदर्श दिखाये जाते हैं।

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यञ्चाऽग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान् निर्व्वपेद् विधिपूर्व्वकम् ॥

श्रौत-अग्नि, गृह्य-अग्नि और उसके उपकरण सब लेकर संयम के साथ वानप्रस्थाश्रम में वास करे। नीवार आदि पवित्र मुनि-अन्न अथवा शाक मूल व फलों के द्वारा प्रतिदिन विधिपूर्व्वक पञ्च महायज्ञ का अनुष्ठान करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्व्वभूताऽनुकम्पकः॥
"जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च"।
"अप्रयत्नः सुखाऽर्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः"।
एताश्चाऽन्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥
ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः॥
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये॥

वानप्रस्थ सदा ही स्वाध्याय में रत रहे। द्वन्द्वसहिष्णु, परोपकारी, संयमी, दाता, प्रतिग्रहनिवृत्त और सकल जीवों के प्रति दयाशील हो। जटा, श्मश्रु, नख व लोम धारण करे। सुखकर विषय में अयत्नशील, ब्रह्मचारी व भूमिशय्याशायी हो। वानप्रस्थाश्रमी ये सब नियम और अन्य भी तपोवृद्धिकर बहुत नियमों का पालन करे एवं आत्मा की उन्नति के लिये उपनिषद् आदि बहुत प्रकार की श्रुतियों का अभ्यास करे। ऋषिगण, ब्राह्मणगण और गृहस्थगण भी ज्ञान व तपस्यावृद्धि और शरीरशुद्धि के लिये उपनिषदों की ही सेवा करते हैं।

उपस्पृशँस्त्रिषवणं पितृन्देवाँश्च तर्प्पयेत्।
तपश्चरँश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः॥
अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः॥

शक्ति के अनुसार त्रैकालिक स्नान करके देवता व पितरों का तर्पण करे और तीव्र तपस्या द्वारा शरीरशोषण करे। श्रौताग्निसमूह को आत्मा में आरोप करके गृहशून्य और अग्निशून्य हो मौनव्रत धारण व फलमूल भोजन करे।

वानप्रस्थ-आश्रम निवृत्तिमार्ग का द्वार है। पूर्व्वजन्मों के कर्मों के प्रभाव से कोई भाग्यशाली व्यक्ति कदाचित् यथार्थ संन्यासी बन सकते हैं;

परन्तु ऐसे भाग्यशाली मनुष्य संसार में बहुत कम ही होते हैं इस कारण वानप्रस्थाश्रम की स्थापना किसी न किसी स्वरूप में अवश्य होनी चाहिये। प्रस्ताव के तौर पर एक आध विचार निश्चय किया जाता है। किसी प्राचीन तीर्थ को अथवा किसी प्राचीन तीर्थ के किसी भाग को सत्सङ्ग व सच्चर्चा के द्वारा आदर्शस्थान बनाकर वहीं यदि निवृत्तिसेवी व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति व निवृत्तिमार्ग में जाने के विचार से प्रतिज्ञा करके गुरु और शास्त्र के आश्रय से उक्त आदर्शतीर्थ में वास करें और क्रमशः साधुसङ्ग, वैराग्यचर्चा, अध्यात्मशास्त्रों का पठन-पाठन और योगसाधनादि आध्यात्मिक उन्नतिकारी अनुष्ठानों को करते हुए अपने जीवन को कृतकृत्य करें तो वे इस कराल कलियुग में वानप्रस्थ-आश्रम का बहुतसा फल प्राप्त कर सकेंगे। और इस प्रकार से ऐसे निवृत्तिसेवी भाग्यवान् तपस्वी क्रमशः अच्छे संन्यासी बन सकेंगे। और यदि वे कठिन संन्यासाश्रम में न भी पहुँचाना चाहे तो भी वे अपनी बहुत कुछ आध्यात्मिक उन्नति कर सकेंगे एवं आदर्श दिखाकर जगत् का भी कल्याण कर सकेंगे।

उक्त प्रकार से संयत होकर वानप्रस्थ-आश्रम का पालन करने से क्या गति होती है सो मुण्डकोपनिषद् में लिखा है। यथाः—

> तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये,
> शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः।
> सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति,
> यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

भिक्षावृत्ति को आश्रय करके जो विद्वान् शान्तस्वभाव वानप्रस्थ, अरण्य में निवास करते हुए तपस्या और श्रद्धा का सेवन करते हैं वे पुण्य पाप से मुक्त होकर उत्तरायण पथ से अमृत अव्यय पुरुष के लोक में अर्थात् ब्रह्म-लोक में जाते हैं। यही वानप्रस्थाश्रम का संक्षेप से रहस्य वर्णन किया गया। इसको अपने अपने अधिकार और देश काल से मिलाकर अनुष्ठान करने पर विविध तप व संयम के द्वारा निवृत्तिभाव का अभ्यास होगा जिससे द्विजगण चतुर्थाश्रम के अधिकारी बन सकेंगे।

(संन्यासाश्रम)

अब संक्षेप से चतुर्थ संन्यासाश्रम का कुछ वर्णन किया जाता है। संन्यासी के कर्त्तव्य और जीवन्मुक्ति के रहस्य के विषय में आगे के समुल्लासों में बहुत कुछ कहा जायगा। अभी केवल संन्यासाश्रम का अधिकार व कर्त्तव्य कथञ्चित् निर्देश किया जाता है। यह बात पहले ही कही गई है कि प्रवृत्ति का निरोध और निवृत्ति का पोषण करके क्रमशः मनुष्य को जीवभाव से ब्रह्मभाव में लेजाकर पूर्णता प्राप्त करना ही वर्ण व आश्रमधर्म्म का लक्ष्य है। इसलिये महर्षियों ने चार वर्ण और चार आश्रम के लिये ऐसी ही विधियाँ बताई हैं कि जिनसे प्रवृत्तिरोध व निवृत्तिपोषण द्वारा जीव की उन्नति हो।

प्रकृति की तामसिक भूमि में शूद्र की उत्पत्ति होती है इसलिये स्वाधीनता के साथ विचार द्वारा जीवनयात्रा निर्व्वाह शूद्र की भूमि में साधारणतः असम्भव है। अतः द्विजों के अधीन होकर सेवाद्वारा उन्नति करना ही शूद्र का धर्म्म बताया गया है जिससे स्वाभाविक उच्छृङ्खल प्रवृत्ति का निरोध होकर उन्नति हो। उससे उन्नति भूमि वैश्य की है जिसमें तम के साथ रजोगुण का भी विकाश होने के कारण स्वयं कार्य्य करने की इच्छा बलवती होना प्रकृति के अनुकूल होगा, परन्तु तमोगुण का आवेश रहने से स्वयंकृत कार्य्य में प्रमादादि दोष हो सकते हैं। अतः वैश्य के लिये यह धर्म्म बताया गया है कि वाणिज्य आदि द्वारा अर्थ-उपार्ज्जन करने पर गोरक्षा व कृषि-उन्नति द्वारा देश का अन्नसंस्थान आदि सत्कार्य्यों के लक्ष्य से उस प्रवृत्ति को चरितार्थ करें जिससे स्वाभाविक उच्छृङ्खल प्रवृत्ति रुक सके। तदनन्तर तृतीय अर्थात् क्षत्रिय की भूमि में रजोगुण का आधिक्य होने से अहङ्कार व अभिमान का सम्बन्ध बढ़ जायगा, परन्तु उस अभिमान को निरङ्कुश प्रवृत्तिपथ में न लगाकर क्षत्रियभूमि में विकाशप्राप्त सत्त्वगुण के साथ प्रजापालन, देश व जाति की रक्षा और धर्म्म की रक्षा आदि कार्य्यों में लगाने से उच्छृङ्खलप्रवृत्ति रुक जायगी। अन्त में अर्थात् ब्राह्मण वर्ण में सत्त्वगुण का विकाश स्वाभाविक होने से प्रवृत्तिमूलक अहङ्कार, अभिमान, लोभ और वित्तैषणा आदि का क्षय होकर

तपस्या, शम, दम, अध्यात्मचिन्तन व परोपकार आदि शुद्ध सात्त्विक भावों का विकाश होगा जिससे प्रवृत्ति का पूर्ण विरोध होकर जीवभाव के नाश से ब्रह्मभावप्राप्ति होगी । यही वर्णधर्म्म द्वारा प्रवृत्ति के निरोध का रहस्य है जैसा कि पहले अध्याय में कहा गया है ।

अब आश्रमधर्म्म के रहस्य पर मनन करने पर भी यही निवृत्तिपोषणरूप भाव क्रमशः विकाश को प्राप्त होता हुआ दृष्टिगोचर होगा । मनु ने कहाहैः—

प्रवृत्तिरेषा भूतानाम् ।

मनुष्य की प्रवृत्ति ही स्वभावतः निम्नगामिनी है । इसलिये प्रथम अर्थात् ब्रह्मचर्य्यआश्रम में प्रवृत्ति के निम्नगामी स्रोत को रोकने के लिये अपने को पूर्णतया आचार्य्य के अधीन कर देना और उन्हींकी आज्ञा से सब कुछ करना ब्रह्मचर्य्याश्रम का धर्म्म है । इस प्रकार निम्नगामी प्रवृत्ति को रोककर उसकी गति ऊपरकी ओर करने के लिये अर्थात् धर्ममूलक प्रवृत्ति को शिक्षा पाने के लिये ब्रह्मचर्य्याश्रम की विधि महर्षियों ने बताई है । धर्म्ममूलिका प्रवृत्ति निवृत्तिप्रसविनी है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । इसलिये प्रथम आश्रम में प्रवृत्तिशिक्षा द्वारा निवृत्त का पोषण होता है । द्वितीय अर्थात् गृहस्थाश्रम में आने से धर्म्मसूलक प्रवृत्ति की चरितार्थता होती है जिससे स्वयं ही निवृत्ति का पोषण होता है । उद्दाम इन्द्रिय प्रवृत्ति को एकपत्नीव्रत द्वारा निरुद्ध करके, आत्मसुखभोग-प्रवृत्ति को पुत्र परिवारादि के सुखसाधन में विलीन करके, अपने प्राण को पारिवारिक प्राण के साथ मिलाकरके और दूसरेके सुख में अपना सुख समझकरके गृहस्थ का प्रवृत्तिसङ्कोच और निवृत्तिपोषण होता है । परन्तु गृहस्थाश्रम में प्रवृत्ति की धर्म्ममूलक चरितार्थता द्वारा निवृत्ति का पोषण होने पर भी गृहस्थाश्रम के कार्य्यों के साथ अपने शारीरिक और मानसिक सुख का सम्बन्ध रहने से आत्मा स्थूल और सूक्ष्मशरीरों से बद्ध रहता है । अपने स्त्री पुत्र और परिवार के सुख के लिये सुखत्याग करने पर भी उसी सुखत्याग में ही गृहस्थ को सुख होता है, उनको आराम में रखकर गृहस्थ को सुख मिलता है अर्थात् उनके सुख-दुःख के साथ गृहस्थ अपने सुख दुःख का सम्बन्ध बाँध लेता है । इसलिये केवल अपनी सुखान्वेषणप्रवृत्ति की दशा से

यद्यपि यह दशा बहुत उत्तम है तथापि इसमें भी आत्मा का शरीर से बन्धन ही रहता है। और जब तक यह दशा रहेगी अर्थात् आत्मा का स्थूल सूक्ष्म शरीर से बन्धन रहेगा और उसीके सुख दुःख से आत्मा अपने को सुखी या दुःखी समझेगा तब तक मुक्ति नहीं हो सकती है। इसलिये तृतीय व चतुर्थ आश्रम में आत्मा को शरीर व मन से पृथक् करके स्वरूपस्थित करने के लिये उपाय बताये गये हैं। वानप्रस्थाश्रम की समस्त तपस्या व आचरण सभी इन्द्रियसुखभोग से अन्तःकरण को पृथक् करके आत्मा में लवलीन करने के लिये है इसलिये वह आश्रम साक्षात्‌रूप से निवृत्ति का पोषक है। शरीर व मन को सुख-दुःख, शीतोष्ण व रागद्वेष समस्त द्वन्द्वों में एकरस व सहिष्णु बनाना इस आश्रम का प्रधान धर्म्म है। इसके द्वारा आत्मा स्थूल-सूक्ष्म शरीर से पृथक् होकर स्वरूप की ओर अग्रसर होने लगता है। बहुत दिनों तक गृहस्थाश्रम प्रवृत्ति का सङ्ग होने से शारीरिक और मानसिक अभ्यास और प्रकार का हो गया था इसलिये कठिन तपस्या द्वारा उन आयासों को त्यागकरके वानप्रस्थ निःश्रेयसप्रद संन्यासाश्रम का अधिकार प्राप्त कराता है। मनुसंहिता में लिखा है कि:—

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥
आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्द्धते ॥

इसप्रकार आयु का तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रम में यापन करके चतुर्थभाग में निःसङ्ग होकर संन्यास ग्रहण करे। एक आश्रम से आश्रमान्तर ग्रहण करते हुए अग्निहोत्रादि होम समाप्त करके जितेन्द्रियता के साथ जब भिक्षा, बलि आदि कर्म्मों से श्रान्त हो तब संन्यास ग्रहण करने से परलोक में उन्नति होती है। यह संन्यास का साधारण क्रम है। असाधारण दशा में ब्रह्मचर्य्य-आश्रम से ही प्रारब्धबल से एकबार ही संन्यासाश्रम ग्रहण होता है जैसा कि पहले कहा गया है। श्रुति में लिखा है कि:—

न कर्म्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः ।

सकाम कर्म्म, सन्तति या धन किसीसे भी अमृतत्वलाभ नहीं होता है, केवल त्याग से ही अमृतत्वलाभ होता है। जिस द्विज में यह त्यागबुद्धि ब्रह्मचर्य्याश्रम में ही हो गई है उसके लिये श्रुति ने आज्ञा की है कि :—

ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत् ।
यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् । इत्यादि ।

ब्रह्मचर्य्य से ही संन्यास लेवे, जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास लेवे इत्यादि। परन्तु जिनका अधिकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य का नहीं है उनके लिये क्रमशः आश्रम से आश्रमान्तर ग्रहण द्वारा उच्चाधिकार प्राप्त होते हुए चतुर्थाश्रम में संन्यास लेना ही शास्त्रसङ्गत है। संन्यासाश्रम में निवृत्ति की पूर्ण चरितार्थता होती है। जो महाफल निवृत्तिव्रत ब्रह्मचर्य्याश्रम में प्रारम्भ हुआ था, संन्यासाश्रम में उस महाव्रत का उद्यापन होता है जिससे जीव को मोक्षरूप फलप्राप्ति होती है।

ब्रह्म में अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, ये तीन भाव हैं इसलिये कार्य्य-ब्रह्मरूपी इस संसार की प्रत्येक वस्तु में भी तीन भाव हैं अतः जीव में भी तीन भाव हैं। इन तीनों भावों की शुद्धि व पूर्णता द्वारा ही साधक ब्रह्मरूप बन सकता है निष्काम कर्म्म के द्वारा आधिभौतिक शुद्धि, उपासना के द्वारा आधिदैविक शुद्धि और ज्ञानद्वारा आध्यात्मिक शुद्धि होती है। इसलिये संन्यासाश्रम में निष्काम कर्म्म, उपासना और ज्ञान का अनुष्ठान शास्त्रों में बताया गया है।

निष्काम कर्म्म के विषय में श्रीगीताजी में कहा है कि:—

अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः ॥
काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

कर्म्मफल की इच्छा न करके जो कर्त्तव्य कर्म्म करता है वही संन्यासी व योगी है, निरग्नि व अक्रिय होने से ही संन्यासी नहीं होता है। काम्य कर्म्मों का त्याग ही संन्यास है और सकल कर्म्मों का फलत्याग ही त्याग

है । कर्म्मत्याग त्याग नहीं हैं । इसलिये निष्काम जगत्कल्याणकर कार्य्य संन्यासी का अवश्य कर्त्तव्य है । जीवभाव स्वार्थमूलक है। जबतक यह स्वार्थ-भाव नष्ट नहीं होता है तबतक जीवभाव भी नष्ट नहीं हो सकता है। निःस्वार्थ जगत्सेवा द्वारा स्वार्थबुद्धि नष्ट होकर जीवभाव का नाश होता है तभी संन्यासी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं । इसीलिये गीताजी में निष्काम कर्म्म की इतनी प्रशंसा की गई है और इसीलिये प्राचीन महर्षि लोग इतने परोपकारव्रतपरायण हुआ करते थे। परमात्मा सत्, चित् और आनन्दरूप हैं । उनकी सत्सत्ता से विराट् की स्थिति है । कर्म्म से सत्सत्ता का सम्बन्ध है । संन्यासी निष्काम कर्म्मद्वारा अपनी सत्ता को विराट् की सत्ता से मिलाकर ही सद्भाव की पूर्णता को प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि परमात्मा में जब सत्चित् व आनन्दभाव है तो परमात्मा के अंशरूप जीवों में भी ये तीनों भाव परिच्छिन्न हैं । जबतक ऐसी परिच्छिन्नता है तबतक जीव बद्ध है । मुक्ति के लिये अपनी सत्सत्ता को उदार करके विराट् की सत्ता में विलीन करना पड़ता है, अन्यथा सद्भाव की पूर्णता नहीं हो सकती है । संसार को भगवान् का रूप जानकर निष्काम जगत्सेवा में प्रवृत्त होने से साधक अपने जीवन को विश्वजीवन के साथ सहज ही मिला सकते हैं और इसीसे उनकी सत्सत्ता विराट् की सत्ता से मिल सकती है । यही संन्यासाश्रम में मुक्ति का प्रथम अङ्ग है इसलिये संन्यासी को अवश्य ही निष्काम कर्म्म करना चाहिये, अन्यथा पूर्णता नहीं होगी । और तमःप्रधान कलियुग में तो निष्काम कर्म्म की बहुत ही आवश्यकता है क्योंकि इस युग में कालधर्म्म के अनुसार तमोगुण का प्रभाव सर्व्वत्र रहता है जिससे कर्म्महीन पुरुष में आलस्य प्रमाद आदि का होना बहुतही सम्भव है । इसलिये निष्कामव्रत-परायण न होने से कलियुग के संन्यासियों में आलस्य प्रमाद आदि बढ़कर पतन होने की विशेष सम्भावना रहेगी । अतः अपने स्वरूप में स्थित रहकर संन्यास का चरम लक्ष्य निःश्रेयसपद प्राप्त करने के लिये कलियुग में संन्यासी को अवश्य ही निष्काम कर्म्मयोगी होना चाहिये । इससे उनका पतन नहीं होगा । यही वेद और शास्त्रों की आज्ञा है । अवश्य, संन्यास-धर्म्मपरायण व्यक्ति को जगत् को भगवान् का रूप मानकर और जगत्सेवा को भगवत्सेवा मानकर शुद्धि निष्काम व भक्तियुक्त होकर कार्य्य करना

शुद्ध निष्काम व भक्तियुक्त होकर कार्य्य करना चाहिये। उसमें वित्तैषणा या लोकैषणा आदि दोष कभी नहीं होने चाहिये। श्रुति कहती है किः—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च
व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति।

पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा, इन तीनों एषणाओं के छूटने पर तब यथार्थ संन्यासी हो सकते हैं। इसप्रकार निष्काम कर्म्म करने से संन्यासी अपने जीवन को संसार के लिये उत्सर्ग करते हुए अवश्य ही पूर्णता प्राप्त करेंगे।

अत्यन्त ही खेद की बात यह है कि आजकल साधु व संन्यासियों की संख्या आवश्यकता से अधिक और शास्त्र-अनुशासन के विपरीतरूप से अधिक होने पर भी, उनके इस अपने निष्काम धर्म्म को भूल जाने के कारण, वे अपनी जाति के काम नहीं आते। आज कल के साधु, संन्यासी निष्काम व्रत को भूल रहे हैं इस कारण वे बुद्धिमान् व्यक्तियों के निकट अपने समाज में अयोग्य और भाररूप समझे जाते हैं। यदि आज कल के साधु, संन्यासी जगत्पवित्रकर इस निष्कामव्रत के महत्त्व को कुछ भी समझते तो भारतवर्ष की उन्नति और सनातनधर्म्म के पुनरभ्युदय में विलम्ब नहीं होता। परन्तु हमारी जाति के इस दुर्दैव के लिये आज कल के गृहस्थ भी कुछ जिम्मेवार हैं। यदि वे योग्य, तपःस्वाध्यायरत, जितेन्द्रिय, ज्ञानी और निष्कामव्रतपरायण साधु-संन्यासियों का विशेष सम्मान और अयोग्य साधु-संन्यासियों का तिरस्कार करते रहते तो अयोग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़कर हमारी जाति ऐसी कलङ्कित नहीं बन जाती। अतः अयोग्य व्यक्तियों का तिरस्कार और योग्य व्यक्तियों के पुरस्कार करने की ओर हिन्दुजाति का विशेष ध्यान रहना चाहिये। और दूसरी ओर साधु-संन्यासियों के जो आचार्य्य, महन्त और नेता लोग हैं उनका भी कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे अपने सम्प्रदाय में निष्कामव्रत, धर्म्मप्रचारप्रवृत्ति व जगत्सेवा में अनुराग क्रमशः बढ़ाने का यत्न करें। जिससे साधु-संन्यासियों में निष्काम कर्म्मयोग की प्रवृत्ति बढ़े ऐसा यत्न सर्व्वसाधारण सनातनधर्म्मावलम्बी मात्र को करना उचित है।

निष्काम कर्म्म के साथ साथ उपासना और ज्ञान का भी अनुष्ठान संन्यासी को करना चाहिये। श्रुतियों में आज्ञा है कि:—

आत्मानमुपासीत।
ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

आत्मा की उपासना करनी चाहिये। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है। उपासना के द्वारा परमात्मा की आनन्दसत्ता और ज्ञान के द्वारा उनकी चित्सत्ता की उपलब्धि होती है। संन्यासी के लिये अधिकारानुसार राजयोगोक्त निर्गुण ब्रह्मोपासना विहित है जिसका विवरण आगे के समुल्लास में किया जायगा। और ज्ञान का साधन सप्त ज्ञानभूमियों के अनुसार करना चाहिये जिससे प्रकृति से अतीत व्यापक और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप अपने स्वरूप की उपलब्धि हो। समस्त वेदान्त और उपनिषद्शास्त्र में इसी स्वरूपोपलब्धि के लिये उपाय बताये गये हैं।

अब श्रुति व स्मृतियों में संन्यासाश्रम के जितने धर्म्म बताये गये हैं सो कुछ क्रमशः नीचे लिखे जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि:—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा,
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा,
जरामृत्युं ते पुनरेवाऽपि यन्ति॥

श्रुति में सकाम कर्म्म की निन्दा संन्यास के अधिकार में की गई है। षोड़श ऋत्विक्, यजमान व उसकी पत्नी, इस प्रकार अष्टादश के द्वारा साध्यहीन कर्म्ममूलक जो यज्ञरूपी नाव है उसको जो मूढ श्रेयस्कर समझकर उसकी प्रशंसा करता है उसे जरामृत्युमय संसारचक्र में पुनः-पुनः घूमना पड़ता है। इसलिये मुमुक्षु साधक सन्यासी को क्या करना चाहिये? सो श्रुति आज्ञा करती है कि:—

तद्यथेह कर्म्मचितो लोकः क्षीयते।
एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।

"परीक्ष्य लोकान् कर्म्मचितान् ब्राह्मणो
निर्व्वेदमायान्नाऽस्त्यकृतः कृतेन" ।
"तद्विज्ञानाऽर्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" ।

कर्म्मों के द्वारा अर्ज्जित इहलोक और पुण्यों के द्वारा अर्ज्जित, परलोक, सबोंमें प्राप्त हुए भोगों का ही क्षय होता है, ये सब अनित्य हैं । इसलिये कर्म्मों के द्वारा अर्ज्जित लोकसमूह की तुच्छता को जानकर ब्राह्मण वैराग्यवान् को प्राप्त करे क्योंकि वासनामूलक कर्म्मों से मुक्ति नहीं होती है। वैराग्यवान् मुमुक्षु समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास ब्रह्मतत्त्व जानने के लिये जावे । इस प्रकार के योग्य शिष्य को गुरु ब्रह्मज्ञान बतावेंगे । श्रुति में कहा है कि:—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक,
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाऽक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्,
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥

ज्ञानी गुरु इसप्रकार समीपागत, प्रशान्ताचित्त और शमदमादि गुणसम्पन्न शिष्य को; जिससे सत्यस्वरूप अक्षर पुरुष की उपलब्धि हो, ऐसी ब्रह्मविद्या बतावेंगे । ब्रह्म का स्वरूप कैसा है सो मुण्डकोपनिषद् में कहा है । यथा:—

यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रवर्ण-
मचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्व्वगतं सुसूक्ष्मम्
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

धीर विवेकी पुरुष पराविद्या द्वारा ज्ञानेन्द्रिय व कर्म्मेन्द्रिय से अतीत, मूलरहित अर्थात् सबके मूल, नीरूप, ज्ञानेन्द्रिय और कर्म्मेन्द्रिय से विहीन, नत्य, विभु, सर्व्वव्यापी, अतिसूक्ष्म और विश्वजगत् के आदि कारण

अक्षर परब्रह्म को उपलब्धि करते हैं। उपलब्धि क्यों करना चाहिये ? सो केनोपनिषद् में लिखा है। यथाः—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,
न चेदिहाऽवेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः,
प्रेत्याऽस्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

यदि मनुष्य संसार में आकर ब्रह्म को जान सके, तभी मनुष्यजन्म सार्थक है और यदि न जान सके तो मनुष्य जन्म वृथा ही है, उसको जन्म-मरणचक्र में अनन्त कष्ट उठाना पड़ेगा। धीर, ज्ञानी पुरुष सकल भूतों में आत्मा की व्यापक सत्ता उपलब्धि करके अमृतत्वलाभ करते हैं। उनको दुःखमय संसार में पुनः आना नहीं पड़ता है। उपलब्धि कैसे होती है ? सो मुण्डकोपनिषद् में कहा है। यथाः—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महाऽस्त्रम्
शरं ह्युपासानिशितं सन्दधीत ।
आयम्य तद्भागवतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाऽक्षरं सौम्य ! विद्धि ॥

ब्रह्मरूपी लक्ष्य को भेदन करने के लिये उपनिषदों से उत्पन्न महत् अस्त्र-रूप धनु है, उपासना द्वारा शाणित (तीक्ष्ण) शर है और इन्द्रियों को विषयों से आकर्षण करलेना ही धनु का आकर्षण है, इस प्रकार आकर्षण करके अनुराग व भक्तियुक्त चित्त से ब्रह्मरूपी लक्ष्य को भेद करना चाहिये। धनु और शर क्या हैं ? सो मुण्डकोपनिषद् में कहा है यथाः—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

ॐकार धनु है, सोपाधिक आत्मा शर है और निरुपाधिक व्यापक ब्रह्म लक्ष्य है। जिस प्रकार धनुष की सहायता से शर के द्वारा लक्ष्यभेद होता है उसी प्रकार ॐकार की सहायता से आत्मा परमात्मा में विलीन

हो सकते हैं । प्रमादहीन होकर लक्ष्यवेध करना चाहिये और शर के सदृश परमात्मा में तन्मय होना चाहिये । यही उपलब्धि का उपाय है । और भी लिखा है कि:—

"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा,
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" ।
"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" ।

आनन्दरूप, अमृत व सर्व्वतः प्रकाशमान परमात्मा को ज्ञान के द्वारा धीर विवेकी पुरुष देखते हैं । ज्ञान के प्रसाद से विशुद्धचित्त होकर ध्यान करते करते परमात्मा की उपलब्धि होती है । इस प्रकार परमात्मा के साक्षात्कार करने के लिये श्रुति ने उपासना व ज्ञान की महिमा बताई है । और निष्काम कर्म्म के द्वारा किस प्रकार से जीवभाव का नाश हो सकता है सो पहले ही कहा गया है । अतः सिद्धान्त हुआ कि संन्यासाश्रम में पूर्ण निवृत्ति के द्वारा ब्रह्मपद प्राप्त करने के लिये कर्म्म, उपासना व ज्ञान, तीनों ही अवलम्बनीय हैं । संन्यासी कर्म्म, उपासना व ज्ञान का साधन करते करते अन्त में आत्मा को सर्व्वभूतों में और सर्व्वभूतों को आत्मा में देखकर कृतकृत्य होते हैं । गीता में कहा है कि:—

सर्व्वभूतस्थमात्मानं सर्व्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
ईक्षते योगयुक्ताऽऽत्मा सर्व्वत्र समदर्शनः ॥

योगयुक्त संन्यासी सकल भूतों में आत्मा को और आत्मा में सकल भूतों को देखते हैं और वे सर्व्वत्र समदृष्टि होते हैं । वे किसीको घृणा या कहीं शोक मोह नहीं करते हैं । ईशोपनिषद् में लिखा है कि :—

यस्तु सर्व्वाणि भूतानि आत्मन्येवाऽनुपश्यति ।
सर्व्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्व्वाणि भूतानि आत्मैवाऽभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

जो सकल भूतों को आत्मा में और आत्मा को सकल भूतों में देखते हैं वे किसीको घृणा नहीं करते। जब समस्त संसार को अद्वितीय आत्मरूप से ही देखने लगें तो इस प्रकार के द्रष्टा ज्ञानी पुरुष किसके लिये शोक या मोह करेंगे। अद्वितीय ब्रह्मज्ञान की दशा में शोक और मोह नहीं रहता है। उस समय उनकी हृदयग्रन्थि भिन्न होती है, समस्त सन्देहजाल छिन्न होते हैं, सञ्चित और क्रियमाण समस्त कर्म्म क्षय हो जाते हैं और केवल प्रारब्धमात्र भोग करने के लिये कुलालचक्रवत् जीवन्मुक्त संन्यासी संसार में विचरा करते हैं। अपने में और सर्व्वत्र ही आत्मोपलब्धि होने से सर्व्वदा ही स्वस्वरूप उनके सामने भासमान रहता है। यथाः—

माया तत्कार्य्यदेहाऽऽदिर्मम नाऽस्त्येव सर्व्वदा।
स्वप्रकाशैकरूपोऽहमहमेवाऽहमव्ययः॥
त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः॥
अहमेव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दरूपकम्।
अद्वितीयमिति ज्ञात्वा ब्रह्मैव ब्रह्मविद्भवेत्॥

माया और उसके कार्य्यरूप स्थूल सूक्ष्म व कारणशरीर मेरे नहीं हैं। मैं अव्यय, स्वयंप्रकाश व अद्वितीय हूँ। समस्त संसार में जो भोग्य, भोक्ता व भोग हैं, मैं उनसे विलक्षण, उनका साक्षी व चित्स्वरूप ब्रह्म हूँ। "मैं सत् चित् व आनन्दरूप अद्वितीय परब्रह्म हूँ" इसप्रकार जानकर ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म हो जाते हैं। इस प्रकार के मुक्त संन्यासी ब्रह्मभावमें प्रारब्धक्षयपर्य्यन्त अवस्थान करके अन्त में विदेहमुक्तिलाभ करते हैं। यथा—मुण्डकोपनिषद् में लिखा है किः—

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः,
कृताऽऽत्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्व्वगं सर्व्वतः प्राप्य धीराः,
युक्ताऽऽत्मानः सर्व्वमेवाऽऽविशन्ति॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः,
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले,
पराऽमृताः परिमुच्यन्ति सर्व्वे ॥

महात्मा ऋषिलोग परब्रह्म को जानकर उसी ज्ञान में ही तृप्त, ब्रह्मभावप्राप्त, विषयासक्तिशून्य व प्रशान्तचित्त हो जाते हैं। और इस प्रकार से युक्तात्मा होकर विदेहलय के समय उपाधिशून्य सर्व्वव्यापी परब्रह्म में बिलीन होते हैं। वेदान्तविज्ञान के द्वारा परमतत्त्व जिनके निश्चित हो गये हैं ऐसे संन्यासयोग से शुद्धात्मा यतिलोग जीवित अवस्था में ही ब्रह्मभावको प्राप्त होकर प्रारब्धक्षय पर्य्यन्त जीवन्मुक्तिपदवी में प्रतिष्ठित रहते हैं और जिस समय भोगद्वारा प्रारब्धक्षय हो जाता है उस समय शरीर त्याग करके विदेहमुक्ति लाभ करते हैं। उनकी सत्ता अद्वितीय बिभु ब्रह्मसत्ता में विलीन हो ही जाती है।

अब संन्यासाश्रम में अवश्य पालनीय कुछ आचार मनुसंहिता में से बताये जाते हैं। यथाः—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्व्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥

प्रजापति योग में सर्व्वस्व दक्षिणान्त करके आत्मा में अग्नि को आरोप करके ब्राह्मण संन्यास ग्रहण करे।

यो दत्त्वा सर्व्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥
यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नाऽस्ति कुतश्चन ॥

जो महात्मा सकल भूतों को अभय देते हुए संन्यास ग्रहण करते हैं ऐसे ब्रह्मवादी महात्माओं को तेजोमय लोक प्राप्त होते हैं। जिस द्विज से किसी

जीव को भय नहीं होता है उसको भी देहत्याग के अनन्तर किसी से कोई भय नहीं रहता है ।

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥
नाऽभिनन्देत मरणं नाऽभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥
अतिवादाँस्तितिक्षेत नाऽवमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्यादाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वाराऽवकीर्णाञ्च न वाचमनृतां वदेत् ॥

पवित्र दण्ड, कमण्डलु आदि लेकर घर से निकले और जो कुछ इन्द्रिय-विषय प्राप्त हों सभी में लालसाशून्य व निरपेक्ष होकर विचरण करे । जीवन या मरण किसी की इच्छा न करे और अपना कर्त्तव्य करते हुए प्रभु-भक्त दास की तरह कालभगवान् की प्रतीक्षा करें । अपमानजनक वाक्यों को सहन करे और किसीका अपमान न करे एवं नश्वर देह को प्राप्त करके किसी से शत्रुता न करे । किसीको क्रोध करने पर भी उसके प्रति उल्टा क्रोध न करे, किसीके आक्रोश करके कुछ कहने पर भी कुशल वाक्य ही कहे और धर्म्म, अर्थ, काम आदि सप्तद्वारविषयक वाक्य को मिथ्या से कलुषित न करे ।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखाऽर्थी विचरेदिह ॥
न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राऽङ्गविद्यया ।
नाऽनुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥

सर्व्वदा ब्रह्मभाव में ही मग्न रहे, सकल विषयों में निरपेक्ष व लोभशून्य हो और आत्मा को ही सहायक व सुखदायक मानकर विचरण करे । भूचाल आदि उत्पात या वामाङ्गस्पन्दन आदि निमित्तों का तात्पर्य्य कथन,

नक्षत्र या हस्तरेखा आदि का फलाफल निर्णय अथवा शास्त्रीय अनुशासन आदि बताकर भिक्षालाभ करने की कदापि इच्छा नहीं करे ।

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥
अभिपूजितलाभाँस्तु जुगुप्सेतैव सर्व्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥
अल्पाऽन्नाऽभ्यवहारेण रहःस्थानाऽऽसनेन च ।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्त्तयेत् ।
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥

भिक्षा आदि के न मिलने से दुःखित न हो और मिलने पर भी आह्लादित न हो, जिससे प्राणयात्रामात्र चल जाय उतनाही करे और अधिक वस्तु में आसक्ति त्याग करे। अधिक पूजा आदि सत्कार की लालसा त्याग करे क्योंकि इससे उन्नत यति का भी पतन होता है। लघु आहार और एकान्तवास के द्वारा विषयों में बहुत दिनों से आकृष्ट इन्द्रियों को धीरे धीरे विषयों से निवृत्त करे। इन्द्रियनिरोध, रागद्वेष का त्याग और सकल भूतों की अहिंसा द्वारा मनुष्य मुक्तिलाभ के अधिकारी होते हैं।

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्म्मदोषसमुद्भवाः ।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥
विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगञ्च तथाऽप्रियैः ।
जरया चाऽभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥
देहादुत्क्रमणञ्चाऽस्मात् पुनर्गर्ब्भे च सम्भवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चाऽस्याऽन्तरात्मनः ॥
अधर्म्मप्रभवञ्चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्म्माऽर्थप्रभवञ्चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥

सूक्ष्मताञ्चाऽन्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥

कर्म्मदोष के कारण जीव की नाना प्रकार की गति, नरकप्राप्ति व यमयातना आदि सर्व्वदा चिन्ता करे । प्रिय लोगों से वियोग, अप्रियों का संयोग, जरा का प्रभाव, रोग से पीडन, शरीर से निकलना, पुनः गर्भवास दुःख और कोटि-कोटि योनियों में निरन्तर भ्रमण, इन सबोंका रहस्य चिन्ता करे । जीव का सब दुःख अधर्म्म से ही उत्पन्न होता है और नित्य-सुख की प्राप्ति धर्म्म से ही होती है इसको निश्चय जाने एवं इसी लिये योग द्वारा परमात्मा के अन्तर्य्यामित्व और नीरूपत्व आदि स्वरूप की उपलब्धि करे क्योंकि महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने लिखा है कि:—

अयन्तु परमो धर्म्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम् ।

योग के द्वारा आत्माका दर्शन करना ही परमधर्म है । तथा उत्तम अधम सकल भूतों में परमात्मा का अधिष्ठान है ऐसी चिन्ता करे ।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥
प्राणायामैर्द्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनाऽनीश्वरान् गुणान् ॥
यदा भावेन भवति सर्व्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥
अनेन विधिना सर्व्वांस्त्यक्त्वा सङ्गान् शनैः शनैः ।
सर्व्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवाऽवतिष्ठते ॥
अनेन क्रमयोगेन परित्यजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माऽधिगच्छति ॥

जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातुओं का मल दूर होता है; उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों का दोष दूर होता है । प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों का दोष, प्रत्याहार के द्वारा विषयसंसर्ग, धारणा के द्वारा पाप-

समन्न और ध्यान के द्वारा काम, क्रोध, मोह आदि अनीश्वर गुणों का त्याग करे। जिस समय साधक संन्यासी ब्रह्मभाव में ही मग्न होकर वैषयिक सकल भावों को त्याग करते हैं तभी उनको इहलोक और परलोक में नित्यानन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार धीरे-धीरे समस्त आसक्ति त्याग करके और रागद्वेष सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त होकर संन्यासी ब्रह्मभाव में अवस्थान करते हैं। इन सब आचरणों से भूषित तुरीयाश्रमी महात्मा सकल पापों से मुक्त होकर परब्रह्म का साक्षात्कार लाभ करते हैं। यही श्रुति और स्मृतियों में कथित संन्यासाश्रमधर्म्म है।

संन्यास की कुटीचक, बहूदक, हंस व परमहंस, ये चार अवस्था हैं और प्रत्येक अवस्था के लिये अलग अलग आचारादि भी हैं। इनमें से पहली दो दशाओं में शिखा व सूत्र रखकर संन्यासाश्रम का पालन और अन्तिम दो दशाओं में शिखा एवं सूत्र त्यागकर संन्यासाश्रमपालन करने की विधि है। इन चारों अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन विस्तारभय से नहीं किया गया है।

आजकल कलि की कराल गति के अनुसार अतिकठिन संन्यासाश्रम बहुत ही विकृत होगया है। संन्यासाश्रम के धर्म्म यथार्थरूप से पालन करनेवाले साधु अब विरले ही मिलते हैं। जिस अतिकठिन संन्यास आश्रम में ऋषियों के समय में कोई विरले ही महापुरुष प्रवेश किया करते थे, आजकल उसी संन्यासाश्रम का अहङ्कार बतानेवाले लाखों मनुष्य दिखाई पड़ते हैं। साधु संन्यासी बनना आज कल बहुतों के लिये उदरपूर्त्ति का एक "पेशा" बन गया है। अतः इस समय संन्यासाश्रम की यथार्थ उन्नति कैसे हो यह एक बड़ी भारी समीक्षा का विषय है। इस विषय में विस्तारितरूप से चर्चा किसी अगले समुल्लास में की जायगी।

जीव की स्वाभाविक गति पतन की ओर है। उन्नति की ओर दृढ़व्रत होकर दृष्टि न रखने पर मनुष्य का गिरजाना अवश्यसम्भावी है, यह विषय पहले ही विज्ञान द्वारा सिद्ध किया जा चुका है। आर्य्यजाति का इस प्रकार की पतनदशा से बचाने के लिये वर्ण व आश्रमधर्म्म की आज्ञा वेदों ने की है। वर्णधर्म्म से प्रवृत्ति की निम्नगति से बचाकर और आश्रम-धर्म्म से मनुष्यसमाज को क्रमशः उन्नत करके आर्य्यजाति को चिरस्थायी

करने के लिये वर्णाश्रमधर्म्म की विधि है। पृथिवी की अन्य सब जातियाँ कालप्रभाव से नष्ट होजायँगी; परन्तु वर्णाश्रमधर्म्म से सुरक्षित आर्य्यजाति सदा जीवित रहेगी, यह असाध्य साधन कैसे सम्भव है इसका विस्तारित विवरण किसी अगले अध्याय में किया जायगा।

आज कल के देशकालानुसार चारों आश्रमों के धर्म्म यथासम्भव अवश्य पालन होने चाहियें, तभी आर्य्यजाति जीवित रहेगी और इसकी पुनरुन्नति होना अवश्य सम्भव होगा।

विशेषधर्म्म के सम्बन्ध से वर्णधर्म्म और आश्रमधर्म्म के दोनों अध्यायों में जो धर्म्म वर्णित हुए हैं वे सब आर्य्यजाति के लक्ष्य से ही वर्णन किये गये हैं। आर्य्यजाति से अनार्य्यजाति की विशेषता के जितने लक्षण हैं उनमें से वर्णधर्म्म व आश्रमधर्म्म सर्व्वप्रधान है जिसका विस्तारित विवरण अन्य अध्याय में किया जायगा। इन दोनों अध्यायों में वर्णधर्म्म व आश्रम-धर्म्म की वैज्ञानिक भित्ति, वर्णधर्म्म मनुष्यजाति की विषयप्रवृत्ति को रोकता है इसका रहस्य, आश्रमधर्म्म मनुष्यजाति को निवृत्तिमार्ग की ओर अग्रसर करके मुक्तिभूमि में पहुँचा देता है इसका विज्ञान, सत्त्व, रजः, तम इन तीन गुणों के भेद से चार वर्णों की व्यवस्था स्वाभाविक कैसे है? ब्राह्मण-वर्ण, क्षत्रियवर्ण, वैश्यवर्ण व शूद्रवर्ण, ये चारों वर्ण किस प्रकार से एक दूसरेकी सहायता करते हुए आर्य्यजाति की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होकर इस जाति की जीवनरक्षा करते हैं, ब्रह्मचर्य्य-आश्रम और गृहस्थाश्रम कैसे प्रवृत्ति के फन्दे से मनुष्य को बचाकर अग्रसर कर देते हैं एवं वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम किस प्रकार से आर्य्यजाति को प्रवृत्ति के राज्य से निकालकर निवृत्ति के राज्य में पहुँचाते हुए मुक्तिधाम में पहुँचा देते हैं, प्राचीनकाल में चारों वर्णधर्म्म व चारों आश्रमधर्म्म का क्या आदर्श था और वर्त्तमान समय में इन धर्म्मों की सुरक्षा तथा इनकी बीजरक्षा किन किन सुकौशलपूर्ण उपायों के द्वारा हो सकती है इत्यादि अनेक विज्ञान सिद्ध किये गये हैं जिनके पूर्व्वापर सम्बन्ध को भली भाँति विचारकर अध्ययन करने से वर्ण व आश्रमधर्म्म के महत्त्व पर किसीका सन्देह रह ही नहीं सकेगा।

तृतीय समुल्लास का तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

नारीधर्म्म ।

(पुरुषधर्म्म से नारीधर्म्म की विशेषता)

धर्म्म के गूढ रहस्य पर विचार करने से विचारवान् पुरुष को अवश्य ही ज्ञात होगा कि प्रवृत्तिभाव को अन्तःकरण से नष्ट करके क्रमशः निवृत्ति-भाव की पूर्णता करना ही धर्म्म का धर्म्मत्व है। मनुष्य के नीचे के सकल जीवों में प्रकृतिमाता की आज्ञा के द्वारा कार्य्य होने से उनकी क्रमोन्नति में कोई बाधा नहीं होती है, उनकी प्रवृत्ति सदा ही नियमित रहा करती है और कभी प्राकृतिक नियम से बाहर नहीं होती है; परन्तु मनुष्ययोनि में प्रकृति पर आधिपत्य होने से प्रवृत्ति अनियमित और उच्छृङ्खल हो जाती है। जिस शक्ति के द्वारा यही उद्दाम प्रवृत्ति नियमित होकर निवृत्ति का पोषण करे और अन्त में प्रवृत्ति का लय करके निवृत्ति की पूर्णता करे उसका नाम धर्म्म है। यही धर्म्मत्व है। इसी विज्ञान को वैशेषिकदर्शन में कहा है कि:—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः ।

जिससे उन्नति व मुक्ति हो वही धर्म्म है। धर्म्म का यही धर्म्मत्व आर्य्य-शास्त्रों में विविध धर्म्मविधिरूप से बताया गया है इसलिये जिस विधि के द्वारा जिसका प्रवृत्तिनाश और निवृत्तिपोषण हो वही विधि उसके लिये धर्म्म है। जिन विधियों के द्वारा पुरुष पूर्णपुरुष होसके वे सब पुरुष के लिये धर्म्म हैं। पुरुषत्व की पूर्णता प्रवृत्ति के नाश व निवृत्ति की पूर्णता में होगी। इसी प्रकार जिन विधियों के द्वारा नारी पूर्ण नारी होसके वे सब नारी के लिये धर्म्म होंगे। नारीत्व की पूर्णता भी प्रवृत्ति के नाश व निवृत्ति की पूर्णता में होगी। यदि इस सिद्धान्त से विरोधिनी कोई विधि कहीं देखने में आवे तो वह अशास्त्रीय, अधर्म्ममूलक, कपोलकल्पित या कदर्थयुक्त है ऐसा समझना चाहिये।

अब नारीत्व की पूर्णतावर्णन के प्रसङ्ग में नारीभाव का विज्ञान बताया जाता है। आर्य्यशास्त्रों में प्रकृति की सत्ता पुरुष से स्वतन्त्र नहीं मानी

गई है। पूर्ण प्रकृति परमात्मा में विलीन रहती है। सृष्टिदशा परिणाम दशा है इसलिये अपूर्णदशा है। मनुसंहिता में लिखा है कि:—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥

सृष्टि के समय परमात्मा अपने शरीर को द्विधा विभक्त करके आधे में पुरुष बने और आधे में स्त्री बनकर और प्रकृतिमें हो विराट्सृष्टि की लीला विस्तार की। श्रुति भी ऐसी ही आज्ञा करती है कि सृष्टि के पहले परमात्मा एक ही रहते हैं और सृष्टिदशा में उनमें से ही प्रकृति निकलकर समस्त सन्तान प्रसव करती है और अन्त में लीला की पूर्णता होने पर पुनः परमात्मा में लय हो जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि:—

सोऽनुवीक्ष्य नाऽन्यदात्मनोऽपश्यत्। स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। सहैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ। स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाऽभवताम्। तस्मादिदमर्द्धबृगलमिव स्व इति स्माऽऽह याज्ञवल्क्यः। तस्मादयमाकाशः। स्त्रिया पूर्य्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त।

सृष्टि के पहले आत्मा एक ही थे इस लिये रमण न कर सके। एकाकी रमण नहीं हो सकता है इसलिये उन्होंने द्वितीय की इच्छा की और स्त्री पुरुष जैसे साथ में मिलकर रहते हैं ऐसा सङ्कल्प किया। उससे परमात्मा द्विधा विभक्त हो स्त्री व पुरुष बन गये। इसलिये यह शरीर अर्द्धचणक की तरह रहता है। विवाह के द्वारा स्त्री इसे पूर्ण करती है जिससे सृष्टि होने लगती है। संसार प्रकृति पुरुषात्मक है। पुरुष में परमात्मा की सत्ता और स्त्री में प्रकृति की सत्ता विद्यमान है। पुरुष से पृथक् होने पर ही प्रकृति में परिणाम हुआ करता है। जबतक प्रकृतिपरिणाम है तभी तक सुखदुःखमोहात्मक संसार है; प्रवृत्ति का लीला विलास है और सर्व्वत्र ही

अपूर्णता है। जब तक प्रकृति पुरुष से पृथक् से रहती है तब तक अपूर्ण ही रहा करती है। इस अपूर्ण जीवप्रकृति को पूर्ण करके परमात्मा में लय करने के लिये ही जीवसृष्टि का विस्तार है। प्रकृति का यह संसार पुरुष में लय होने के लिये ही अग्रसर होता है इसलिये प्रकृति का वही धर्म्म है कि जिससे पुरुष में लय हो सके। इस गम्भीर विज्ञान को स्मरण करके ही महर्षियों ने नारीधर्म्म का उपदेश किया है। स्त्री की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है क्योंकि प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। प्रकृति पुरुष से ही अर्द्धाङ्गिनीरूप से निकलती है और पुरुष में ही लय को प्राप्त होती है। लय होने के लिये जो कुछ उपाय हैं वही धर्म्म है। इसलिये जिन जिन उपायों से नारी अपनेको उन्नत करती हुई पुरुष में लय को प्राप्त हो सकती है वे ही सब उपाय नारी-धर्म्म हैं। किसीमें किसी वस्तु को लय करदेने के लिये "तन्मयता" चाहिये; अर्थात् "तन्मयता" न होने से कोई अपनेको दूसरेमें लय नहीं कर सकता है क्योंकि अपनी पृथक् सत्ता का ज्ञान जब तक रहे तब तक कोई दूसरे में लय नहीं हो सकता है। इसलिये जो धर्म्म नारी को पुरुषमें "तन्मय" होना सिखावे वही नारीधर्म्म है। पातिव्रत्यधर्म्म ही स्त्री को पूर्ण उन्नत करता हुआ अन्त में पति में तन्मयता प्राप्त करासकता है इसलिये पातिव्रत्य धर्म्म ही स्त्री का एकमात्र धर्म्म है।

पूर्व्वोक्त प्रकृतिपुरुषविज्ञान पर संयम करने से और भी सिद्धान्त निश्चय होगा कि पुरुष के धर्म्म के साथ स्त्री के इस धर्म्म का विशेष अन्तर है। पुरुष पूर्ण है इसलिये परिणामहीन है और प्रकृति अपूर्ण है इसलिये चञ्चला और परिणामिनी है। पूर्ण पुरुष में अपूर्ण प्रकृति का आवरण ही पुरुष का बन्धन है। प्रकृति के साथ का सम्बन्ध त्यागकरके उसके आवरण से मुक्त होना ही पुरुष के लिये मुक्ति है इसलिये त्यागमूलक यज्ञधर्म्म ही पुरुष का धर्म्म है। कर्म्ममीमांसा और गीता में कहा है कि:—

याग‌परः पुरुषधर्म्मः (कर्म्ममीमांसा)

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् (गीता)

पुरुषधर्म्म यज्ञप्रधान है। यज्ञ में अधिकारवान् प्रजा की सृष्टि करके

प्रजापति ने पहले उनको यज्ञ की ही आज्ञा की थी। उन्होंने उनको कह दिया था कि तुम्हारी उन्नति व मनोरथपूर्ति यज्ञ से ही होगी। पुरुष यज्ञ द्वारा अपनी सत्ता को विराट् से मिलाते हुए स्थूल सूक्ष्म शरीरावच्छिन्न सुख-दुःखादि भोगों को त्याग करके प्रकृतिसे पृथक् होसकते हैं। अपूर्ण प्रकृति का आवरण इसप्रकार से नष्ट होनेपर पुरुष अपने ज्ञानमय पूर्णस्वरूप में प्रतिष्ठा लाभ करते हैं। यही पुरुष की मुक्ति है। परन्तु प्रकृति की मुक्ति इस प्रकार से नहीं हो सकती है क्योंकि जिसकी सत्ता ही अपूर्णतामय है वह किसीसे पृथक् होकर मुक्त नहीं हो सकती है अपितु पूर्ण में लय होकर ही मुक्त हो सकती है। अपूर्ण वस्तु पूर्ण में लय होकर ही पूर्ण हो सकती है, अन्यथा नहीं हो सकती। अपूर्ण ब्रजगोपियाँ पूर्ण भगवान् में तन्मय होती हुई उनमें लय होकर ही पूर्ण होगई थीं। अपनी सत्ता को भूलकर जब अपनेको कृष्ण समझने लगगई थीं तभी उनको पूर्ण पुरुष कृष्ण का दर्शन हुआ था। तैलपायी कीट (तिल-चट्टा) भ्रमरकीट (कुम्हार) में तन्मय होकर जब अपनी सत्ता को भूल जाता है तभी भ्रमरकीट बन सकता है। इसलिये अपूर्ण नारी पूर्णपुरुष में तन्मय व लय होकर ही पूर्णता को प्राप्त कर सकती है अतः जो धर्म्म नारी को पुरुष में तन्मय व लय होना सिखावे वही यथार्थ नारीधर्म्म है और उससे विपरीत हो तो नारी के लिये अधर्म्म है। तपःप्रधान पातिव्रत्य धर्म्म ही नारी को पुरुष में तन्मयता व लय होना सिखाता है। स्वाभाविक चञ्चल इन्द्रियवृत्तियों को विषयों से रोकने को तप कहते हैं। नारी तपोमूलक पातिव्रत्य धर्म्म के द्वारा अपनी समस्त चेष्टाओं को अन्य ओर से "प्रत्याहार" करके पति में ही लय करदेती है इसलिये तपोमूलक पातिव्रत्य धर्म्म ही नारी का एकमात्र धर्म्म है। कर्म्ममीमांसा में लिखा है कि:—

तपःप्रधाना नार्य्यः।

तपःप्रधान पातिव्रत्य ही नारी की पूर्णता के लिये एकमात्र धर्म्म है। यही पुरुषधर्म्म से नारीधर्म्म की विशेषता है कि पुरुष का धर्म्म यज्ञप्रधान और नारी का धर्म्म तपःप्रधान है।

तपस्विनी न होनेसे स्त्री अपने धर्म्म को नहीं पालन कर सकती है। चण्डी (सप्तशती) में देवी की स्तुति करते हुए देवताओं ने कहा है कि: —

विद्याः समस्तास्तव देवि ! भेदाः,
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।

समस्त विद्या व समस्त स्त्रियाँ प्रकृतिमाता की ही रूप हैं । देवीभागवत में कहा है कि :—

या याश्च ग्रामदेव्यः स्युस्ताः सर्व्वाः प्रकृतेः कलाः ।
कलांशांशसमुद्भूताः प्रतिविश्वेषु योषितः ॥

सभी ग्रामदेवियाँ और समस्त विश्वस्थिता सभी स्त्रियाँ प्रकृतिमाता की अंशरूपिणी हैं । प्रकृति के दो रूप हैं । यथा—विद्या और अविद्या । देवीभागवत में लिखा है कि :—

विद्याऽविद्येति तस्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव ! ।
विद्यया मुच्यते जन्तुर्बध्यतेऽविद्यया पुनः ॥

प्रकृति के विद्या और अविद्या दो रूप हैं । विद्या के द्वारा जीवों की मुक्ति व अविद्या के द्वारा बन्धन होता है । प्रत्येक स्त्री जब प्रकृति की रूप है तो स्त्री में भी विद्या और अविद्या दो भाव हैं । विद्या सत्त्वप्रधान भाव और अविद्या तमःप्रधान भाव है । विद्याभाव की पुष्टि होने से स्त्री साक्षात् जगदम्बा हो सकती है; किन्तु अविद्याभाव की पुष्टि से स्त्री पापिनी व तमोमयी बनकर संसार में अनर्थ करती है और अपना भी इहलोक व परलोक बिगाड़ती है । देवीभागवत में लिखा है कि:—

सत्त्वांशाश्चोत्तमा ज्ञेयाः सुशीलाश्च पतिव्रताः ।
अधमास्तमसश्चांशा अज्ञातकुलसम्भवाः ॥
दुर्मुखाः कुलहा धूर्त्ताः स्वतन्त्राः कलहप्रियाः ।
पृथिव्यां कुलटा याश्च स्वर्गे चाऽप्सरसां गणाः ॥

प्रकृति के सत्त्वांश या विद्याभाव से उत्पन्न स्त्रियाँ उत्तमा हैं । वे सुशीला व पतिव्रता होती हैं । परन्तु तम या अविद्या के अंश से उत्पन्न स्त्रियाँ अधमा हैं । उनके कुल का ठिकाना नहीं रहता है । वे दुर्मुखा, कुलनाशकारिणी, धूर्त्ता, स्वतन्त्रा व कलहप्रिया होती हैं । ऐसी स्त्रियाँ पृथिवी में कुलटा और स्वर्ग में अप्सरागण हैं । ये विद्या और अविद्यारूप प्रधान दो भाव

प्रत्येक स्त्री में अन्तर्निहित है। धर्म्म का लक्ष्य जब जीव को अभ्युदय व निःश्रेयस देना है तो स्त्री के लिये वही धर्म्म होगा जिससे उसके अन्तर्निहित विद्याभाव की वृद्धि व अविद्याभाव का नाश हो। तपोमूलक पातिव्रत्यधर्म्म ही स्त्री में विद्याभाव की पूर्णता और अविद्याभाव का नाश कर सकता है इसी लिये पातिव्रत्यधर्म्म की इतनी महिमा महर्षियों ने वर्णन की है। तपस्विनी पतिव्रता सती अपने शरीर, मन, प्राण व आत्मा को समस्त संसार की वस्तुओं से हटाकर पति में ही लवलीन करती हुई पूर्णता को प्राप्त कर सकती है। यही नारीजाति के लिये परम पवित्र पातिव्रत्यधर्म्म है। इसलिये ही मन्वादि स्मृतियों में लिखा है कि:—

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्ज्जितः।
उपचर्य्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥
नाऽस्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाऽप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥
भुङ्क्ते भुक्तेऽथ या पत्यौ दुःखिते दुःखिता च या।
मुदिते मुदिताऽत्यर्थं प्रोषिते मलिनाम्बरा॥
सुप्ते पत्यौ च या शेते पूर्व्वमेव प्रबुद्ध्यते।
प्रविशेच्चैव या वह्नौ याते भर्त्तरि पञ्चताम्।
नाऽन्यं कामयते चित्ते सा विज्ञेया पतिव्रता॥

शील चरित्र व गुणों से हीन होने पर भी पतिव्रता स्त्री को सदा देवता के समान पति की सेवा करनी चाहिये। स्त्रियों के लिये कर्त्तव्य कोई भी पृथक् यज्ञ व्रत या उपवास आदि की विधि नहीं है, केवल पतिसेवा द्वारा ही उनको उन्नतलोक प्राप्त होता है। पति जीवित हो या मृत हो पतिलोक के चाहनेवाली स्त्री कदापि उसका अप्रिय आचरण नहीं करेगी। पति के भोजनके बाद भोजन करनेवाली, उसके दुःख से दुःखिनी व सुख से सुखिनी,

उसके विदेश जानेपर मलिन वस्त्रधारिणी, उसके सोने के बाद सोनेवाली, उसके जागने के पहले जागनेवाली, उसकी मृत्यु होनेपर अग्नि में प्राण त्याग देनेवाली और जिसके चित्त में सिवाय अपने पति के और किसीकी चिन्ता नहीं है वही स्त्री पतिव्रता कहलाती है।

स्त्रीजाति के लिये पातिव्रत्य की आवश्यकता को महर्षियों ने जो शास्त्रों के पत्र पत्र में दिखाया है इसका और भी एक विशेष कारण है जिसका कुछ विवरण पहले अध्याय में ही किया गया है। प्रकृतिराज्य में गवेषणा व सूक्ष्मदृष्टिपरायण योगी लोग इस विषय को अच्छी तरह से देखकर निर्णय कर सकते हैं कि नारीयोनि पुरुषयोनि से नीच है। श्रीभगवान् ने भी गीता में स्त्रियों को "पापयोनि" करके वर्णन किया है। प्रकृति में सृष्टि की दो धारा देखने में आती हैं। यथा—एक पुंशक्तिप्रधान पुरुषधारा और दूसरी स्त्रीशक्तिप्रधान स्त्रीधारा। प्रथम धारा में जीव यथाक्रम पुरुषयोनि प्राप्त होता हुआ उद्भिज्ज से ऊपरकी ओर अग्रसर होता है और द्वितीय धारा में जीव यथाक्रम स्त्रीयोनि प्राप्त होता हुआ उद्भिज्ज से ऊपर की ओर चलता है। दोनों ही धाराएँ प्राकृतिक क्रमविकाशवाद के अनुकूल हैं अतः इसमें अन्यथा नहीं होता है और प्राकृतिराज्य में स्वाभाविक व्यवस्था होने से अन्य उपाय वा सन्देह की कल्पना इसमें हो ही नहीं सकती है। अतः जो जीव प्रकृति की पुरुषधारा में उन्नत होता है वह मनुष्ययोनि के पहले तक बराबर पुरुष-योनि को ही प्राप्त करता हुआ चला आता है। इसी प्रकार स्त्रीधारा में पतित जीव भी उद्भिज्जयोनि से लगातार मनुष्ययोनि पर्य्यन्त स्त्री ही बनता हुआ चला आता है। परन्तु पुरुषयोनि स्वभावतः उन्नत होने से उस प्रकार स्वाभाविक स्त्रीधारा के अवलम्बन से स्त्रीयोनिप्राप्त जीव पुरुषयोनि तभी प्राप्त कर सकेगा जब वह पातिव्रत्यधर्म की पूर्णसिद्धि से पति में तन्मय होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट करके पति की पुरुषसत्ता में लय हो स-केगा, अन्यथा स्त्री कभी पुरुष नहीं हो सकती है। पतिलोक ऊर्द्ध्व पञ्चमलोक है। पातिव्रत्यधर्म के पूर्ण अनुष्ठान से पतिभाव में ही मग्न होकर स्त्री देह-त्याग के बाद पति साथ पञ्चमलोक में रहती है। वहीं उसी तन्मयता के साथ भोगकालपर्य्यन्त रहकर भोगावसान में पुनः संसार में आजाती है। उस समय उस स्त्री को पुरुषशरीर मिलता है क्योंकि पति में तन्मय हो-

जाने से उसकी स्त्रीसत्ता नष्ट होजाती है । इसी प्रकार पातिव्रत्यधर्म्म के बल से स्वभावतः नीचयोनि स्त्री उन्नत व मुक्तिपद पुरुषयोनि को प्राप्त कर सकती है । इसलिये ही नारीजाति के लिये पातिव्रत्यधर्म्म की ऐसी तपोमूलक कठिन आज्ञा महर्षियों ने दी है । इस पातिव्रत्य के अनुकूल जो कुछ शिक्षा व विधि है वही नारी के लिये धर्म्म है और उससे विपरीत जो कुछ है सो अधर्म्म है । पिता माता व पति आदि सभीका कर्त्तव्य है कि नारी को कन्या-दशा से लेकर मृत्युपर्य्यन्त ऐसी ही दशा देवें । आर्य्यशास्त्रों में कन्या के लिये पालनीय जो कुछ विधि बताई गई है और युवती स्त्री व वृद्धा के लिये भी जो कुछ उपदेश किया गया है सभी इस विज्ञान के अनुकूल हैं । इन सबोंका वर्णन क्रमशः नीचे किया जाता है ।

नारीजीवन को साधारणतः तीन अवस्था में विभक्त करसकते हैं । यथाः- कन्या, गृहिणी व विधवा । नारी का एकमात्र धर्म्म पातिव्रत्य होने से इसी व्रत के लिये शिक्षा से लगाकर पूर्त्ति तक उक्त तीनों अवस्थाओं में हुआ करती हैं । कन्यावस्था में पातिव्रत्य की शिक्षा, गृहिणी-अवस्था में उसकी चरितार्थता और विधवावस्था में उसका उद्यापन होता है ।

कन्यावस्था के काल के विषय में शास्त्रों में कहा है किः—

यावन्न लज्जिताऽङ्गानि कन्या पुरुषसन्निधौ ।
योन्यादीनि न गुह्येत तावद्भवति कन्यका ॥
यावच्चैलं न गृह्णाति यावत् क्रीडति पांशुभिः ।
यावद्दोषं न जानाति तावद्भवति कन्यका ॥

जबतक पुरुष के निकट आने में लज्जिता होकर स्त्री अपने अङ्गों को आवृत न करे तभीतक कन्यावस्था समझनी चाहिये । जबतक स्त्री वस्त्र ग्रहण नहीं करती है, धूलि आदि से खेलती रहती है और कामादि विषय-दोष कुछ भी नहीं जानती है तभीतक उसकी कन्यावस्था है । इस अवस्था में माता पिता का कर्त्तव्य है कि कन्या को इस प्रकार की शिक्षा देवें जिससे वह भविष्यत् में पतिव्रता, सती, अच्छी माता व धार्म्मिक रमणी बन सके । सकल शास्त्र ही स्त्रियों की शिक्षा के लिये आज्ञा देते हैं । यथाः—

यदि कुलोन्नयने सरसं मनो,
यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
यदि निजत्वमभीप्सितमेकदा,
कुरु सुतां श्रुतशीलवतीं तदा ॥

यदि कुल की उन्नति करने में विशेष इच्छा हो, यदि गार्हस्थ्यसुख की इच्छा हो और यदि आर्य्यगौरव प्रतिष्ठित रखने की अभिलाषा हो तो कन्या को विदुषी और शीलवती करना चाहिये ।

कन्याऽप्येवं पालनीया शिक्षणीयाऽतियत्नतः ।

पुत्र की तरह कन्या को भी अतियत्न से पालन व शिक्षाप्रदान करना चाहिये परन्तु शिक्षा देने के पहले कौनसी शिक्षा कन्या के लिये अनुकूल हो सकती है सो अवश्य विचार करने योग्य है क्यों कि अविचार के साथ विपरीत शिक्षा देने से हानि हो सकती है । अतः इस विषय में विचार किया जाता है ।

यह बात पहले ही कही गई है कि उन्नति बीजवृक्षन्याय से हुआ करती है । जिस प्रकार बीज में भावी वृक्ष के समस्त उपादान सूक्ष्मरूप से रहते हैं, केवल अनुकूल भूमि में रोपण होने से वे सब उपादान परिस्फुट होकर पूर्णशरीर वृक्षको उत्पन्न करते हैं; ठीक उसी प्रकार संसार प्रकृतिपुरुषात्मक होने से प्रत्येक पुरुष में पुरुषशक्ति का बीज और प्रत्येक स्त्री में प्रकृति शक्ति का बीज निहित रहता है । स्त्री व पुरुषों की उन्नति उसी अर्न्तनिहित बीज को वृक्षरूप में परिणत करने से ही होती है । शिक्षा का लक्ष्य उसी उन्नति का सम्पादन करना है इसलिये पुरुष की शिक्षा वह होनी चाहिये जिससे पुरुष के अर्न्तनिहित पुरुषत्वबीज वृक्षरूप में परिणत हो और स्त्री की भी शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे उसके अर्न्तनिहित प्रकृति-शक्ति का बीज वृक्षरूपेण परिणत हो । दोनों शक्ति पृथक् पृथक् हैं इसलिये शिक्षा भी पृथक् पृथक् होनी चाहिये । पुरुष में पुरुषभाव की पूर्णता करना पुरुषशिक्षा का लक्ष्य है । उसी प्रकार स्त्री में स्त्रीभाव की पूर्णता करना स्त्रीशिक्षा का लक्ष्य होना चाहिये । स्त्री को पुरुषप्रकृति बनाना या पुरुष को

स्त्रीप्रकृति बनाना शिक्षा का लक्ष्य नहीं होना चाहिये क्योंकि प्रकृति के प्रतिकूल होने से ऐसा करना अधर्म्म व असम्भव है। माता को पूर्ण माता बनाना ही माता के लिये शिक्षा है, उसको पिता बनाने के लिये यत्न करना उन्मत्तता व अधर्म्म है। इससे फलसिद्धि न होकर "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" होजायगा क्योंकि स्त्री को पुरुष की तरह शिक्षा देने का यही विषमय फल होगा कि प्रकृतिविरुद्ध व संस्कारविरुद्ध होने से वह स्त्री पुरुषभाव को तो कभी नहीं प्राप्त कर सकेगी, अधिकन्तु कुशिक्षा के कारण स्त्रीभाव को भी खोदेगी जिससे उसके व संसार के लिये बहुत ही हानि होगी। पतिभाव में तन्मयता ही स्त्री की पूर्णोन्नति होने के कारण, पुरुष के अधीन होकर ही स्त्री उन्नति कर सकती है, स्वतन्त्र होकर नहीं करसकती है और ऐसा करना भी स्त्रीप्रकृति से विरुद्ध है इसीलिये मनुजी ने कहा है कि:—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥
पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

पुरुषों का कर्त्तव्य है कि स्त्रियों को सदा ही अधीन रक्खें। उन्हें स्वतन्त्रता न देवें। गृहकार्य्य में प्रवृत्त करके अपने वश में रक्खें। स्त्री कन्यावस्था में पिता के अधीन रहती है। यौवनकाल में पति के अधीन रहती है और वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहती है। कभी भी स्वतन्त्र करने योग्य स्त्रीजाति नहीं है। मनुजी के कथित इस प्रकृति पुरुष के गूढ विज्ञान का रहस्य पहले ही कहागया है। पुरुषधर्म्म के साथ स्त्रीधर्म्म की यह और भी एक विशेषता है कि दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तानुसार पुरुष की मुक्ति प्रकृति से पृथक् होने पर तब होती है; परन्तु प्रकृति की मुक्ति पुरुष में लय होने से ही होती है। इसलिये पुरुष का धर्म्म स्त्री से स्वतन्त्र रहना और उसके वश में न होना ही है, स्त्रैण पुरुष बद्ध है, मुक्तिलाभ नहीं करसकता है;

परन्तु स्त्री का धर्म्म सर्व्वथा पुरुष के वश व अस्वतन्त्र होना ही है क्योंकि उपासक उपास्य देव के वश होकर उनमें लय होने से ही मुक्तिलाभ कर सक्ता है, उनसे पृथक् होने पर नहीं कर सकता है। पतिदेवता के साथ स्त्री का उपास्य-उपासकभाव है। यही पातिव्रत्यधर्म्म है। इसमें स्वतन्त्रताभाव कभी नहीं आसकता है। स्वतन्त्रताभाव आजाने से पातिव्रत्यधर्म्म नष्ट होता है और स्त्री की अधोगति होती है। इसमें और भी एक सांख्य-दर्शनमूलक वैज्ञानिक कारण है कि पुरुष के स्वरूप में स्थित होने से ही प्रकृति का लय होता है, बद्ध पुरुष की प्रकृति लय नहीं होती है। स्त्री की स्वतन्त्रता पुरुष में बन्धन उत्पन्न करती है। स्वतन्त्र स्त्री पुरुष को आधीन करलेती है। अतः ऐसी दशा में पुरुष व स्त्री किसीकी भी मुक्ति नहीं होगी। दोनों ही बद्ध रहेंगे। स्त्री पुरुषके अधीन रहे तभी सब ओर कल्याण है। इसलिये स्त्री स्वतन्त्र नहीं होनी चाहिये। और बृहदारण्यक उपनिषद् का प्रमाण देकर पहले ही कहागया है कि प्रकृति पुरुष की इच्छा से ही पुरुष से उत्पन्न होती है। जिसकी उत्पत्ति जिसके अधीन है वह उससे स्वतन्त्र नहीं हो सकता है। इसलिये पुरुष के अधीन होना ही स्त्री के लिये स्वाभाविक धर्म्म है। स्त्री को पुरुष की तरह शिक्षा देने से उसमें स्वतन्त्र-भ्रमण, स्वतन्त्र-प्रेम और स्वेच्छाचार आदि स्वतन्त्रता के भाव आजायंगे क्योंकि पुरुष के लिये जो शिक्षा है उसमें स्वतन्त्रता का भाव भरा हुआ है। उससे पुरुष को तो लाभ है, परन्तु स्त्री की बहुत हानि है। अतः इस प्रकार की शिक्षा कभी नहीं देनी चाहिये। इससे और भी एक हानि है। स्त्रीजाति स्वभावतः अभिमानिनी हुआ करती है। उनका यह अभिमान यदि पातिव्रत्यमूलक हो तो इससे स्त्रियों का बहुत ही कल्याण होता है। "मेरा शरीर, मन व प्राण पति के ही चरणकमलों में समर्पित है, मेरा जीना उन्हींके लिये है, मैं कभी उनके सिवाय दूसरे पुरुष की चिन्ता स्वप्न में भी नहीं कर सकती हूँ, मेरे लिये पति सिवाय संसार में और कोई पुरुष ही नहीं है," इत्यादि पातिव्रत्यमूलक अभिमान जिसको 'सौभाग्यगर्व्व" कहते हैं, स्त्रीजाति के लिये बहुत ही उन्नतिकर है। परन्तु स्त्री को पुरुष की तरह शिक्षा देने से उस प्रकार का अभिमान नष्ट होकर पुरुषों के साथ बराबरी करने का अभिमान स्त्रियों में होजायगा। "मैं उनसे कम किस

लिये होऊँगी, उनमें मेरेसे अधिक योग्यता क्या है, मैं भी विश्वविद्यालय में परीक्षोत्तीर्ण होकर प्रतिष्ठा पा सकती हूँ और सब काम पुरुष की तरह कर सक्ती हूँ, मुझे घर में बाँध रखने का उनको क्या अधिकार है" इत्यादि पातिव्रत्यधर्म्मनाशकारी अभिमान उस प्रकार की शिक्षा के फलरूप से स्त्रियों के चित्त को ग्रास करलेगा जिससे उनमें नारीभाव की सत्ता नाश होकर उनकी अधोगति होगी। अतः स्त्रीजाति को पुरुष की तरह शिक्षा कभी नहीं देनी चाहिये। आजकल बहुत लोगों की प्रवृत्ति जो स्त्रियों को इस प्रकार पुरुष की तरह शिक्षा देने की ओर झुकी हुई है सो सब ऊपर लिखित कारणों से भ्रमयुक्त समझनी चाहिये। उनको स्त्रीप्रकृति के साथ पुरुषप्रकृति के प्रभेद का ज्ञान होता तो ऐसा भ्रम नहीं करते। कइयों ने तो इतना अनर्थ करना प्रारम्भ कर दिया है कि स्त्रियों को पुरुषों की तरह व्यायाम आदि सिखाने लगे हैं। ऐसा करना उनके सम्पूर्ण प्रमाद का परिचायक है। व्यायाम करना अच्छा है क्योंकि उससे स्थूलशरीर की स्वास्थ्यरक्षा होती है, परन्तु स्त्रीशरीर पुरुषशरीर से भिन्न प्रकृति का होने के कारण पुरुष के लिये जो व्यायाम है उससे स्त्रियों को कोई लाभ नहीं हो सकता है। उससे स्त्रियों को उल्टी हानि होती है। वीर्य्यप्रधान व कठिन-शरीर पुरुषके लिये जो व्यायाम है उसको रजःप्रधान व कोमलशरीर स्त्री के लिये विहित करने से उसको सन्तानादि होने में बाधा व गर्भाशय आदि स्थानों में कई प्रकार की बाधा व पीड़ा होजासक्ती है जिससे नारी नारी-धर्म्म को ही पालन नहीं कर सकेगी। और यही बात सुश्रुत आदि चिकित्सा-शास्त्रों में भी बताई गई है। अतः इसप्रकारकी शारीरिक व्यायामशिक्षा स्त्रियों को कभी नहीं देनी चाहिये। उनका व्यायाम गृहकार्य्य ही होना चाहिये। घर में कई प्रकार के कार्य्य होते हैं जिससे स्त्रीजाति के उपयोगी पूरे व्यायाम का फल स्त्रियों को प्राप्त होसक्ता है और शारीरिक हानि भी कुछ नहीं होती है। ये ही सब उनकी प्रकृति के अनुकूल है अतः धर्म्म है।

अब स्त्रियों को कन्यावस्था में किसप्रकार शिक्षा देनी चाहियेसो बताया जाता है। पहले ही कहागया है कि कन्या की ऐसी शिक्षा होनी चाहिये कि जिससे वह भविष्यत् में अच्छी माता व पतिव्रता बन सके क्योंकि अपनी उन्नति और सन्तानों की प्राथमिक शिक्षा के लिये पिता से भी माता का स-

म्बन्ध अधिक रहता है। वीर माता की वीर सन्तान और धार्म्मिक माता की धार्मिक सन्तान प्राय: हुआ करती है। ध्रुव, प्रहलाद, अभिमन्यु, महाराणा प्रतापसिंह, नैपोलियन, जोसेफमेजिनि, जर्जओयाशिंटन आदि महापुरुष व शक्तिमान् पुरुषों की जीवनी को ढूँढ़कर देखा जाय तो पता लगेगा कि उनके असाधारण चरित्र का बीज बाल्यावस्था में माता के द्वारा ही उनके हृदय में अंकुरित हुआ था। इसलिये कन्याओं को ऐसी ही शिक्षा देनी चाहिये जिससे वे माता बनकर आदर्श सन्तान उत्पन्न कर सकें। प्रत्येक कन्या को हिन्दुधर्म्म की सारभूत बातें सरलरीति से मौखिक उपदेश व देशी सरलभाषा में बनाई हुई पुस्तकों के द्वारा सिखानी चाहिये। रामायण व महाभारत में से उपदेश-पूर्ण सारभूत विषय, मनु आदि स्मृतियों व भगवद्गीता और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंसे अच्छे अच्छे उपदेश एवं सदाचार के विषय अवश्य सिखाने चाहियें। साधारणरूप से संस्कृत की शिक्षा देना भी अच्छा है। इसके सिवाय यदि किसी स्त्री में विशेष संस्कार देखने में आवे तो उसे विशेषरूप से संस्कृत विद्या, दर्शन, स्मृति व उपनिषद् आदि भी पढ़ा सकते हैं। प्राचीनकाल में गार्गी मैत्रेयी आदि ऐसी असाधारण विदुषी स्त्रियाँ हो गई हैं। परन्तु स्मरण रहे कि वह अधिकार असाधारण है अतः सभी स्त्रियों के लिये नहीं है। गार्गी व मैत्रेयी एकआध ही हुआ करती हैं। सबोंको गार्गी बनाने की चेष्टा करने से विफलता होगी जिसका फल खराब होगा। स्त्रियों का आदर्श गार्गी नहीं है परन्तु सीता व सावित्री है इसलिये उनकी शिक्षा सीता व सावित्री के आदर्श पर होनी चाहिये। शोभा प्रकृतिराज्य की वस्तु है और ज्ञान पुरुषराज्य की वस्तु है। ज्ञानकी पूर्णता में पुरुष की पूर्णता होती है परन्तु प्रकृति की पूर्णता ज्ञान की पूर्णता से नहीं हो सकती है। प्रकृति की पूर्णता मातृभाव की पूर्णता में है। पूर्ण प्रकृति जगदम्बा है। प्रकृति जगदम्बा होकर ही पूर्ण शोभा को प्राप्त करती है, ज्ञानी बनकर शोभा को नहीं प्राप्त करती है। उसका ज्ञान मातृभावमूलक है, मातृभाव को नष्ट करने वाला नहीं है। ऐसा होना अप्राकृतिक है अतः शोभा को बिगाड़नेवाला है। इसलिये सीता व सावित्री आदि ही आदर्श नारियाँ हैं, गार्गी आदर्शनारी नहीं है, इस विचार को हृदय में धारण करके कन्याओं को शिक्षा देनी चाहिए। उनको शिवपूजा आदि पूजा और संस्कृत व भाषा में अच्छे-अच्छे

स्तोत्र सिखाने चाहिए। जो स्वाभाविकी भक्ति स्त्रियों के चित्त में है उसको बिगाड़ना नहीं चाहिये, परन्तु उनके अधिकार के अनुसार विविध प्रकारके व्रत व पूजा आदि के द्वारा उसे पुष्ट करना चाहिए। सीता, सावित्री व राजपूताना की पद्मिनी आदि सतियों के मनोहर चरित्रों की पुस्तक बनाकर उनको पढ़ाना चाहिये और सतीधर्म्म के गौरव व उसके उन्नत सुख के भावों को उनके बालहृदय में खचित कर देना चाहिए। यही सब स्त्रियों के लिए कन्यापन में देने योग्य धार्म्मिक शिक्षा है।

इसके सिवाय उनको साहित्य की शिक्षा भी देनी चाहिए। साधारण संस्कृत साहित्य की शिक्षा और अपने-अपने देश की भाषा व उसमें बने हुए साहित्य की शिक्षा देनी चाहिए। साधारणरूप से उनको इतिहास व भूगोल की भी शिक्षा देनी चाहिये। गृहिणीधर्म्म पालन के लिये आवश्यकीय पदार्थविद्या (सायन्स) की शिक्षा भी अवश्य ही देनी चाहिये। यह बात पहले ही कही गई है कि हिन्दुशास्त्रों में जितने प्रकार के आचार व नित्य गृहकृत्य बताये गये हैं, सबके मूल में सायन्स के गूढ रहस्य भरे हुए हैं। इसलिये जब गृहस्थाश्रम में शान्ति, नीरोगता व उन्नति का भार गृहिणी पर ही है तो उसको सदाचार आदि सब विषयों का ज्ञान अवश्य रहना चाहिये। इसलिये इस ज्ञान की शिक्षा कन्यावस्था में देना परम आवश्यकीय है। किस ओर और कैसे घर बनने चाहिए, उनमें द्वार खिड़की आदि कैसे लगाने चाहिए, शारीरिक स्वास्थ्य के लिये घर के वायु को किस प्रकार शुद्ध रखना चाहिए, घर भीतर बाहर कैसा शुद्ध चाहिए, वस्त्र, शय्या या और और पदार्थ कैसे होने चाहिए, कूप आदि जलाशय घर से कितनी दूर व कैसे होने चाहिए, बच्चों को सुबे से शाम तक क्या क्या करना चाहिए, भोजन किस प्रकार से बनाना चाहिए, किस देश काल में कौन-कौन चीज खानी चाहिए, जब देश में बीमारी फैल जाय तो उस समय कौन-कौन चीज नहीं खानी चाहिए, रोगियों की सेवा किस प्रकार से करनी चाहिए और घर में कोई रोगी होने पर कैसी व्यवस्था रखनी चाहिए जिससे रोगी को आराम व साहस रहे इत्यादि इत्यादि गार्हस्थ्य सायन्स की बातें कन्याओं को सिखाना बहुत ही आवश्यकीय है क्योंकि गृहिणी बनने के बाद इन सब बातों को जानती हुई रहने

से वे गृहस्थाश्रम की पालना ठीक ठीक कर सकेंगी, अन्यथा नहीं कर-सकेंगी। साधारण जड़ी बूंटी आदि की दवाइयाँ या साधारण रोग में वने योग्य औषधियाँ उनको अवश्य ही सिखानी चाहियें जो कि गृहस्थाश्रम में प्रायः सर्व्वदा काम में आती हैं; क्योंकि साधारण बच्चों के रोगों में हर समय वैद्य या डॉक्टर बुलाना कठिन व व्ययसाध्य भी है। इसलिये साधारण चिकित्सा का ज्ञान माता को ही रहना चाहिये। इसके सिवाय गणितशास्त्र की भी साधारण शिक्षा कन्या को देनी चाहिये जिससे गृहिणी-अवस्था में गृहस्थी में नित्य खर्च का हिसाब व चीजों के लेन देन का हिसाब माता खुद ही रखसकें। साधारण शिल्पशास्त्र का ज्ञान भी कन्याओं को देना उचित है जिससे आगे जाकर उनके अवकाश का समय वृथा उपहास व कथाओं में नष्ट न होकर अच्छे व गृहस्थ के लिये आवश्यकीय कार्य्यों में बीत सके। कपड़े आदि सीने का काम, मोजा टोपी आदि बच्चों के लिये आवश्यकीय चीजों के बनाने का काम और चित्र बनाने का काम आदि शिल्पविद्या अवश्य उनके लिये सीखने योग्य हैं। मातृत्व का प्रधान अङ्ग बच्चों का पालन करना है। पालन करने के साथ अन्नभोजन का सम्बन्ध रहता है। इसलिये रसोई बनाने के साथ मातृत्व का सम्बन्ध अवश्य है। अच्छी माता को अच्छी रसोई बनानेवाली होना चाहिये और इसमें उसको अपना गौरव भी समझना चाहिये। गृहस्थाश्रम में भोजन एक नित्ययज्ञ है, माता अन्नपूर्णा की तरह इस नित्ययज्ञ में अधिष्ठात्री देवी हैं और सब लोग यज्ञभाग लेनेवाले देवता हैं। यज्ञीय देवता अशरीरी होने के कारण अपना सन्तोष परोक्षरूप से ही प्रायः प्रकट करते हैं, परन्तु भोजनरूपी नित्यज्ञ के देवता लोग प्रत्यक्षरूप से सन्तोष असन्तोष उसी समय प्रकट करते हैं इसलिये इस नित्ययज्ञ की अधिकारिणी कन्याकाल से ही माताओं को बनना चाहिये। उस यज्ञ में सामग्री कैसी अच्छी होनी चाहिये, यज्ञीय द्रव्यों को किस प्रकार शुचि होकर तय्यार करना चाहिये और किस प्रकार प्रीति और भक्ति के साथ सबको परोसना चाहिये, इत्यादि विषय कन्याओं को अवश्य ही सिखाये जाँय तभी आगे जाकर उनमें भगवती का भाव प्रकट होगा जिससे गृहस्थाश्रम में सदा ही लक्ष्मी व शान्ति विराजमान रहेगी। कन्याओं को इन सब ऊपरलिखित विषयों की शिक्षा देने का

भार यदि पिता माता लेवें तो बहुत ही अच्छा है, किन्तु यदि किसी कारण से ऐसा होना असम्भव हो तो बालिकाविद्यालय में उनको भेजकर सब प्रकार की शिक्षा दिलवानी चाहिये । अवश्य, विद्यालय की व्यवस्था को विचार के साथ जाँच करके यदि विश्वास के योग्य हो तभी कन्याओं को वहां भेजना चाहिये । अन्यथा, व्यवस्थाहीन खराब विद्यालय में भेजने से हानि की बहुत सम्भावना रहेगी । कन्या के विवाह के या रजस्वला होने के अनन्तर उसको विद्यालय में कभी नहीं भेजना चाहिये । उस दशा में उसको धर्म्म आदि की शिक्षा देना पति का कर्त्तव्य है और गृहस्थी की बातों की शिक्षा देना सास आदि का कर्त्तव्य है ।

मनुजी ने पुरुषप्रकृति व स्त्रीप्रकृति पर संयम करके दोनों का प्रभेद देख कर स्त्री के लिये निम्नलिखितरूप से संस्कारों की आज्ञा की है । यथाः—

अमन्त्रिका तु कार्य्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्ऽथं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ।।
वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहाऽर्थोऽग्निपरिक्रिया ।।

शरीर की शुद्धि के लिये यथाकाल व यथाक्रम जातकर्म्मादि सभी संस्कार स्त्रियों के लिये भी कराने चाहियें, परन्तु उनके संस्कार वैदिकमन्त्ररहित होने चाहियें । सभी संस्कार कहने से यदि स्त्रियों के लिये उपनयन संस्कार की भी आज्ञा समझी जाय, इस सन्देह को सोचकर मनुजी दूसरे श्लोक में कहते हैं कि स्त्रियों का उपनयन संस्कार नहीं होना चाहिये । विवाह संस्कार ही स्त्रियों का उपनयन संस्कार है । इसमें परमगुरु पति की सेवा ही गुरुकुल में वास है और गृहकार्य्य ही सन्ध्या व प्रातःकाल में हवनरूप अग्निपरिचर्य्या है । यही स्त्रियों के लिये उपनयन संस्कार है । द्विजबालकों की तरह उपनयन संस्कार स्त्रियों के लिये नहीं है । ऐसी अमन्त्रक क्रिया व उपनयन न करने की आज्ञा मनुजी ने क्यों की है इस का उत्तर मनुजी ने ही अपनी संहिता के नवम अध्याय में दिया है । यथाः—

शय्याऽऽसनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्ज्जवम् ।
द्रोहभावं कुचर्य्याञ्च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ।।

नाऽस्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्म्मंव्यस्थितिः।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः॥

शय्या आसन व अलङ्कार आदि विषयों में प्रीति, काम, क्रोध, कुटिलता, परद्रोह व कदाचार सभी स्त्री के साथ सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। स्त्रीजाति के जातकर्म्मादि कोई भी संस्कार वैदिकमन्त्रों से नहीं होते हैं, ऐसा ही शास्त्र की विधि है। वेद आदि शास्त्रों में इनका अधिकार नहीं है और वैदिकमन्त्रों में भी इनका अधिकार नहीं है इसलिये स्त्रीजाति हीनयोनि है। श्री भगवान् ने भी स्त्रियों को किसलिये गीताजी में पापयोनि कहा है, इसका तात्पर्य पहले ही वर्णन किया गया है। इनके इस प्रकार हीनयोनि होने के कारण मन्त्रहीन जातकर्म्मादि संस्कार की आज्ञा और उपनयन संस्कार का निषेध किया गया है। शरीर की शुद्धि स्त्री व पुरुष दोनों के लिये ही परमावश्यकीय है, इसलिये मनुजी ने दोनोंके लिये ही जात-कर्म्मादि संस्कारों की आज्ञा दी है, परन्तु उपनयन की जो आज्ञा नहीं दी है इसका कारण उपनयनानन्तर के कर्त्तव्य की ओर दृष्टिपात करने से ही ज्ञात होगा। आचार्य्यकुल में जाकर वेदाभ्यास व गुरु को आत्मसमर्पण करना ही ब्रह्मचारी का धर्म्म बताया गया है। स्त्री के लिये सिवाय पति के और कहीं आत्मसमर्पण करना पातिव्रत्यधर्म्म के अनुकूल नहीं होगा क्योंकि पति में तन्मय होने से ही स्त्री की मुक्ति हो सकती है अन्यथा नहीं हो सकती है। पति ही उसके परमगुरु हैं इसलिये पति की सेवा ही उसका गुरुकुलवास है अतः उपनयन के द्वारा गुरुकुलवास स्त्रियों के लिये निरर्थक है।

स्त्रियों के लिये वेदपाठ का निषेध, उनकी नीचयोनि है, इसलिये ही मनुजी ने किया है क्योंकि महाभाष्य के प्रमाणानुसार, जैसा कि वर्णधर्म्म के अध्याय में कहागया है, यदि स्वर या वर्ण से वेदमन्त्र अशुद्ध उच्चारण हो तो वह मन्त्र यजमान का कल्याण न करके उलटा उसको नाश करता है। स्त्रीशरीर द्विजशरीर से छोटे अधिकार का होने के कारण स्त्री के द्वारा स्वरतः वर्णतः वैदिकमन्त्रों का ठीक ठीक उच्चारण असम्भव है, अतः जिस प्रकार शूद्र के वेदमन्त्र के उच्चारण करने पर उसकी हानि

है ऐसा ही स्त्री के भी वेदमन्त्रोच्चारण से उसकी बहुत हानि होगी, इसी लिये मनुजी ने स्त्रियों के लिये उपनयन संस्कार का पूरा निषेध और जातकर्म्मादि में वैदिक मन्त्रोच्चारण का निषेध किया है। साधारण विचार से ही ज्ञात हो सक्ता है कि स्त्रियों का कण्ठ व जिह्वा असम्पूर्ण हैं। उनमें उदात्त और अनुदात्त आदि वैदिक स्वरों का ठीक ठीक प्रकट होना असम्भव है। उनका स्वर प्रायः एक ही ढङ्ग का होता है उसमें गुरु लघुभेद कम होता है जो कि मन्त्रों के उच्चारण के योग्य नहीं है। असम्पूर्ण स्वर व शरीर के द्वारा पूर्ण शक्तियुक्त मन्त्रों के उच्चारण करने से कल्याण व शुभफल के बदले हानि व अशुभफल प्राप्त होता है इसलिये मनुजी ने ऐसी आज्ञा स्त्रियों के लिये की है। अब इस साधारण विधि का उल्लङ्घन केवल दो असाधारण दशा में हो सक्ता है। एक विवाह और दूसरी ब्रह्मवादिनी स्त्रीदशा है। स्त्रियों के जातकर्म्मादि संस्कारों में वैदिक मन्त्रोच्चारण निषिद्ध होने पर भी विवाह संस्कार के समय जो मन्त्रोच्चारण की आज्ञा की गई है उसका उद्देश्य बहुत गम्भीर है। मन्त्र दो प्रकार के होते हैं। यथा एक शक्तिप्रधान और दूसरे भावप्रधान। निरुक्त में भी वर्णन है कि:—

अथाऽपि कस्यचिद्भावस्याऽऽचिख्यासा।

शक्तिप्रधान मन्त्रों के अतिरिक्त कोई कोई मन्त्र भावप्रधान भी होते हैं। शक्तिप्रधान मन्त्रों के साथ स्थूलशरीर का और भावप्रधान मन्त्रों के साथ चित्त का सम्बन्ध प्रधानतः रहता है। जातकर्म्मादि संस्कारों में जो वैदिक मन्त्र आते हैं वे सब शक्तिप्रधान होने के कारण उन्नत स्थूल शरीरवाले द्विजपुरुषों के लिये ही विहित हो सक्ते हैं; अनुन्नत स्थूलशरीर स्त्रियों के लिये विहित नहीं हो सक्ते हैं। परन्तु विवाहसंस्कार के जितने मन्त्र हैं सभी भावप्रधान हैं। विचारवान् पुरुष सप्तपदीगमन के जितने मन्त्र पढ़े जाते हैं उनपर ध्यान देने से ही इस बात को अच्छी तरह अनुभव करेंगे; अतः विवाहसंस्कार के मन्त्रों में भावप्रधान्य होने से भावशुद्धि के समय स्त्री-पुरुष दोनों ही मन्त्रों को पढ़ सकते हैं, अन्य समय नहीं पढ़ सकते। आर्य्यशास्त्रों में विवाहसंस्कार अन्यदेशीय विवाहसंस्कार से कुछ विलक्षण ही है। आर्य्यविवाह कामभोग द्वारा पशुभाव प्राप्त करने के लिये नहीं है, परन्तु अद्वितीय

परमात्मा के वाम-अङ्ग से जिस प्रकृति ने सृष्टि के समय निकलकर संसार में स्त्री पुरुषरूपी द्वितीयता को फैला दिया था; उस प्रकृति का परमात्मा में पुनः लय साधन करके उसको उसी अद्वितीय भाव लाने के लिये है। विवाह के सब मन्त्र इसी भाव को सूचित करते हैं जो कि आगेके किसी समुल्लास में बताया जायगा। यजुर्वेद में पाणिग्रहण का एक मन्त्र मिलता है जिसका अर्थ यह है कि "में लक्ष्मीहीन हूँ तुम लक्ष्मी हो, तुम्हारे बिना मैं शून्य हूँ तुम मेरी लक्ष्मी हो, मैं सामवेद हूँ तुम ऋग्वेद हो, मैं आकाश हूँ तुम पृथिवी हो और तुम व मैं दोनों मिलकर ही पूर्ण हैं", "तुम्हारा हृदय मेरा होजाय और मेरा हृदय तुम्हारा होजाय", "अन्नरूप पाश व मणि-तुल्य प्राणसूत्रद्वारा और सत्यरूप ग्रन्थि से तुम्हारे मन व हृदयको मैं बन्धन करता हूँ", "तुम्हारे केश नेत्र हस्त व पद आदि शरीर के अङ्गों में यदि कोई दोष हो तो मैं उसे पूर्णाहुति वा आज्याहुति के द्वारा नष्ट करता हूँ" इत्यादि इत्यादि विवाह संस्कार के मन्त्रों से स्पष्ट सिद्ध होता है विवाह-कालमें स्त्री पुरुष दोनों की ही विशेष भावशुद्धि और पातिव्रत्य का लक्षण व पति में तन्मयता की प्राप्ति स्त्री को उस समय होती है अतः पुरुष का अधिकार, भावप्रधान वैदिकमन्त्रों का उच्चारण, उस समय स्त्री करसकती है। यहि कारण है कि अन्य संस्कारों में स्त्रियों के लिये वैदिक मन्त्रोच्चारण निषिद्ध होने पर भी विवाह के समय वैवाहिक मन्त्रों के उच्चारण के लिये आज्ञा कीगयी है।

मन्त्रोच्चारण में दूसरा अधिकार ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का है। स्त्री में ज्ञान-मय पुरुष का भाव कमऔर तमोमयी प्रकृति का भाव अधिक होने से ज्ञान-शक्ति का विकाश स्त्रीजाति में साधारण ही होता है, विशेष नहीं होता है। इनकी प्रकृति तन्मयतामूलक होने से इनमें भक्तिभाव अधिक रहता है; परन्तु ब्रह्मवादिनी स्त्री की दशा एक असाधारण दशा है जिसमें ज्ञानशक्ति का विकाश विशेष होता है। वर्णधर्म्मनामक अध्याय में कहागया है कि आरूढ-पतित मनुष्य में या पशु आदि तक में भी साधारण प्राकृतिक नियम से उन्नत मनुष्य या पशु आदि की अपेक्षा विशेष योग्यता देखने में आती है; इसी प्रकार ब्रह्मवादिनी स्त्री की दशा भी आरूढपतित दशा समझनी चाहिये। साधारण रीति से प्रकृति के प्रवाह में क्रमोन्नति स्त्री में ज्ञान-

शक्ति का इतना विकाश कभी नहीं हो सकता है क्योंकि साधारण स्त्री में प्रकृतिभाव प्रधान होने से अज्ञानभाव प्रधान रहेगा । असाधारण ब्रह्म-वादिनी स्त्री की दशा तभी प्राप्त हो सकती है जब किसी विशेष ज्ञानशक्ति से युक्त पुरुष को पूर्व्वजन्म के किसी स्त्रीयोनिप्रद प्रबल नीचकर्म के कारण स्त्रीयोनि प्राप्त हो । त्रिगुणमयी माया के लीलाविलासमय संसार में ऐसा होना असम्भव नहीं है क्योंकि भरत ऋषि आदि महत्पुरुषों में भी जब मोह के सम्बन्ध में मृगयोनि की प्राप्ति होना आदि देखा जाता है तो अच्छे पुरुष के द्वारा भ्रान्ति से स्त्री-संस्कार-प्रधान कुकर्म्म होना असम्भव कुछ भी नहीं है और इसी प्रकार के कर्म्मों से स्त्रीयोनि की प्राप्ति होना भी निश्चय है । कात्यायनसंहिता में लिखा है कि :—

मान्या चेन्म्रियते पूर्व्वं भार्य्या पतिविमानिता ।
त्रीणि जन्मानि सा पुँस्त्वं पुरुषः स्त्रीत्वमर्हति ॥
यो दहेदग्निहोत्रेण स्वेन भार्य्यां कथञ्चन ।
सा स्त्री सम्पद्यते तेन भार्य्या वाऽस्य पुमान्भवेत् ॥

यदि निर्दोषा माननीया भार्य्या पति के द्वारा अवमानिता होकर मरे तो तीन जन्मतक वह स्त्री पुरुषयोनि को और पुरुष स्त्रीयोनि को प्राप्त होते हैं। जो पुरुष अपने अग्निहोत्र के द्वारा किसी तरह से अपनी पत्नी को दाह करता है वह स्त्री होता है और स्त्री पुरुषयोनि प्राप्त होती है । दक्षसंहिता में भी लिखा है कि :—

अदुष्टाऽपतितां भार्य्यां यौवने यः परित्यजेत् ।
स जीवनाऽन्ते स्त्रीत्वञ्च वन्ध्यात्वञ्च समाप्नुयात् ॥

निर्दोषा और निष्पापा भार्य्या को जो गृहस्थ यौवनकाल में परित्याग करता है वह मृत्यु के अनन्तर दूसरे जन्म में वन्ध्या स्त्री होता है । श्री-भगवान् ने गीतामें कहा है कि :—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥

मृत्यु के समय जिस भाव से चित्त भावित होता है, मृत्यु के बाद गति

भी तदनुसार प्राप्त होती है । इसका दृष्टान्त भागवत के पुरञ्जनाख्यान में मिलता है । यथाः—

शाश्वतीरनुभूयाऽऽर्त्तिं प्रमदासङ्गदूषितः ।
तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा ॥

पुरञ्जन प्रमदासङ्गदोष से दूषित होने के कारण बहुत दिनों तक दुःख अनुभव करके मृत्यु के समय अपनी पतिव्रता स्त्री को स्मरण करते-करते मर गये और इसी कारण उनको उत्तम स्त्रीयोनि प्राप्त हुई । इन सब प्रमाणों के द्वारा पुरुष की स्त्रीयोनिप्राप्ति सिद्ध होती है, अतः इस तरह से यदि कोई ज्ञानराज्य में उन्नत पुरुष भावविकार के कारण स्त्रीयोनि प्राप्त होजाय तो पूर्व्व संस्कार ज्ञानप्रधान होने से वह स्त्री साधारण स्त्रियोंसी नहीं होगी; परन्तु असाधारण ब्रह्मवादिनी स्त्री होगी और असाधारण होने से उसका अधिकार भी असाधारण होगा । इसलिये उन ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के लिये शास्त्रों में उपनयन संस्कार और वेदपाठ का भी विधान किया गया है । महर्षि हारीत ने कहा है कि:—

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च । तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाऽध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्य्या ।

दो प्रकार की स्त्रियां होती हैं । यथा—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू । इन में से ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के लिये उपनयन, अग्नीन्धन, वेदाध्ययन और निज गृह में भिक्षाचर्य्या विहित है । सद्योवधू स्त्रियों के लिये ऐसी विधि नहीं है । उनके लिये विवाह ही उपनयन संस्कार और पतिसेवा गुरुकुल-वास आदि धर्म्म हैं जैसा कि मनुजी ने बताया है । प्राचीन काल में ज्ञान की प्रधानता थी इसलिये ज्ञानोन्नत पुरुष अनेक थे और इसी कारण उस प्रकार की आरूढपतिता ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ भी मिलती थीं एवं उसीलिये उन स्त्रियों के अर्थ उपनयन और वेदपाठ आदि का विधान भी था । अब इस युग में ज्ञान का ह्रास हो गया है अतः विशेष ज्ञानोन्नत पुरुष विरले ही मिलते हैं और आरूढपतिता ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ भी नहीं मिलती हैं । आज कल भावविकार से कोई पुरुष स्त्री भी होजाय तथापि पूर्व्वजन्म में ज्ञान

का संस्कार कम होने से ब्रह्मवादिनी की अवस्था को नहीं पा सकता है अतः स्त्रियों के लिये कलियुग में उपनयन और वेदपाठ आदि निषिद्ध हैं । महर्षियम ने भी लिखा है कि:—

पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनञ्च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥
पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः ।
स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्य्या विधीयते ।
वर्ज्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च ॥

पूर्व्व कल्प में कुमारियों का मौञ्जीबन्धन, वेदाध्ययन व सावित्रीवचन इष्ट था । पिता, पितृव्य या भ्राता उनको वेद पढ़ाते थे । दूसरे किसीका अधिकार उनको वेद पढ़ाने का नहीं था । अपने ही घर में भिक्षाचर्य्या की व्यवस्था थी । उनके लिये मृगचर्म्म, कौपीन व जटाधारण की आज्ञा नहीं थी । यह सब पूर्व्वयुग के लिये व्यवस्था है जैसा कि महर्षि यम ने कहा है । और यह भी व्यवस्था ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के लिये है, सद्योवधू साधारण स्त्रियों के लिये नहीं है जैसा कि कारण बताकर पहले कहा गया है । विधि साधारण प्रकृति को देखकर ही हुआ करती है, असाधारण को देखकर नहीं हुआ करती है । कहीं भी एक दो स्त्री ब्रह्मवादिनी निकलें और वे वेदपाठ आदि की शक्ति रखती हों, इससे यह नियम सबके लिये नहीं हो सकता है सबके लिये असाधारण नियम की आज्ञा होने से पूर्व्व सिद्धान्तानुसार अनधिकारी व्यक्ति के शक्तिमान् वैदिक मन्त्रादि पढ़ने पर कल्याण न होकर विशेषरूप से अकल्याण ही होगा । अतः विचारवान् पुरुषों को इन सब सिद्धान्तों पर विचार करके सावधान रहना चाहिये । मनुजी ने जो उपनयन आदि का एकदम निषेध किया है सो साधारण विधि के विचार से ही किया है और हारीत व यम ऋषि ने साधारण व असाधारण दोनों अधिकारों का ही विचार करके कलियुग की स्त्रियों के लिये साधारण विधि ही समीचीन बताई है । पहले ही कहा गया है कि स्त्रीजाति पति में तन्मय होकर ही अपनी योनि से मुक्त हो सकती है । इस प्रकार की ब्रह्मवादिनी स्त्रीयाँ भी आगामी जन्म में अवश्य स्त्रीयोनि से

मुक्त होती हैं, परन्तु ब्रह्मवादिनी स्त्री होने के कारण उनकी मुक्ति सबके पति; परमपति ब्रह्म में ही तन्मय होकर होती है। यह मुक्ति असाधारण है। साधारण मुक्ति लौकिकपति में तन्मय होकर ही होती है जैसा कि पहले कहा गया है। पूर्व्वकथित मीमांसा द्वारा सद्योवधू स्त्री व ब्रह्मवादिनी स्त्री दोनोंके विषय में अलग अलग सिद्धान्त निश्चय किये गये हैं। उक्त दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का तात्पर्य्य यह है कि स्त्रीजाति का साधारण अधिकार सद्योवधू का अधिकार समझना चाहिये और कहीं-कहीं स्त्री में बहुत ही योग्यता देखने से असाधारण ब्रह्मवादिनी के धर्म्म की शिक्षा देनी चाहिये। "सधारणधर्म्म और विशेषधर्म्म" नामक अध्याय में वर्णित विशेषधर्म्म तो सद्योवधू का धर्म्म है और असाधारण धर्म्म का अधिकार ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के लिये कहा गया है ऐसा समझना उचित है।

इस प्रकार कन्या को उसके अधिकारानुसार आवश्यकीय शिक्षादान करके यथाकाल योग्य पात्र में दान करना चाहिये। पात्र के विषय में पिता को अवश्य विचार रखना होगा कि पात्र अपने पुत्र से रूप, गुण, कुल व शील आदि में कम न हो। पुत्र न हो तो और किसी आत्मीय से अथवा कम से कम अपनी कुलमर्य्यादा के साथ पात्र की तुलना कर लेनी चाहिये, क्योंकि कन्यादान समान घर में ही होना चाहिये। ऐसा न होने से प्रायः कुटुम्ब में परस्पर विरोध; दाम्पत्यप्रेम में न्यूनता और संसार में अशान्ति रहती है। वर कन्या के विवाहकाल के विषय में शास्त्रों में मतभेद पाया जाता है अतः यह विषय विचार करने योग्य है। यह बात पहले ही अध्याय में कही गई है कि विवाह का प्रथम उद्देश्य सुपुत्र उत्पन्न करके पितरों का ऋणशोध और दूसरा पवित्र दाम्पत्यप्रेम के द्वारा स्त्री पुरुष की पूर्णता प्राप्ति है। मनुसंहिता में भी कहा है कि:—

अपत्यं धर्म्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराऽधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥

सन्तानोत्पत्ति, धर्म्मकार्य्य, सेवा, उत्तम अनुराग और पितरों की तथा अपनी स्वर्गप्राप्ति, ये सब स्त्री के अधीन हैं। अतः विवाहकाल के विचार में भी उपर्युक्त दोनों उद्देश्य लक्ष्यीभूत रखने होंगे, अन्यथा संसाराश्रम में

स्त्री पुरुष को कदापि शान्ति नहीं मिलेगी। आर्य्यजाति की और जातियों से यही विशेषता है कि इसमें सभी विचार आध्यात्मिक लक्ष्य को मुख्य रखकर हुआ करते हैं। केवल स्थूलशरीर को ही मुख्य मानकर जो कुछ विचार हैं वे आर्य्यभावरहित हैं अतः इस जाति के लिये हानिकर व जातित्वनाशक हैं। इसलिये बलवान् और स्वस्थशरीर पुत्र उत्पन्न हो और दम्पति की भी कोई शारीरिक हानि न हो, विवाहकाल के विषय में केवल इस प्रकार का विचार आर्य्यजाति के अनुकूल नहीं होगा परन्तु वह असम्पूर्ण विचार कहा जायगा। आर्य्यजाति के उपयोगी व पूर्ण विचार तभी होगा जब विवाहकाल के विषय में ऐसा ध्यान रक्खा जायगा कि विवाह से उत्पन्न सन्तति स्वस्थ, सबलकाय और धार्म्मिक भी हो तथा दाम्पत्य-प्रेम, संसार में शान्ति व सबसे बढ़कर पातिव्रत्यधर्म्म में किसी प्रकार का आघात न लगे। वर-कन्या के विवाहकाल के लिये इतना विचार करने पर तभी वह विचार आर्य्यजाति के उपयोगी व पूर्ण विचार होगा।

अब विवाहकाल के विषय में स्मृति आदि में जो प्रमाण मिलते हैं उनपर विचार किया जाता है। मनुजी ने कहा है कि:—

त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः॥

तीस वर्ष का पुरुष अपने चित्त की अनुकूला बारह वर्ष की कन्या से विवाह करे, अथवा चौबीस वर्ष का युवक आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे, और धर्म्महानि की यदि आशङ्का हो तो शीघ्र भी कर सकते हैं। महर्षि देवल ने कहा है कि:—

ऊर्द्ध्वं दशाब्दाद्या कन्या प्राग्रजोदर्शनात्तु सा।
गान्धारी स्यात् समुद्वाह्या चिरं जीवितुमिच्छता॥

दस वर्ष से ऊपर व रजोदर्शन के पहले तक कन्या गान्धारी कहलाती है। दीर्घायु चाहनेवाले माता-पिता को इस अवस्था में उसका विवाह कर देना उचित है। संवर्त्तसंहिता में लिखा है कि:—

अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्द्ध्वं रजस्वला॥

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥
तस्माद्विवाहयेत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् ।
विवाहोऽष्टमवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते ॥

आठ वर्ष की अविवाहिता कन्या गौरी, नौ वर्ष को रोहिणी और दस वर्ष की कन्या कही जाती है । इससे अधिक वर्ष की कन्या रजस्वला कहलाती है । इस प्रकार को रजस्वला कन्या जिसके घर में है वहां उसके माता, पिता व ज्येष्ठ भ्राता नरक में जाते हैं । इसलिये रजस्वला होने से पहले ही कन्या का विवाह कर देना उचित है । आठ वर्ष की अवस्था में ही कन्या का विवाह प्रशस्त है । यमसंहिता में लिखा है कि:—

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ॥

कन्या की आयु बारह वर्षकी होने पर भी जो पिता उसका विवाह नहीं करते हैं उनको प्रतिमास रजोजनित रक्तपान का पाप होता है । पराशर-संहिता में भी ऐसा ही लिखा है । वशिष्ठसंहिता में लिखा है कि:—

पितुः प्रदानात्तु यदा हि पूर्वं,
कन्यावयो यः समतीत्य दीयते ।
सा हन्ति दातारमपीक्षमाणा,
कालाऽतिरिक्ता गुरुदक्षिणेव ॥
प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयात्पिता ।
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति ॥
यावच्च कन्यामृतवः स्पृशन्ति,
तुल्यैः सकामामभियाच्यमानाम् ।
भ्रूणानि तावन्ति हतानि ताभ्याम्,
मातापितृभ्यामिति धर्म्मवादः ॥

पिता के द्वारा कन्यादान होने से पहले यदि कन्याकाल अतीत होजाय

तो ऐसी कन्या कालातिरिक्त गुरुदक्षिणा की तरह दृष्टिमात्र से ही दाता का पापग्रस्त करती है। रजस्वला होने के भय से ऋतु के पहले ही पिता कन्यादान करे क्योंकि ऋतुमती कन्या अविवाहिता रहने से पिता को दोष लगता है। कन्या चाहती है व योग्य वर भी मिल रहा है ऐसी अवस्था में यदि ऋतुकाल के पहले कन्यादान न किया जाय तो उस कन्या को जितनी बार ऋतु होगा उतनी बार माता-पिताको भ्रूणहत्या का पाप लगेगा।

प्रदानं प्रागृतोरप्रयच्छन्दोषी (गौतमः)
अदृष्टरजसे दद्यात्कन्यायै रत्नभूषणम् (आश्वलायनः)
अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ (याज्ञवल्क्यः)
प्रदानं प्रागृतोः स्मृतम् (मनुः)

इन वचनों से सिद्ध है कि रजस्वला होने से पहले ही कन्यादान की आज्ञा दी गई है। अतः इन सब प्रमाणों से कन्या की आयु के विषय में सामान्यतः आठ वर्ष से लेकर बारह वर्ष तक की आज्ञा और विशेषतः कहीं आठ वर्ष में विवाह होने की प्रशंसा, कहीं दस वर्ष में विवाह होने की प्रशंसा और उससे अधिक वयःक्रम में विवाह होने की निन्दा तथा कहीं कहीं बारह वर्ष में विवाह होने की आज्ञा और उससे अधिक आयु में विवाह होने की निन्दा की गई है; परन्तु सर्वत्र ही एकामत से ऋतुकाल से पहले कन्यादान की आज्ञा है। वास्तव में कितने वर्ष की आयु में कन्या का विवाह होना चाहिये इसका निश्चय कभी नहीं हो सकता है, केवल रजस्वला होने के पहले होना चाहिये यही साधारणतः निश्चय हो सकता है। इसका कारण क्या है सो बताया जाता है। मनुसंहिता में लिखा है कि:—

स्वां प्रसूतिं चरित्रञ्च कुलमात्मानमेव च।
स्वञ्च धर्म्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति॥

स्त्री की सुरक्षा से निज सन्तति, चरित्र, वंशमर्य्यादा, आत्मा और स्वधर्म्म की रक्षा होती है इसलिये स्त्री की रक्षा सर्व्वथा करणीया है। अब वह रक्षा कैसे हो सकती है सो विचार करने योग्य है। पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक स्त्री के साथ प्रत्येक पुरुष का जो भाग्यभोक्ता सम्बन्ध स्वाभा-

विक है उसको अनर्गल होने से रोककर एक सम्बन्ध ही में संस्कार व भावशुद्धि द्वारा स्त्री पुरुष को बाँधकर प्रवृत्तिमार्ग के भीतर से निवृत्ति में लेजाना ही विवाह का लक्ष्य है। इसलिये स्त्री का व पुरुष का विवाह उसी समय होना चाहिये जिस समय उनमें भोग्य व भोक्ता-भाव का उदय हो क्योंकि उस समय विवाहसंस्कार न कराने से प्रवृत्ति अनर्गल अर्थात् अनेकों में चञ्चल होकर अधोगति करा सकती है। यही स्त्री व पुरुष दोनों के लिये साधारण धर्म्म है।

अब उक्त सिद्धान्त को लक्ष्य में रखते हुए स्त्री व पुरुष दोनों की आयु समान होनी चाहिये या असमान होनी चाहिये और किसकी कितनी होनी चाहिये सो विशेषधर्म्म के विचार से तत्त्वनिर्णय किया जाता है। पहले ही कहा गया है कि स्त्री में प्रकृतिभाव की प्रधानता और पुरुष में पुरुषभाव की प्रधानता होने से स्वाभावतः ही स्त्री अज्ञानमयी व पुरुष ज्ञानमय होता है। मनुजी ने कहा है किः—

पानं दुर्ज्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥
नैता रूपं परीक्षन्ते नाऽऽसां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते॥
पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्त्तृष्वेता विकुर्व्वते॥
एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम्।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति॥

पान, दुर्ज्जन का सङ्ग, पति से विरह, इधर उधर घूमना, असमय में निद्रा व दूसरेके घर में वास, स्त्रियों के ये स्वाभाविक छः दोष हैं। स्त्री जाति रूप या उमर का कोई भी विचार नहीं करती हैं, सुन्दर हो या न हो, पुरुष मिल जाने से ही सम्बन्ध करती हैं,। पुरुष को देखते ही कामेच्छा, स्वाभाविक चित्तचाञ्चल्य और स्नेहहीनता के कारण वे पति के द्वारा सुरक्षित होने पर भी व्यभिचार करती हैं। विधाता ने स्त्रीजाति की प्रकृति ही ऐसी बनाई है, इस प्रकार जानकर उनकी रक्षा करने में पुरुष को सदा

ही यत्नशील होना चाहिये । यही स्त्रीप्रकृति में तमोमयी अविद्या का भाव है । इसके अतिरिक्त उनमें सत्त्वगुणमयी विद्या का भी भाव है जिससे, जैसे कि पहले कहा गया है, पुरुष से भी अधिक धैर्य्य, पातिव्रत्य, तपस्या, और तन्मयता आदि सद्गुण उनमें प्रकट होते हैं । अतः जिस आयु में विवाह कराने से स्वाभाविक अविद्याभाव का उदय न हो और विद्याभाव की ही दिन पर दिन पुष्टि हो, उसी आयु में कन्या का विवाह होना चाहिये। कन्याकाल के विषय में पहले ही कहा गया है कि जब तक स्त्री पुरुष के सामने लज्जिता होकर वस्त्र से अपने अङ्गों को आवृत न करे और कामादि विषयों का ज्ञान जब तक उसको न हो तभी तक स्त्री का कन्या-काल जानना चाहिये । इसी प्रमाण के अनुसार यही सिद्धान्त होता है कि जिस समय स्त्री में स्त्रीसुलभ चाञ्चल्य व स्त्रीभाव का विकाश होने लगता है और वह समझने लगती है कि "मैं स्त्री हूँ, वह पुरुष है और हम दोनों का भोग्यभोक्तासम्बन्ध विवाह के द्वारा होता है" उसी समय कन्या का विवाह अवश्य होना चाहिये क्योंकि जिस समय स्त्री पुरुष के साथ अपना स्वाभाविक भोग-सम्बन्ध समझने लगती है; उसी समय विवाह कर देने से एक ही पुरुष के साथ नैसर्गिक प्रेमप्रवाह का सम्बन्ध बँध जायगा, जिससे पातिव्रत्यधर्म्म में, जोकि स्त्री की उन्नति के लिये एकमात्र धर्म्म है, कोई हानि नहीं होगी । अन्यथा, स्वाभाविक चञ्चल चित्त को निरङ्कुश छोड़ देने से बहुत पुरुषों में चाञ्चल्य होकर पातिव्रत्य की गम्भीरता नष्ट होसकती है और ऐसा होने का अवसर देना स्त्री की सत्ता नाश करना है । अतः विवाह का वयःक्रम इन्हीं विचारों के साथ पिता-माता को निर्द्धारण करना चाहिये । इसमें कोई नियमित वर्ष नहीं हो सकता है क्योंकि देश काल पात्र के भेद होने से सभी स्त्रियों के लिये स्त्रीभाव विकास का एक ही काल नहीं हो सकता है । परन्तु साधारणतः ८ वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक, इस प्रकार स्त्रीभाव-विकास का काल है । इसीलिये मनु आदि महर्षियों ने ऐसी ही आज्ञा की है । विचार में मतभेद होने का कारण यह है कि जिस देश काल को मुख्य रखकर जिस स्मृति में विवाह के काल का विधान किया गया है उस देश काल में कन्याभाव कब तक रह सकता है और नारीभाव कब होने लगता है उसीके ही विचार से कन्या के विवाह का वयःक्रम

निर्धारित किया गया है । कलिकाल में जितने वर्ष में स्त्रीभाव का विकास होगा, सत्य आदि युगों में साधारणतः इससे अधिक वर्ष में स्त्रीभाव के विकास होने की सम्भावना है क्योंकि सत्वगुण-प्रधान देश, काल व सङ्ग के प्रभाव से स्त्री व पुरुष में वैषयिकभाव का विकास भी अपेक्षाकृत कम होगा इसमें सन्देह नहीं । उसी प्रकार त्रेता व द्वापरयुग में भी सत्ययुग व कलियुग के साथ देशकाल के तारतम्य से होगा । प्रत्येक स्मृति भिन्न भिन्न युग या युगविभाग के देश, काल पर विचार रखती हुई धर्म्मानुशासन को बताया करती है क्योंकि देश, काल के विरुद्ध अनुशासन धर्म्मानुशासन नहीं हो सकता है । परन्तु जो अनुशासन स्वर्गापवर्गप्रद धर्म्म को लक्ष्यीभूत रखकर देश काल की प्रकृति के साथ मिलाकर कहा जाता है वही अनुशासन यथार्थ में धर्म्मानुशासन कहलाने योग्य है । इसी प्रकार पात्र (वर) के विषय में भी समझना चाहिये । स्त्रीभाव के विकास का तारतम्य स्थूलशरीर की प्रकृति से बहुत सम्बन्ध रखता है । सात्विक स्थूलशरीर में स्त्रीभाव का विकास देर से होता है परन्तु तामसिक कामज शरीर में स्त्रीभाव का विकास शीघ्र होता है । जिस प्रकार पुरुषशरीर कामज होने से उसमें ब्रह्मचर्य्यधारण की शक्ति कम होती है और थोड़ी उमर में ही यौवन-सुलभ सभी बातें आजाती हैं उसी प्रकार स्त्री का भी शरीर कामज होने से उसमें नारीभाव का विकास व चाञ्चल्य शीघ्र होने लगता है । गर्भाधान संस्कार ठीक ठीक होने से सात्विक शरीर होता है और उसमें नारीभाव भी देर से उत्पन्न होता है । परन्तु जहां धार्म्मिक प्रजोत्पत्ति का लक्ष्य न होकर केवल पाशविक सम्बन्ध से सन्तान होती है वहां स्त्री अथवा पुरुष का शरीर व मन भी निकृष्ट होगा इसमें सन्देह ही क्या है ? इसलिये युग युग में मनुष्यों के स्वभाव व धर्म्मभाव पृथक् पृथक् होने से सृष्टि की धारा भी भिन्न भिन्न होती है जिससे धर्म्म व आचार की व्यवस्था, विवाह व प्रजोत्पत्ति का नियम और वर्ण व आश्रम का अनुशासन सभी युगानुसार भिन्न-भिन्न होते हैं । यही सब कारण हैं जिससे महर्षियों ने कन्या के विवाहकाल के विषय में भिन्न भिन्न मत बताये हैं । परन्तु ऊपर के प्रमाणों से सिद्ध होगा कि विवाहकाल के विषय में महर्षियों के मतों में भेद होने पर भी रजस्वला होने के पहले विवाह होना

चाहिये इस विषय को सभी महर्षियों ने एकवाक्य होकर स्वीकार किया है और इसमें कभी किसीने मतभेद प्रकाश नहीं किया है। ऋग्वेद में लिखा है कि:—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्व्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥

चन्द्र देवता ने स्त्री को प्रथमतः प्राप्त किया, द्वितीयतः गन्धर्व्व व तृतीयतः अग्नि ने प्राप्त किया और चतुर्थतः मनुष्यपति ने स्त्री को प्राप्त किया। इस मन्त्र के भावार्थ को न समझकर किसी किसी अर्व्वाचीन पुरुष ने इसे नियोग पर ही लगा दिया है और किसीने इसको विवाहकाल में लगाकर रजस्वला होने के बाद विवाह होना चाहिये ऐसा अर्थ करने का यत्न किया है। परन्तु वास्तव में इसका भावार्थ न नियोग का ही है और न विवाहकाल निर्णय करने के लिये ही यह मन्त्र है। इसके द्वारा स्त्रीशरीर की उन्नति की अवस्था व क्रममात्र ही बताये गये हैं। समष्टि व व्यष्टिरूप से ब्रह्माण्ड व पिण्ड एकरूप होने से जितनी दैवीशक्तियाँ ब्रह्माण्ड में कार्य्यपरिचालन करती हैं उन सबोंका केन्द्र व्यष्टि सृष्टि अर्थात् जीव शरीर में भी विद्यमान है। जीवशरीर में दैवीशक्तियों के केन्द्रस्थान रहने से ही जीवशरीर के भी सृष्टि, स्थिति व प्रलय हुआ करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रः शक्ति ही जीवशरीर में इन तीनों क्रियाओं को यथावत् सम्पादन करती है। इन तीनों मूल शक्तियों के अतिरिक्त इनके अधीनस्थ अनेक देवताओं की शक्तियाँ शरीर में अधिष्ठान करती हैं जिनके रहने से शरीर की सब प्रकार की नैसर्गिक उन्नति व परिवर्त्तन हुआ करते हैं। ऋग्वेद में जो मन्त्र बताया गया है सो इसी भाव के स्पष्ट करने के लिये है। रजस्वला होने तक स्त्री-शरीर की तीन अवस्था होती है जिनके करनेवाले तीन देवता हैं, सोम गन्धर्व्व व अग्नि। इन तीनों के द्वारा रजस्वला पर्य्यन्त स्त्रीशरीर पूर्ण होने पर तब स्त्री गर्भाधान की योग्या होती है जिसके करने का भार मनुष्यपति पर है। इसमें विवाह के वयःक्रम का कोई निर्द्देश नहीं है। केवल कन्यापन से लेकर गर्भाधानकाल तक स्त्रीशरीर की उन्नति की तीन दशाएं बताई गई हैं। अतः इससे विवाहसंस्कार का काल निर्णय नहीं करना चाहिये। विवाह संस्कार का सम्बन्ध भावराज्य व सूक्ष्मशरीर के

साथ है और गर्भाधान का सम्बन्ध स्थूलशरीर से अधिक है। दोनोंमें बहुत प्रभेद है। अतः दोनोंको एकही में मिलाना नहीं चाहिये। और नियोग के लिये जो इस मन्त्र को किसी किसी ने लगाया है सो सर्व्वथा मिथ्या है क्योंकि इस मन्त्र से नियोग का कोई भाव सिद्ध नहीं होता है। अब इस मन्त्र के द्वारा स्त्रीशरीर की कौन कौन उन्नति किस किस देवता के अधिष्ठान से होती है सो बताया जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने अपनी संहिता में लिखा है कि :—

सोमः शौचं ददौ तासां गन्धर्व्वाश्च शुभां गिरम् ।
पावकः सर्व्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः ।।

चन्द्र देवता ने स्त्रियों को शुचिता, गन्धर्व्व ने मधुरवाणी व अग्नि देवता ने सबसे अधिक पवित्रता दी है इसलिये स्त्री पवित्र वस्तु है। इस श्लोक में देवताओं के अधिष्ठान से स्त्रियो को मधुरवाणी आदि का लाभ होता है ऐसा कहागया है। गोभिलीय गृह्यसंग्रह में लिखा है कि:—

व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् ।
पयोधरैस्तु गन्धर्व्वो रजसाऽग्निः प्रकीर्त्तितः ।।

स्त्रीलक्षणों के बिकास होते समय चन्द्रदेव का अधिकार, स्तनबिकाश के समय गन्धर्व्वों का अधिकार और रजस्वला होने के समय अग्नि का अधिकार रहता है । इन तीनों दैवीशक्तियों के प्रभाव से ही कन्याकाल के बाद रजस्वला तक स्त्रियो की सर्व्वाङ्गपूर्णता हुआ करती है और इस के अनन्तर ही गर्भाधानसंस्कार होता है जो कि मनुष्यपति का कर्त्तव्य है। परन्तु विवाहसंस्कार इन तीनों लक्षणों के विकास के पहले ही होना चाहिये क्योंकि उसका सम्बन्ध पातिव्रत्यभाव से है; शरीर से नहीं है। और इसीलिये गोभिल ऋषि ने पूर्व्वोक्त श्लोक के द्वारा स्त्रीशरीर की उन्नति की दशाओं को बताकर पश्चात् कहा है कि:—

तस्माद्व्यञ्जनोपेतामरजामपयोधराम् ।
अभुक्ताञ्चैव सोमाद्यैः कन्यका तु प्रशस्यते ॥

इसलिये स्त्री-लक्षण विकासरूप पयोधर व रजस्वला होने के पहले ही

या चन्द्रादि देवताओं के कार्य्य के पहले ही कन्या का विवाह हो जाना प्रशंसनीय है । यही सर्व्ववादिसम्मत शास्त्रीय सिद्धान्त है । स्मृतियों में कहीं कहीं रजस्वला के बाद विवाह के वचन जो देखे जाते हैं वे सब आपद्धर्म्म-विषय के हैं और उन सब श्लोकों के पूर्व्वापर मिलाने से आपद्धर्म्म का ही तात्पर्य्य निकलेगा । यथा मनुसंहिता में कहा है कि :—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्य्यृतुमती सती ।
ऊर्द्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥
अदीयमाना भर्त्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥
पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् ।
स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥

ऋतुमती होने पर भी यदि माता पिता कन्या को योग्य पात्र में दान न करें तो वह कन्या ऋतु के बाद तीन वर्षतक प्रतीक्षा करके पश्चात् स्वयं ही योग्य पति निर्व्वाचित कर सकती है । इस प्रकार से, अवहेला से पिता माता के द्वारा नहीं दान की हुई स्वयंवरा कन्या को कोई पाप नहीं होता है और उसके पति को भी कोई पाप नहीं होता है । यदि धन लेकर कन्यादानरूप आसुरविवाह हो, तथापि इस प्रकार से माता पिता की अवहेला से ऋतुमती कन्या को जो पुरुष विवाह करेगा उसको कन्या के पिता को कुछ भी धन नहीं देना पड़ेगा क्योंकि ऋतुरोध से अपत्यरोध करके पिता ने इस प्रकार का कन्याके ऊपर उसका जो आधिपत्य था उसे नष्ट किया है । इन श्लोकोंके द्वारा यदि पिता, माता या आत्मीय व कुटुम्बी कोई विवाह न करावें तब तीन वर्षतक ऋतु के बाद रहने की और स्वयंवरा होने की आज्ञा मनुजी ने की है । यह आपद्धर्म्म है । इसको न समझकर किसी किसी अर्व्वाचीन पुरुष ने साधारण विवाहकाल के लिये इस श्लोक को लगा दिया है सो उनकी भूल है । इन श्लोकों से पतिनिर्व्वाचन में पिता माता का ही अधिकार है, कन्या या वर का नहीं है, अधिकार केवल आपत्काल में ही है ऐसा भी पूर्णरीत्या सिद्ध होता है । इसके विषय में पहले बहुत कुछ कहा

जा चुका है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। इसी आपद्धर्म्मके सिद्धान्तको और भी कई महर्षियोंने स्वीकार किया है। यथा–वशिष्ठसंहिता में लिखा है कि:—

त्रीणि वर्षाण्यृतुमती काङ्क्षेत पितृशासनम्।
ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम्॥

अविवाहिता अवस्था में ऋतुमती होने पर कन्या तीन वर्ष तक पिताकी प्रतीक्षा करके चौथे वर्षमें योग्य पति स्वयं देख ले सकती है। ये सब आपद्धर्म्म की विधि है। केवल इतना ही नहीं, आपद्धर्म्म में तो मनुजी ने यावज्जीवन कुमारी रखने की भी आज्ञा दी है। यथाः—

उत्कृष्टायाऽभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥
काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥

उत्तम कुल, शीलवान् योग्य वर मिलने पर विवाहयोग्या न होने पर भी कन्या को ऐसे पात्र में यथाविधि दान करे और ऋतुमती को यावज्जीवन घर में रखना भी अच्छा है, तथापि गुणहीन पात्र में समर्पण करना उचित नहीं है। इस प्रकार आपद्धर्म्म की बातें अन्यान्य महर्षियों ने भी कही हैं अतः इन सब वचनों को साधारण विवाह-विधि में भी नहीं लगाने चाहिये। अब स्मृतिकारगण ने कन्या-विवाहकाल के विषय में इतनी सावधानता का अवलम्बन क्यों किया है सो बताया जाता है। यदि महर्षि लोग स्त्री को केवल सन्तान उत्पन्न करने का यन्त्रमात्र ही समझते तो इतनी बातें कभी नहीं बताते; परन्तु वे इस बातको निश्चित जानते थे कि स्त्री में पतिप्रेम, पातिव्रत्य धर्म्म व तपस्याभाव की थोड़ी भी न्यूनता होने से सन्तति धार्म्मिक व आर्य्यभावापन्न नहीं होती। इसलिये उन्होंने बहुत विचार करके ऐसी ही विधि बताई है कि जिससे दाम्पत्यप्रेम के द्वारा संसार में शान्ति रहे, दम्पति की शारीरिक व मानसिक कुछ भी हानि नहीं हो और सन्तति भी धार्म्मिक व स्वस्थशरीरवाली उत्पन्न हो।

अब महर्षियों के द्वारा विहित विवाह से उक्त बातों की सिद्धि कैसे हो

सकती है सो बताया जाता है। यौवन के प्रथम विकास के साथ ही साथ स्त्री व पुरुष में जो भोग्यभोक्ता का ज्ञान होता है यह स्वाभाविक बात है, परन्तु इस स्वभाव के अतिरिक्त स्त्रियों में जो रजोधर्म्म का विकास होता है यह बात असाधारण व विशेष है। रजोधर्म्म प्रकृति की विशेष प्रेरणा है। इसके द्वारा स्त्री गर्भधारणयोग्या हो जाती है, यही प्राकृतिक इङ्गित है। और इसी इङ्गित के कारण रजस्वला होने के समय अर्थात् ऋतुकाल में स्त्रियों की कामचेष्टा बहुत ही बलवती हुआ करती है अतः उस समय स्त्रियों में विशेष चाञ्चल्य होना स्वाभाविक है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को केन्द्रीभूत करने के लिये ही महर्षियों ने रजस्वला के पहले विवाह की आज्ञा की है क्योंकि ऐसा न होने से नैसर्गिकी कामेच्छा अवलम्बन न पाकर जहां तहां फैलकर पातिव्रत्य में बहुत हानि कर सकती है। और जहां एक वार निरंकुशता का अभ्यास पड़ा, तहां पुनः उसे रास्ते पर लाना बहुत ही कठिन हो जाता है क्योंकि स्त्री-प्रकृति चञ्चल होने से थकती नहीं है, अविद्याभावके विकास के लिये थोड़ा भी अवसर मिलने से उसी भाव में रम जाती है और उसमें पुनः विद्याभाव का विकास करना बहुत ही कठिन होजाता है। परन्तु पुरुष की प्रकृति ऐसी नहीं है, उसमें यौवन-सुलभ साधारण कामभाव रहता है, उसमें रजस्वला-दशा का विशेष भाव नहीं है अतः उस साधारण भाव का विकास भी साधारणतः ही होता है एवं विशेष प्राकृतिक प्रेरणा स्त्रियों की तरह नहीं होती है इसीलिये स्त्रियों की तरह, यौवनके उदय से भोग्यभोक्ताभाव होते ही, उसी समय विवाह करने की प्रबल आवश्यकता उनके लिये नहीं होती है। इसके सिवाय पुरुष के चांचल्य की सीमा है और उसमें थकान है जिससे स्वभावतः ही पुरुष निवृत्त होकर अपने स्वरूप में आ सकता है। इसी प्रकारकी विशेष धर्म्म की विभिन्नता के कारण ही महर्षियों ने स्त्री व पुरुष के विवाहकाल में भी भेद रक्खा है। द्वितीयतः पुरुष में ज्ञानशक्तिकी अधिकता होने से साधारण कामभाव को विचार द्वारा पुरुष रोक सकता है; परन्तु स्त्री में अज्ञानभाव की अधिकता होने से असाधारण प्राकृतिक प्रेरणा को रोकना बहुत ही कठिन होजाता है। तृतीयतः यदि रोक भी न सकें तथापि पुरुष के व्यभिचार से समाज में व कुल में इतनी हानि नहीं पहुँचती है जितनी हानि स्त्री के व्यभिचार से पहुँचती है।

पुरुष के व्यभिचार का प्रभाव अपने शरीर ही पर पड़ता है; परन्तु स्त्री के व्यभिचार से वर्णसङ्कर उत्पन्न होकर जाति, समाज और कुलधर्म्म सभी को नष्ट कर देता है। इन्हीं सब कारणों से स्त्री के लिये रजस्वला होने से पहले ही विवाह की आज्ञा की गई है और पुरुष के लिए अधिक वयःक्रम पर्य्यन्त ब्रह्मचारी होकर विद्याभ्यास की आज्ञा की गई है। इसके सिवाय यदि पुरुष भी ब्रह्मचारी न रहसकें तो "धर्म्मे सीदति सत्वरः" अर्थात् धर्म्म-हानि की सम्भावना होने पर शीघ्र भी विवाह कर सकते हैं ऐसी भी आज्ञा मनुजी ने दी है। अतः इन सब आध्यात्मिक व सामाजिक बातों पर विचार करने से महर्षियों की आज्ञा युक्तियुक्त मालूम होगी। पातिव्रत्यधर्म्म के पालन किये विना स्त्री का अस्तित्व ही वृथा है इसलिये जिन कारणों से पातिव्रत्य पर कुछ भी धक्का लगने की सम्भावना हो उनको पहले से ही रोककर जगदम्बा की अंशस्वरूपिणी स्त्रीजाति की पवित्रता व सत्त्वगुण-मय विद्याभाव की मर्य्यादा की ओर जब पूर्ण दृष्टि होगी तभी आर्य्यधर्म्म का पूर्णपालन हो सकेगा।

आर्य्यशास्त्रों में आध्यात्मिक उन्नति का साधन स्थूलशरीर को भी माना जाता है। स्थूलशरीर की रक्षा के बिना आध्यात्मिक उन्नति में भी असुविधा होती है इसलिये स्त्रीजाति के लिये पातिव्रत्यधर्म्म के साथ ही साथ स्थूलशरीर की रक्षा व उन्नति हो इसमें ध्यान रखना योग्य है। माता पिता का शरीर स्वस्थ न होने से सन्तति भी दुर्ब्बल व रुग्ण होती है इसलिये जिससे सन्तति भी अच्छी हो ऐसा यत्न होना चाहिये। गर्भाधान काल के विषय में सुश्रुत में लिखा है कि:—

> ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्॥
> यद्याधत्ते पुमान् गर्ब्भं गर्ब्भस्थः स विपद्यते॥
> जातो वा न चिरञ्जीवेद् जीवेद्वा दुर्ब्बलेन्द्रियः।
> तस्मादत्यन्तबालायां गर्ब्भाधानं न कारयेत्॥

पच्चीस वर्ष से कम आयु का पुरुष यदि सोलह वर्ष से कम आयु की स्त्री में गर्भाधान करे तो गर्भ में सन्तान को विपत्ति होती है और यदि इस

प्रकार से सन्तान उत्पन्न भी हो तो भी या तो वह अल्पायु होती है या दुर्बलेन्द्रिय होती है इसलिये कम आयु की स्त्री में गर्भाधान नहीं करना चाहिये । इस प्रकार से सुश्रुत में जो गर्भाधान काल का निर्णय किया गया है सो अवश्य माननीय है । किसी किसी अर्वाचीन पुरुष ने सुश्रुत के इस वचन को विवाहकाल के लिये लगा दिया है सो उनकी भूल है क्योंकि इन श्लोकों में ही कहागया है कि यह विषय गर्भाधान का है । अब विचार करने की बात यह है कि कम आयु में विवाह व गर्भाधान करने से सन्तति दुर्बल होती है और रजस्वला होजाने के बाद विवाह करने से पातिव्रत्य धर्म्म में बाधा होती है अतः ऐसा कोई उपाय होना चाहिये जिससे सन्तान भी अच्छी हो और पातिव्रत्यरूप विशेषधर्म्म भी पूरा बनारहे सो कैसे होसकता है यह बताया जाता है । साधारण रजःकाल के विषय सुश्रुत में कहाहै कि:—

तद्वर्षाद्द्वादशात्काले वर्त्तमानमसृक् पुनः ।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥

साधारणतः १२ वर्ष की आयु से रजोदर्शन प्रारम्भ होकर ५० वर्ष की आयु में वार्द्धक्य आनेपर समाप्त होता है । बारह वर्ष का काल रजोदर्शन का साधारण काल है । इससे कम आयु में या अधिक आयु में भी विशेष कारण होनेपर रजोदर्शन हो सकता है । गर्भाधान संस्कार के साथ इस प्रकार के विशेष कारण का क्या सम्बन्ध है सो पहले बताया गया है । प्रकृति के वैलक्षण्य से भी विशेष कारण हो जाता है ऐसा वैद्यकशास्त्र का सिद्धान्त है । यथा—वातप्रधान शरीर में १२ वर्ष में और पित्तप्रधान शरीर में १४ वर्ष में प्रायः रजोदर्शन होता है । इसके सिवाय असमय में रजोदर्शन के और भी कई एक कारण हैं । यथा—अस्वाभाविक बलप्रयोग, उत्तेजक औषधि-सेवन, रतिविषयक चिन्ता और काव्य या कथोपकथन इत्यादि । अतः विवाह के पहले पिता-माताको सदा ही सावधानतापूर्वक देखना चाहिये जिससे ऊपर लिखे हुए दोष कभी कन्या में न होने पावें । इस प्रकार से पालन की हुई कन्या में जब स्वाभाविकरूप से स्त्रीभाव विकास की सूचना होने लग जाय तब उसका विवाह योग्य पात्र में करदेना चाहिये । विवाह कर देने केबाद ही स्त्री पुरुष का सम्बन्ध नहीं होना चाहिये । पातिव्रत्य की सुरक्षा के लिये

कन्या के चित्त को पतिरूप केन्द्र में बांध दिया इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि चाहे रजोदर्शन हुआ हो या नहीं हुआ हो; उस कन्या के साथ उसी समय से पाशविक व्यवहार शुरू होजाय। शास्त्र में रजोदर्शन के पहले स्त्री-गमन को ब्रह्महत्या के समान पापजनक कहा गया है। यथा-स्मृति में :—

प्राग्रजोदर्शनात्पत्नीं नेयाद्गत्वा पतत्यधः।
व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्॥

रजोदर्शन के पहले स्त्री के साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से पुरुष का अधःपतन होता है और इस प्रकार वृथा शुक्रनाश से ब्रह्महत्या के समान पाप लगता है। अतः विवाह के अनन्तर जबतक स्त्री रजस्वला न हो तबतक कभी उसके साथ सम्बन्ध पति को नहीं करना चाहिये। कन्यापन में जो कुछ अपने अधिकार के अनुसार शिक्षा कन्या को प्राप्त हुई थी उसके अनन्तर की शिक्षा पति उसे दिया करे। पातिव्रत्य-की महिमा, स्त्री के लिये अनन्य धर्म्म पातिव्रत्य है, श्री, लज्जा, आज्ञा-कारिणी होना, आलस्य-त्याग और तपस्या आदि स्त्री के लिये आवश्यक शिक्षा-योग्य जो धर्म्म हैं सो सब बातें सिखाया करे। उसके साथ काम की बातें कभी नहीं किया करे, परन्तु उसके चित्त में विशुद्ध प्रेम का अंकुर जमाया करे। इस प्रकार रजस्वला होने के पहले तक स्त्री के साथ वर्त्ताव होना चाहिये। पश्चात् रजस्वला होने के बाद भी कुछ समय तक पति-पत्नी को ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिये। यह बात सत्य है कि रजस्वला स्त्री में गमन न करना भ्रूणहत्या के पाप के समान है ऐसा महर्षियों ने वर्णन किया है। यथा—व्याससंहिता में :—

भ्रूणहत्यामवाप्नोति ऋतौ भार्य्यापराङ्मुखः।
सा त्ववाप्याऽन्यतो गर्भं त्याज्या भवति पापिनी॥

ऋतुकाल में अपनी स्त्री में गमन न करने से पुरुष को भ्रूणहत्या का पाप होता है और यदि ऋतुमती स्त्री दूसरे पुरुष से गर्भोत्पादन करावे तो वह पापिनी व त्याज्या होती है। स्त्री को ऋतु होना सृष्टिविस्तार के लिये प्रकृति की ओर से प्रेरणा है क्योंकि उसी समय पुरुष का बीज मिलने से स्त्री सन्तान उत्पन्न कर सकती है। इसलिये ऋतुकाल में गमन न करने से

स्वाभाविक सृष्टिकार्य्यं में बाधा होने के कारण पाप होता है; परन्तु यह धर्म्मं साधारण है क्योंकि यह प्रकृति के साधारण सृष्टिप्रवाह का विषय है। विशेष धर्म्म को आश्रय करके यदि स्त्री व पुरुष दोनों ही कुछ दिनों तक ब्रह्मचारी रह सकें तो कोई हानि नहीं है। प्रवृत्ति सर्व्वसाधारण के लिये धर्म्म होने पर भी निवृत्ति सदा ही आदरणीय है। गृहस्थाश्रम में स्त्री पुरुष का साधारण धर्म्म है कि ऋतुकाल में सम्बन्ध करके सृष्टि विस्तार करें; परन्तु यदि कोई गृहस्थ नरनारी निवृत्ति के विशेष अभ्यास के लिये ब्रह्मचर्य्यं धारण करें तो उससे अधर्म्म नहीं होगा, अधिकन्तु धर्म्म ही होगा और ब्रह्मचर्य्य धारण होने से आगेकी सन्तति अच्छी होगी। इसी सिद्धान्त के अनुसार यदि प्रकृतिका वैचित्र्य, गर्भाधान संस्कार की न्यूनता अथवा और किसी कारण से जितनी आयु में शरीर की पूर्णता होने से अच्छी सन्तति होसकती है उसके पहले ही किसी स्त्री को रजोदर्शन होजाय तो जबतक शरीर पूर्ण व गर्भाधान के योग्य न हो तबतक दम्पति के ब्रह्मचर्य्यं धारण करने में कोई दोष नहीं होगा। सुश्रुत में जो १२ वर्ष में रजोदर्शन की सम्भावना बताकर १६ वर्ष में गर्भाधान की आज्ञा दी गई है उसका यही तात्पर्य है और इस प्रकार से ब्रह्मचर्य्यं रखने की आज्ञा अन्यान्य शास्त्रों में भी मिलती है। यथा-कातीय गृह्यसूत्र में :—

त्रिरात्रमक्षाराऽलवणाऽशिनौ स्यातामधः
शयीयातां संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम् ।

तीन रात्रि तक लवण व किसी प्रकार का क्षार द्रव्य दम्पति नहीं खावें, भूमिशय्या पर सोवें और एक वर्ष तक संसर्ग न करें इत्यादि। इसी प्रकार संस्कारकौस्तुभ में शौनक ने भी कहा है कि:—

अत ऊर्द्ध्वं त्रिरात्रं तौ द्वादशाऽहमथाऽपि वा ।
शक्तिं वीक्ष्य तथाऽब्दं वा चरन्तां दम्पती व्रतम् ॥
अक्षारलवणाऽऽहारौ भवेतां भूतले तथा ।
शयीयातां समावेशं न कुर्य्यातां वधूवरौ ॥

विवाह के अनन्तर ३ तीन रात्रि, १२ बारह दिन और यदि शक्ति हो तो

वर्ष पर्य्यन्त दम्पति निम्नलिखित व्रत का पालन करें। क्षार द्रव्य व लवण नहीं खावें, भूमिशय्या पर सोवें और संसर्ग न करें। ब्रह्मपुराण में भी लिखा है कि:—

कृते विवाहे वर्षैस्तु वास्तव्यं ब्रह्मचारिणा।

विवाह होने के बाद बहुत वर्ष तक दम्पति को ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिये। एतद्देश में जो कहीं कहीं द्विरागमन की प्रथा है उससे भी ऊपर-लिखित भावों का आभास पाया जाता है; अर्थात् कन्या का विवाह रजस्वला होने से पहले शास्त्रोक्त समय पर कर देने पर भी कन्या को पिता अपने घर में ही रक्खें और कुछ समय के अनन्तर कन्या को पतिसङ्ग के उपयोगी समझने पर उसका द्विरागमन (गौना) कर देवें। यह उत्तम रीति अब भी बहुत देशों में प्रचलित है। इस रीति का संस्कार करने पर सब ओर का कल्याण हो सकता है। पति पत्नी का एक जगह में रहकर ब्रह्मचर्य्य रखना कलियुग में कुछ कठिन है; परन्तु यह रीति सब तरह से सुगम व सुफल देनेवाली है। अतः विवाह होने पर भी जब तक स्त्री का शरीर पूर्ण न हो तब तक गर्भाधान करना ठीक नहीं है।

अब प्रश्न होसकता है कि यदि रजस्वला के बाद भी कुछ दिनों तक ब्रह्मचर्य्यपालन होना ही ठीक है तो अविवाहिता अवस्था में ही रजस्वला होने पर दो तीन वर्ष ब्रह्मचर्य्य पालन कराकर तब कन्या का विवाह कर देने में हानि क्या है? इसका यह उत्तर है कि जाति या वंश की पवित्रता व शुद्ध सृष्टि विस्तार के साथ जिसका सम्बन्ध जितना अधिक है उसकी पवित्रतारक्षा के लिये भी उतना ही अधिक प्रयत्न होना चाहिये और जिस कार्य्य से अपवित्रता की थोड़ी भी सम्भावना हो उससे सदा ही दूर रहना चाहिये। पुरुष में व्यभिचारदोष हो तो उसका फल पुरुष के अपने ही शरीर व मन पर पड़ता है; परन्तु स्त्री के व्यभिचारदोष का प्रभाव समस्त कुल-समाज व जाति पर पड़ता है। उच्च कुल की स्त्री यदि कदापि व्यभिचार से नीच कुल का वीर्य्य अपने गर्भ में लावे अथवा आर्य्य स्त्री व्यभिचार से अनार्य्य वीर्य्य को गर्भ में लावे तो उससे समस्त कुल, समाज व जाति कलङ्कित हो जाती है। इसलिये पुरुष से भी स्त्री की रक्षा

अधिक प्रयोजनीय है। रजस्वला एक ऐसी दशा है जिसमें प्रकृति की ओर से प्रेरणा होने के कारण बहुत ही सावधान होने की दशा है। उसमें ब्रह्मचर्य्य की रक्षा होसके तो अच्छी बात है परन्तु होने की अपेक्षा न होने की सम्भावना ही अधिक है। श्रीगीताजी में कहा है किः—

यततो ह्यपि कौन्तेय! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

विद्वान् विचारवान् और इन्द्रियनिग्रह में यत्नशील पुरुष की भी इन्द्रियाँ प्रमत्त होकर चित्त को विषयों में आसक्त कर देती हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार साधारण दशा में भी जब इन्द्रियदमन कठिन है तो सन्तान-उत्पत्ति करने के लिये स्वयं प्रकृति की ओर से रजस्वलादशा में स्त्री के चित्त में काम की इच्छा उत्पन्न होती है उसको रोककर ब्रह्मचर्य्य धारण करना साधारण स्त्री के लिये कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। इसमें चाञ्चल्य, पुंश्चलीवृत्ति, अनेक पुरुषों में चित्त की आसक्ति और व्यभिचारदोष की बहुत ही सम्भावना रहती है जिससे संसार में घोर अनर्थ, वर्णसङ्कर व अनार्य्य प्रजा उत्पन्न होकर हिन्दुजाति नष्ट हो सकती है। इसीलिये पहले ही से सावधान होने के लिये महर्षियों ने रजस्वला के पहले विवाह कराने की आज्ञा देकर पश्चात् पति के साथ ब्रह्मचर्य्यपालन की आज्ञा दी है। इससे यदि पति धार्म्मिक व विचारवान् हो तो गर्भाधान न करके और तरह से साधारण प्रीति के साथ निभा सकता है और यदि ब्रह्मचर्य्य धारण करना कभी असम्भव ही हो जाय तो पति के मौजूद रहने से अन्य पुरुषों में चित्त जाने की सम्भावना कम रहेगी। अतः विवाह के पहले ब्रह्मचर्य्य धारण की अपेक्षा स्त्री के लिये विवाह के बाद ही ब्रह्मचर्य्य धारण करना युक्तियुक्त है। सबसे बड़ी बात यह है कि आदर्श सती का लक्षण जो साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्मनामक अध्याय में कह चुके हैं, रजस्वला के अनन्तर विवाह होने पर उस स्त्री में आदर्श सती-धर्म्म का वह लक्षण प्रकट हो ही नहीं सकता है; क्योंकि रजस्वला होते ही स्त्री पुरुषदर्शन की इच्छा करेगी। उस समय पतिरूप दुर्ग द्वारा उसका अन्तःकरण सुरक्षित न रहने से उसके चित्त पर अनेक पुरुषों की छाया स्वतः ही पड़ेगी सो इस दशा में वह स्त्री

आदर्श सती होने के अयोग्य हो जायगी । इसीलिये शास्त्रों में महर्षियों ने सर्व्वत्र रजस्वला होने के पहले विवाह का आदेश किया है ।

अब बाल्यावस्था में स्त्री व पुरुष का विवाह होने से क्या लाभ और क्या हानि है इस पर विचार किया जाता है । विवाह संस्कार के प्रयोजन वर्णन के प्रसङ्ग में पहले ही कहा गया है कि आर्य्यशास्त्र में सभी कार्य आध्यात्मिक लक्ष्य अर्थात् मुक्ति को लक्ष्यीभूत रखकर अनुष्ठित होने के कारण विवाहविज्ञान के भीतर स्त्री व पुरुष दोनों की ही मुक्ति का गम्भीर तत्त्व निहित है इसमें कोई सन्देह नहीं है । स्त्री की मुक्ति पातिव्रत्य के पूर्ण अनुष्ठान द्वारा पति में तन्मय होकर अपनी सत्ता को पति में विलीन कर देने से और पुरुष की मुक्ति प्रकृति को देखकर और उससे अलग होकर अपने ज्ञानमय स्वरूप में प्रतिष्ठित होने से सिद्ध होती है । विवाह संस्कार के द्वारा ये दोनों ही बातें सिद्ध होती हैं इसलिये विवाह संस्कार पवित्र है । परन्तु यह पवित्रता और इसके द्वारा लक्ष्यसिद्धि तभी ठीक ठीक हो सकती है जब वयःक्रम का विवेचनापूर्वक विवाह हो, अन्यथा लक्ष्य में सिद्धिलाभ होना कठिन हो जाता है । जब अपनी सत्ता को पति में लय कर देना ही पातिव्रत्य का लक्ष्य है तो यह बात अवश्य माननी होगी कि अधिक आयु में कन्या का विवाह होने से पातिव्रत्य धर्म्म का पूर्ण अनुष्ठान बहुत ही कठिन हो जायगा । मायामय संसार में समस्त मायिक सम्बन्ध अभ्यास के द्वारा बद्धमूल होते हैं । सती के चित्त में पति के प्रति प्रेम, रस व उत्ताप के संयोग से कमल की तरह रूपासक्त गुणासक्ति आदि के द्वारा धीरे धीरे विकाश को प्राप्त होता है । इस प्रकार के विकाश की सम्भावना बालिकावस्था के प्रेम में जितनी है युवावस्था के काममूलक प्रेम में उतनी कदापि नहीं हो सकती है । अच्छा देखेंगे इस प्रकार की इच्छा चित्त में होने से ही अच्छा देखा जाता है । माया की लीला ऐसी ही है । नवदम्पति को प्रेम-सूत्र में बाँधने के लिये पिता माता पुत्र के सामने वधू की प्रशंसा करेंगे और श्वशुर व सास वधू (कन्या) के सामने जामाता (पुत्र) की प्रशंसा करेंगे । इस प्रकार से दम्पति के चित्त में परस्पर के प्रति अनुराग उत्पन्न होगा । वधू अपने जीवन को पति के लिये समर्पण करने की शिक्षा लाभ करेगी । अनुराग कल्पतरु की तरह शाखा पल्लव से सुशोभित होकर शान्तिरूपी

अमृत फल प्रसव करेगा । इस प्रकार के दाम्पत्यप्रेम की सम्भावना बालिका विवाह में ही अधिक है । युवावस्था में कन्या का विवाह होने से यह भाव नहीं उत्पन्न हो सकता है क्योंकि उस समय कामभाव की वृद्धि होने से सात्त्विक प्रेम का प्रभाव चित्त पर से न्यून हो जाता है । उस समय चित्त की कोमलता नष्ट होजाती है, अभ्यास बँध जाता है, प्रकृति बहुपुरुषों के भाव में भावित होजाने से एक में स्थिरता अवलम्बन नहीं कर सकती है, पिता के गृह में स्वतन्त्रता अधिक व लज्जा-शीलता कम होने से अधिक आयु में पति के अधीना व लज्जाशालिनी होना बहुत ही कठिन होजाता है इत्यादि इत्यादि बहुत कारणों से अधिक आयु के विवाह में पातिव्रत्यधर्म्म की हानि होती है जिससे संसार में नित्य अशान्ति, दम्पतिकलह, अनाचार आदि सभी दुर्गुण भर जाते हैं और इस प्रकार दाम्पत्यप्रेम की न्यूनता से पातिव्रत्य में हानि होने से स्त्री की अधोगति होती है और विवाह संस्कार का लक्ष्य असिद्ध रह जाता है । इसलिये महर्षियों ने रजस्वला के पहले बालिकावस्था में ही विवाह की विधि को उत्तम मानी है । विचार करने की बात है कि जिस देश में अधिकवयस्का स्त्रियों की विवाहविधि है, विवाहोच्छेद (divorce) का भी नियम उसी देश में अवश्य है । यदि अधिक आयु के विवाह में शान्ति रहती तो इसप्रकार विवाहोच्छेद का नियम नहीं रहता । इससे संसार में अशान्ति व दाम्पत्यप्रेम में न्यूनता आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं । अतः स्त्री की उन्नति व मुक्ति के लिये बालिका-विवाह की रीति ही उत्तम है और इस विषय को लक्ष्यीभूत रखते हुए किस समय कन्या का विवाह होना चाहिये सो पहले ही बहुत कुछ कहा गया है। परन्तु पुरुष के विवाह में ऐसा कभी नहीं होना चाहिये । जब प्रकृति की त्रिगुणमयी लीला को देखकर उससे अलग हो स्वरूपस्थित होना ही पुरुष के लिये विवाह का लक्ष्य है तो इस प्रकार देखने की शक्ति उत्पन्न होने के पहले विवाह करने से प्रकृति के द्वारा बन्धन होजाने की बहुत सम्भावना रहेगी । बालकपन के विवाह से पुरुष में निर्व्वीर्य्यता, दुर्बलता, कठिन रोग, स्त्रैणता आदि बहुत दोष हो जाते हैं । ब्रह्मचर्य पुष्ट होने के पहले ही ब्रह्मचर्य्य नष्ट होने का कारण होजाने से पुरुष की बड़ी ही दुर्दशा होजाती है । वे धातुदौर्बल्य, वीर्य्यतारल्य, स्नायविक तेजोहीनता, क्षयरोग, पक्षाघात,

अजीर्णता व उन्माद आदि बहुत रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। उस दशा में जो सन्तति होती है सो भी रोगी, अल्पायु व दुर्बल होती है। वीर्य्य के दुर्बल होने से प्रायः कन्या उत्पन्न होती हैं और नपुंसकता आदि भी होकर कुलकलङ्क की सम्भावना बढ़ती है। मन, बुद्धि व स्मृतिशक्ति आदि नष्ट होकर विद्या-प्राप्ति व सांसारिक जीवन में क्षति होती है। चित्त की अपक्वदशा में वैषयिक बातें बढ़ जाने से चित्तविक्षेप आदि दोष हो जाते हैं जिससे संसार में ऐसे मनुष्य से किसी प्रकार की उन्नति नहीं प्राप्त हो सकती है इत्यादि इत्यादि हजारों दोष बाल्यविवाह के द्वारा उत्पन्न होते हैं। निस्तेजमन व निस्तेजवीर्य्य पुरुष प्रायः स्त्रैण हुआ करते हैं और उनकी आध्यात्मिक उन्नति कुछ भी नहीं होती है जिससे दलदल में फँसे हुए बूढ़े हाथी की तरह संसारपङ्क में आजन्म वे निमग्न रहते हैं। वैराग्यबुद्धि, त्याग व वासनानाश आदि कोई गुण ऐसे पुरुष में देखने में नहीं आते हैं। इन सब कारणों से वानप्रस्थ या तुरीयाश्रम की योग्यता उनमें कुछ भी नहीं होती है। मनुष्यजन्म मुक्ति का साधक होने से सदा ही मिलना दुर्लभ है परन्तु इस प्रकार के हतभाग्य पुरुषों का मनुष्यजन्म ही वृथा होजाता है। वे जीवन्मुक्त न होकर जीवन्मृत होते हैं। ये ही सब दोष पुरुष के बाल्यविवाह से उत्पन्न होते हैं। आजकल भारतवर्ष में बाल्यविवाह की तो बात ही क्या है, बहुत स्थानों में ऐसी कुरीतियाँ चल पड़ी हैं कि वर से कन्या की आयु अधिक होती है। भोगशक्ति पुरुष से स्त्री में अधिक होने के कारण और भोग द्वारा स्त्री की अपेक्षा पुरुष की हानि अधिक होने के कारण महर्षियों ने स्त्री से पुरुष की आयु अधिक रखने की आज्ञा की है। बाल्यविवाह के द्वारा इस आज्ञा के अन्यथा होने से ऊपर लिखे हुए अनर्थ तो होते ही हैं परन्तु कन्या की आयु वर से अधिक होने से ऐसी कन्या सद्यः प्राणघातिनी हुआ करती है। सिंहिनी की तरह ऐसी स्त्री पुरुष की प्राणशक्ति को पी जाती है अतः इस प्रकार का विवाह कभी नहीं होना चाहिये। इसका अधिक वर्णन क्या करें इस प्रकार के विवाह से पुरुष की सत्ता नाश हो जाती है। महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने लिखा है कि:—

अनन्यपूर्व्विकां यवीयसीम्।

अनन्यपूर्व्विका और यवीयसी कन्या के साथ विवाह करना चाहिये। यह

कहकर कन्या की आयु वर से कम होनी चाहिये ऐसा बताया है। मनुजी ने तो कभी अढ़ाईगुणी और कभी तीनगुणी अधिक आयु कन्या से वर की होनी चाहिये ऐसा बताया है इसका प्रमाण पहले दिया जा चुका है। स्मृतियों में साधारण आज्ञा तो यह है कि:—

वर्षैरेकगुणां भार्य्यामुद्वहेत्त्रिगुणः स्वयम्।

कन्या की आयु से तीनगुणी आयु वर की होनी चाहिये और कहीं कहीं दोगुणी आयु होना भी कहा है। और भी मनुजी ने कहा है कि:—

धर्म्मे सीदति सत्वरः।

धर्मनाश का भय होने से और भी शीघ्र विवाह हो सकता है। परन्तु इस प्रकार की आज्ञा होने पर भी सुश्रुत के सिद्धान्तानुसार सोलह व पच्चीस का अनुपात तो अवश्य ही होना चाहिये कि जिससे पुरुष का वयःक्रम स्त्री से इतना अधिक रहे कि गर्भाधान के काल में शारीरिक, मानसिक या और किसी प्रकार की न्यूनता की सम्भावना नहीं हो और सन्तति भी धार्म्मिक और तेजस्वी होसके। यही श्रुतिस्मृतिसिद्धान्तित वरवधू के विवाहकाल का वर्णन है। इस पर ध्यान रखकर पिता माता को पुत्र कन्या का विवाह संस्कार करना चाहिये।

विवाह संस्कार के अनन्तर ही नारीजीवन की द्वितीय अर्थात् गृहिणी-अवस्था प्रारम्भ होती है। कन्यावस्था में पतिदेवता में तन्मयतामूलक पवित्रतामय सतीधर्म का जो शिक्षालाभ हुआ था, गृहिणीअवस्था में उसी सतीधर्म या पातिव्रत्य की चरितार्थता होती है। जिस प्रकार श्रेष्ठ भक्त भगवान् के चरणकमलों में अपने अपने शरीर, मन, प्राण और आत्मा सभी को समर्पण करके भगवद्भाव में तन्मय होकर भगवान् को प्राप्त करते हैं; उसी प्रकार सती भी पतिदेवता के चरणकमलों में अपना जो कुछ है सो सभी समर्पण करके उन्हींमें तन्मय होकर मुक्ति प्राप्त करती है। वेद मधुरनिनाद से आज्ञा करता है कि:—

अनवद्या पतिजुष्टेव नारी।
पतिरिव जायामभिनोन्येतु।
पतिदेवा भव।

यह पतिव्रता के कीर्त्तिकलाप का ही गान है। स्मृतियों के पत्र पत्र में पतिव्रता की ही महिमा गाई गई है। स्कन्दपुराण में लिखा है कि:—

तपनस्तप्यतेऽत्यन्तं दहनोऽपि च दह्यते ।
कल्पन्ते सर्व्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः ॥
यावत्स्वलोमसंख्याऽस्ति तावत्कोटियुगानि च ।
भर्त्रा स्वर्गसुखं भुङ्क्ते रममाणा पतिव्रता ॥
धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः ।
धन्यः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता ॥
पितृवंश्या मातृवंश्याः पतिवंश्यास्त्रयः स्त्रियः ।
पतिव्रतायाः पुण्येन स्वर्गसौख्यानि भुञ्जते ॥

पतिव्रता के तेज से ही सूर्य व अग्नि आदि ज्योतिष्मान् पदार्थों की ज्योति संसार को आलोकित करती है। पतिव्रता स्त्री अनन्तकाल तक पति के साथ निज पुण्यबल से स्वर्ग में दिव्य सुख प्राप्त करती है। जिस संसार में पतिव्रता सती रहती है वहां माता पिता सभी धन्य होते हैं। पतिव्रता के पुण्य से पितृकुल मातृकुल व श्वशुरकुल तीनों ही स्वर्गसुख प्राप्त करते हैं। ये ही सब सती की महिमा शास्त्रों में वर्णित की गई है।

सतीत्वरूपी कल्पतरु का मूल पति की अनिष्ट शङ्का है और उसका काण्ड निरन्तर पतिदर्शनलालसा है। "मैं उनके पहले कैसे इहलोक त्याग करूँगी, कदाचित् मुझे उनके पीछे जीती रहने का दौर्भाग्य भोगना पड़े" इस प्रकार की आशङ्का सदा ही सती के चित्त में रहती है। यही सतीत्वरूपी कल्पतरु का मूल है। शास्त्र का सिद्धान्त है कि:—

स्नेहः सदा पापमाशङ्कते ।

स्नेह सदा ही अनिष्ट की आशङ्का करता है। "पति प्रसन्न रहेंगे, दीर्घायु व नीरोग रहेंगे व आनन्द से रहेंगे" इस प्रकार का विश्वास होने से सती के चित्त में प्रफुल्लता होती है। "कदाचित् उनको कोई कष्ट हो और अप्रसन्नता हो" इस प्रकार की चिन्ता सती के चित्त में सदा ही बनी रहती है। पतिचिन्ता के सिवाय सती के चित्त में और कोई

भी चिन्ता स्थान नहीं पाती है। सतीधर्म्म का मूल यही प्रगाढ चिन्ता है और इस प्रकार की चिन्ता मूल में होने से सतीधर्म्म में चिरस्थायी गाम्भीर्य्य भरा हुआ रहता है। सती के आनन्द में तरलता नहीं है और उल्लास में लघुता नहीं है, गाम्भीर्य्यभरा आनन्द है। इस प्रकार का गाम्भीर्य्यभाव भी सतीत्व का अन्यतम लक्षण है। सतीत्वरूपी कल्पतरु की मूलभूत उस प्रगाढ चिन्ता से एक अद्भुत काण्ड निकलता है जिसका नाम पतिदर्शनलालसा है। "वे जैसे आनन्द व आराम में थे वैसे ही तो हैं ? या उनको कुछ कष्ट हो रहा है" इसप्रकार की शङ्का से ही पतिदर्शनलालसा उत्पन्न होती है। पति के दूर रहने से, यहांतक कि आँख के पलक के अन्तराल में होने से सती के लिये समस्त संसार अन्धकारमय हो जाता है। सतीधर्म्म यथार्थ निष्कामधर्म्म है क्योंकि मुक्तिकामना कामना नहीं है। जिस कामना से कामना की वृद्धि हो वही कामना कामनापदवाच्य है और जिस कामना में अखिल कामना का लय हो वह कामना नहीं कहला सकती है। सती के चित्त में पति के चरणकमलों में विलीन होकर केवलमात्र मुक्तिलाभ की ही कामना विद्यमान है। सती की समस्त सांसारिक कामना इसी पवित्र कामना में विलीन होने के कारण सतीधर्म्म निष्कामधर्म्म है इस में कोई भी सन्देह नहीं है। सती का जीवन पति के ही सुख के लिये है, अपने लिये नहीं है। यही निष्कामधर्म्म का सारतत्त्व है। सतीत्वरूपी कल्पतरु का मूल अन्यान्य वृक्षों के मूल की तरह सदा ही सती के हृदयक्षेत्र में प्रच्छन्न रहा करता है। उस मूल में कुछ भी आघात लगने से समस्त वृक्ष थरथर काँप उठता है परन्तु साधारणतः उस मूल को कोई देख नहीं सकता है, यहां तक कि विशेष सूक्ष्मदर्शी व अनुसन्धित्सु न होने से पति स्वयं भी उस मूल को देख नहीं सकते हैं; वे केवल पतिदर्शनलालसारूप काण्ड को ही देखते हैं और यह भी सत्य है कि उस काण्ड का यथार्थ अवयव पति की ही दृष्टि में आ सकता है। सतीत्व कल्पतरु की शाखा प्रशाखा अनेक हैं। यथा—पति की मानहानि का भय और अर्थहानि का भय इत्यादि। ये सब शाखा प्रशाखा सती के चित्तक्षेत्र में व्याप्त रहा करती हैं और अन्य लोग भी इन सबों को देख सकते हैं। सतीत्व कल्पतरु आशीर्ष सुन्दर पत्रों से सुशोभित है, सती के क्रियाकलाप ही वे सब पल्लव हैं वे सब

असंख्य और विविध हैं, परन्तु एकवर्णात्मक हैं । पति के सिवाय सती के लिये द्वितीय देवता और कोई नहीं है । सती के सभी कार्य्य उसी देवपूजा के लिये हैं । गृहकार्य्य, अपने हाथ से भोजन बनाना, स्वयं परोसना और शरीर पर अलङ्कारभार धारण करना आदि सभी पति के लिये हैं । जिस कार्य्य में पतिपूजा नहीं है उस कार्य्य का कोई स्थान सती के चित्त में नहीं है । यही सब सतीत्व कल्पतरु के विविध व एक ही वर्ण के पल्लव हैं । इस कल्पतरु के पुष्प कहाँ हैं ? यदि आप देखना चाहें तो देखिये । जिस गृह में सती स्त्री का आविर्भाव है वहां दास, दासी, कुटुम्ब व परिवारवर्ग सभी आनन्दचित्त, कलहशून्य, नम्र व कर्त्तव्यपरायण हैं । वहाँ पुत्र कन्या सभी सरलचित्त, उदार, धार्म्मिक व ईर्षाशून्य हैं । मानो ! सती के गर्भ में रहने के कारण सभी कल्पतरु के पुष्पसौरभ से आमोदित हो रहे हैं । यही मधुरभाव सतीत्व कल्पतरु का पुष्प है जिसके संस्पर्श से संसार के लोग भी पवित्र, भक्तियुक्त व आर्य्यगौरवसम्पन्न होजाते हैं ।

सतीत्व की महिमा को वर्णन करते हुए परम पूज्यपाद महर्षियों ने बहुत बातें लिखी हैं । मनुजी ने कहा है कि:—

प्रजनार्थं महाभागा पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
पतिं या नाऽभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्त्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥

सन्तान प्रसव करने के कारण महाभाग्यवती, सम्मान के योग्या और संसार को उज्ज्वल करनेवाली स्त्री में और श्री में कोई भेद नहीं है । जो स्त्री शरीर, मन व वाणी से अपने पति के सिवाय और किसी पुरुष से सम्बन्ध नहीं रखती है वो ही सती कहलाती है । उसको पतिलोक प्राप्त होता है । याज्ञवल्क्यजी ने कहा है कि:—

मृते जीवति वा पत्यौ या नाऽन्यमुपगच्छति ।
सेह कीर्त्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह ॥

पति की जीवितावस्था में या मृत्यु के बाद भी जो स्त्री अन्य पुरुष की

कभी इच्छा नहीं करती है उसको इहलोक में यश मिलता है और परलोक में उमा के साथ सतीलोक में आनन्द में रह सकती है। दक्षसंहिता में लिखा है कि:—

अनुकूला न वाग्दुष्टा दक्षा साध्वी प्रियंवदा ॥
आत्मगुप्ता स्वामिभक्ता देवता सा न मानुषी ॥

जो स्त्री पति के अनुकूल आचरण करती हैं, कटु वचन नहीं कहती है, गृहकार्य्यों में दक्षा, सती, मिष्टभाषिणी, अपने धर्म्म की रक्षा करनेवाली व पति-भक्तिपरायणा है वह मानवी नहीं है परन्तु देवी है। महर्षि यम ने कहा है कि:—

एकदृष्टिरेकमना भर्त्तुर्वचनकारिणी ।
तस्या बिभीमहे सर्व्वे ये तथाऽन्ये तपोधन ! ।
देवानामपि सा साध्वी पूज्या परमशोभना ॥
भर्त्तुर्मुखं प्रपश्यन्ती भर्त्तुश्चित्ताऽनुसारिणी ।
वर्त्तते च हिते भर्त्तुर्मृत्युद्वारं न पश्यति ॥

एकदृष्टि व एकचित्त होकर जो स्त्री पति वाक्यानुसार कार्य्य करती है उससे महर्षि यम जैसे तपस्वी लोग भी डरते हैं। ऐसी शोभनशीला सती देवताओं को भी पूजनीया है। पति की ही मुखापेक्षिणी, उनके ही चित्त के अनुसार चलनेवाली व उनके ही कल्याणकर कार्य्यों में रता स्त्री को मृत्युलोक में जाना नहीं पड़ता है। इस प्रकार स्मृतियों में सतीधर्म्म की अनन्त महिमा वर्णन की गई है।

अब सती गृहिणी के कर्त्तव्य के विषय में कुछ वर्णन किया जाता है। महर्षि भृगु आज्ञा करते हैं कि:—

पतिव्रतात्परं नाऽस्ति स्त्रीणां श्रेयस्करं व्रतम् ।
धर्म्मं कामञ्च मोक्षञ्च सर्व्वमाप्नोत्यतो यतः ।
अन्येषामन्यधर्म्मः स्यात्स्त्रीणां पतिनिषेवणम् ॥
तीर्थस्नानाऽर्थिनी नारी पतिपादोदकं पिबेत् ।
विष्णोर्वा शङ्कराद्वाऽपि पतिरेवाऽधिकः प्रियः ॥

स्त्रियों के लिये पतिव्रत से अधिक कल्याणकारी व्रत और कोई भी नहीं है क्योंकि इसीसे स्त्री धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभीको प्राप्त करती है। अन्य के लिये धर्म्मान्तर होसकता है परन्तु स्त्री के लिये पतिसेवा ही एकमात्र धर्म्म है। तीर्थस्नान की इच्छा हो तो सती स्त्री पति का पादोदक पान करे क्योंकि स्त्री के लिये विष्णु या शङ्कर सभी से पति ही अधिक प्रिय व पूज्य हैं। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में कहा है किः—

सर्व्वंदानं सर्व्वयज्ञः सर्व्वतीर्थनिषेवणम्।
सर्व्वं व्रतं तपः सर्व्वमुपवासादिकञ्च यत्॥
सर्व्वधर्म्मञ्च सत्यञ्च सर्व्वदेवप्रपूजनम्।
तत्सर्व्वं स्वामिसेवायाः कलां नाऽर्हन्ति षोडशीम्॥

समस्त दान, समस्त यज्ञ, सकल तीर्थों की सेवा, समस्त व्रत, तप व उपवास आदि सब कुछ और सब धर्म्म, सत्य व देवपूजा, ये पतिसेवाजनित पुण्य का षोडशांश पुण्य भी उत्पन्न नहीं करसकते हैं। वाराहपुराण में कहा है किः—

स्नायन्ती तिष्ठती वाऽपि कुर्व्वन्ती वा प्रसाधनम्।
नाऽन्यञ्च मनसा ध्यायेत्कदाचिदपि सुव्रता॥
देवता अर्च्चयन्ती वा भोजयन्त्यथवा द्विजान्।
पतिं न त्यजते चित्तान्मृत्युद्वारं न पश्यति॥

सती स्त्री स्नान करती हुई, बैठी हुई या किसी कार्य्य को करती हुई कदापि चित्त में और किसीकी चिन्ता न करे। जो स्त्री पति की आज्ञा से देवतापूजन करती हुई या ब्राह्मणभोजन कराती हुई पतिचिन्ता को नहीं छोड़ती है उस को मृत्युलोक में नहीं जाना पड़ता है। पूज्यपाद महर्षि भृगु ने कहा है किः—

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य न दातारं भर्त्तारं का न पूजयेत्॥

भर्त्ता देवो गुरुर्भर्त्ता भर्त्ता तीर्थव्रतानि च।
तस्मात्सर्व्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥

पिता, भ्राता व पुत्र परिमित दान करनेवाले हैं, परन्तु पति ही स्त्री को अपरिमित दान करते हैं इसलिये कौन स्त्री पति की पूजा न करेगी ? पति ही देवता, गुरु, तीर्थ व व्रत हैं इसलिये समस्त को त्याग करके पति की ही पूजा करनी चाहिये। पद्मपुराण में कहा है किः—

पत्युः पादं दक्षिणञ्च प्रयागं द्विजसत्तम !।
वामञ्च पुष्करं तस्य या नारी परिपालयेत्॥
तस्य पादोदकं वन्देत्स्नानात्पुण्यं प्रजायते।
प्रयागः पुष्करो भर्त्ता वरस्त्रीणां न संशयः॥
मखानां यजनात्पुण्यं यद्वै भवति दीक्षिते।
बहुपुण्यमवाप्नोति या तु भर्त्तरि सुव्रता॥
गयादीनां सुतीर्थानां यात्रां कृत्वा हि यद्भवेत्।
तत्फलं समवाप्नोति भर्तृशुश्रूषणादपि॥
समासेन प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु।
नाऽस्ति स्त्रीणां पृथग्धर्म्मो भर्तृशुश्रूषणं विना॥

स्त्री के लिये पति का दक्षिणपद प्रयाग और वामपद पुष्करतीर्थस्वरूप है। तीर्थयात्रा की इच्छा करनेवाली स्त्री उनके पादोदक को वन्दना करके पान करे और यदि पुण्य की इच्छा हो तो उससे स्नान करे। श्रेष्ठ स्त्रियों के लिये पति ही प्रयाग व पुष्कर है इसमें कोई सन्देह नहीं है। बहुत प्रकार के यज्ञों के करने से या गया आदि सुतीर्थों में यात्रादि करने से जो कुछ पुण्यलाभ होता है वह एकमात्र पति ही की सेवा से उसको लाभ होता है। संक्षेप निष्कर्ष यह है कि पति की सेवा के विना स्त्रियों का दूसरा धर्म्म है ही नहीं। इस प्रकार पति की सेवा कैसे करनी चाहिये सो महाभारत के कौशिकद्विजोपाख्यान में लिखा है। उसमें एक सती के आचरण वर्णन करते हुए बताया गया है किः—

उच्छिष्टं भाविता भर्त्तुर्भुङ्क्ते नित्यं युधिष्ठिर ! ।
देवताञ्च पतिं मेने भर्त्तुश्चित्ताऽनुसारिणी ॥
कर्म्मणा मनसा वाचा नाऽन्यचिन्ताऽभ्यगात्पतिम् ।
तं सर्व्वभावोपगता पतिशुश्रूषणे रता ॥
साध्वाचारा शुचिर्दक्षा कुटुम्बस्य हितैषिणी ।
भर्त्तुश्चाऽपि हितं यत्तत्सततं साऽनुवर्त्तते ॥
देवताऽतिथिभूतानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथा ।
शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रिया ॥

वह सती पति के भोजन करने के बाद उनके उच्छिष्ट को प्रसाद समझकर भोजन करती थी। पति के चित्त के अनुसार कर्म्म करनेवाली वह सती पति को देवता सोचती थी। कर्म्म मन व वाणी से दूसरी चिन्ता छोड़ पति में ही एकान्तरति हुआ करती थी। सती के सदृश आचार रखनेवाली वह स्त्री कुटुम्ब का हित चाहती थी और जिससे पति का हित हो सदा ऐसा ही करती थी। सर्व्वदा इन्द्रियों को संयत करके देवता, अतिथि, भृत्य, श्वशुर व सास की सेवामें तत्पर रहती थी। यही सब सती का कर्त्तव्य है। मर्य्यादापुरुषोत्तम श्रीभगवान् रामचन्द्रजी ने आदर्श सती सीता के विषय में कहा है कि:—

कार्य्येषु मन्त्री करणेषु दासी,
धर्म्मेषु पत्नी क्षमया धरित्री।
स्नेहेषु माता शयनेषु रम्भा,
रङ्गे सखी लक्ष्मण ! सा प्रिया मे ॥

सीता सती कर्त्तव्य के विषय में मन्त्री के सदृशी और कार्य्य करने में दासी के सदृशी है, धर्म्म के विषय में अर्द्धाङ्गिनी है, पृथिवी के समान क्षमाशालिनी है, माता के समान स्नेहशीला है, सहवास में दिव्य स्त्री है और कौतुक के समय सखी की तरह आचरण करनेवाली है। इस प्रकार पति को परम देवता समझकर उन्हीं की सेवा में शरीर, मन और प्राण

समर्पण करने से पातिव्रत्यधर्म्म की चरितार्थता होती है। पराशर, व्यास, वसिष्ठ, आपस्तम्ब और याज्ञवल्क्य आदि महर्षियों ने इस परम पवित्र पातिव्रत्यधर्म्म की चरितार्थता के लिये गृहिणीजीवन में बहुत कुछ कर्त्तव्यों का निर्देश किया है जो संक्षेप से बताया जाता है।

संयतोपस्करा दक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी ।
कुर्य्याच्छ्वशुरयोः पादवन्दनं भर्तृतत्परा ॥
अहङ्कारं विहायाऽथ कामक्रोधौ च सर्व्वदा ।
मनसो रञ्जनं पत्युः कार्य्यं नाऽन्यस्य कस्यचित् ॥

सती गृहिणी गृहकी वस्तु सब ठीक ठीक स्थान पर सजाकर रक्खेगी। गृहकार्य्य में दक्षा, सदा सन्तोषिणी व स्वल्प व्यय करनेवाली होगी। श्वशुर व सास की चरणवन्दना करेगी और सर्व्वथा पतिपरायणा होगी। अहङ्कार, काम व क्रोध को सर्व्वथा त्याग करके एकान्तरति होकर पति का मनोरञ्जन करेगी।

क्षेत्राद्वनाद्वा ग्रामाद्वा भर्त्तारं गृहमागतम् ।
प्रत्युत्थायाऽभिनन्देत आसनेनोदकेन च ॥
ततोऽन्नसाधनं कृत्वा स्वभर्त्रे विनिवेद्य तत् ।
वैश्वदेवकृतैरन्नैर्भोजनीयाँश्च भोजयेत् ॥
प्रसन्नवदना नित्यं काले भोजनदायिनी ।
भुक्तवन्तं तु भर्त्तारं न वदेत्किञ्चिदप्रियम् ॥
पतिश्चैतदनुज्ञातः शिष्टमन्नाद्यमात्मना ।
भुक्त्वा नयेदहः शेषमायव्ययविचिन्तया ॥
पुनः सायं पुनः प्रातर्गृहशुद्धिं विधाय च ।
कृताऽन्नसाधना साध्वी सुभृशं भोजयेत्पतिम् ॥
नाऽतितृप्ता स्वयं भुक्त्वा गृहनीतिं विधाय च ।
आस्तीर्य्य साधु शयनं ततः परिचरेत्पतिम् ॥

बाहर से पति के आने पर सती गृहिणी खड़ी होकर आसन व चरण धोने के लिये जल देवे। तदनन्तर भोजन बनाकर पति को निवेदन करे और बलिवैश्वदेव के अनन्तर पति व अन्यान्य भोजन करनेवालों को भोजन करावे। सदा ही प्रसन्नवदना होवे, यथाकाल भोजन बनाकर पति को खिलावे, भोजन करते समय पति को कोई अप्रिय शब्द न कहे, पति के भोजन के अनन्तर उनसे आज्ञा लेकर अवशिष्ट अन्नादि भोजन करे और आय-व्यय की चिन्ता करती हुई दिन का शेष भाग यापन करे। इस प्रकार से सायङ्काल में वा पुनः प्रातःकाल में गृहशुद्धि करके भोजन बनाकर पति को खिलावे और स्वयं मिताहार करने के बाद सन्ध्याकालीन गृहकार्य्यों को समाप्त करके उत्तम शय्या बिछाकर पति की सेवा करे।

आसने भोजने दाने सम्माने प्रियभाषणे ।
दक्षया सर्व्वदा भाव्यं भार्य्यया गृहमुख्यया ॥
अन्यालापमसन्तोषं परव्यापारवर्णनम् ।
अतिहासाऽतिरोषाऽतिकामञ्च परिवर्ज्जयेत् ॥
यच्च भर्त्ता न पिबति यच्च भर्त्ता न चेच्छति ।
यच्च भर्त्ता न चाऽश्नाति सर्व्वं तद्वर्ज्जयेत्सती ॥
नोच्चैर्वदेन्न परुषं न बहून्पत्युरप्रियम् ।
न केनचिद्विवदेच्च अप्रलापविलापिनी ॥
न चाऽतिव्ययशीला स्यान्न धर्म्माऽर्थविरोधिनी ।
प्रमादोन्मादरोषेर्ष्यावञ्चनञ्चाऽतिमानिताम् ॥
पैशुन्यहिंसाविद्वेषमहाऽहङ्कारधूर्त्तताः ।
नास्तिक्यसाहसस्तेयदम्भान्साध्वी विवर्ज्जयेत् ॥
एवं परिचरन्ती सा पतिं परमदैवतम् ।
यशः शर्म्मिह यात्येव परत्र च सलोकताम् ॥

आसन, भोजन, दान, सम्मान व प्रियभाषण में गृह में श्रेष्ठा गृहिणी को सदा ही निपुण होना चाहिये। परचर्चा, असन्तोष, अधिक हास्य, रोष

व काम सती स्त्री को त्याग देना चाहिये। जिन वस्तुओं को पति नहीं चाहते हैं या नहीं खाते-पीते हैं उन सबों का भी सती का त्याग करना चाहिये। उच्च स्वर से बात करना, कटु वचन कहना, अतिरिक्त व पति का अप्रिय वाक्य कहना, विवाद, प्रलाप व विलाप ये सब सती गृहिणी को त्यागना चाहिये। सती गृहिणी अधिक व्ययशीला न होवे, पतिके धर्म्म या अर्थसाधन में बाधक न होवे और प्रमाद, उन्माद, क्रोध ईर्ष्या, वञ्चना, अतिमानिता, खलता; हिंसा, विद्वेष, अहङ्कार, धूर्त्तता, नास्तिकता, साहस, चोरी व दम्भ इन सब दोषों को त्याग करे। इस प्रकार से परम देवता पति की सेवा करने पर सती स्त्री को इहलोक में कीर्त्ति व कल्याण-लाभ और मृत्यु के अनन्तर पतिलोकप्राप्ति होती है।

तैलाऽभ्यङ्ग तथा स्नानं शरीरोद्वर्त्तनक्रियाम् ।
मार्ज्जनञ्चैव दन्तानां कुर्य्यात्पतिमुदे सती ॥
भर्त्सिता निन्दिताऽत्यर्थं ताडिताऽपि पतिव्रता ।
व्यथिताऽपि भयं त्यक्त्वा कण्ठे गृह्णीत वल्लभम् ॥
उच्चैर्न रोदनं कुर्य्यान्नैवाऽऽक्रोशेच्छिशुं शति ।
पलायनं न कर्त्तव्यं निजगेहाद्बहिः स्त्रिया ॥
आहूता गृहकार्य्याणि त्यक्त्वा गच्छेच्च सत्वरम् ।
किमर्थं व्याहृता स्वामिन् ! सुप्रसादो विधीयताम् ॥
सेवेत भर्त्तुरुच्छिष्टमिष्टमन्नं फलादिकम् ।
महाप्रसाद इत्युक्त्वा मोदमाना निरन्तरम् ॥
सुखसुप्तं सुखाऽऽसीनं रममाणं यदृच्छया ।
अवश्येष्वपि कार्य्येषु पतिं नोत्थापयेत्क्वचित् ॥
नैकाकिनी क्वचिद्गच्छेन्न नग्ना स्नानमाचरेत् ।
भर्त्तृविद्वेषिणीं नारीं साध्वी नो भाषयेत्क्वचित् ॥
गृहव्ययनिमित्तञ्च यद्द्रव्यं प्रभुणाऽर्पितम् ।
निर्वृत्य गृहकार्य्यं सा किञ्चिद्बुद्ध्याऽवशेषयेत् ॥

त्यागाऽर्थमर्पितादूद्रव्याल्लोभात्किञ्चिन्न धारयेत् ।
भर्त्तुराज्ञां विना नैव स्वबन्धुभ्यो दिशेद्धनम् ॥
छायेवाऽनुगता स्वच्छा सखीव हितकर्म्मसु ।
दासीवाऽऽदिष्टकार्य्येषु भार्य्या भर्त्तुः सदा भवेत् ॥
गृहिधर्म्मधुरं साध्वी पत्या सह वहेत्सदा ।
यतो गृहस्थधर्म्मस्य फलभोक्त्रीति कथ्यते ।
पतिर्नारायणः स्त्रीणां व्रतं धर्म्मः सनातनः ।
सर्व्वं कर्म्म वृथा तासां स्वामिनां विमुखाश्च याः ॥

तैलमर्द्दन, स्नान, शरीरसंस्कार व दन्तधावन आदि सभी कार्य्यं सती पति के ही प्रीत्यर्थ करे, अपने लिये नहीं करे। पति के द्वारा अत्यन्त भर्त्सिता, निन्दिता, ताडिता या दुःखिता होने पर भी पति को शान्त व सन्तुष्ट करने के लिये सती स्त्री भय त्याग करके उनके गले में लिपट जाय। उच्च रोदन, शिशुओं के प्रति ताडना या निज गृह से चली जाना सती का कदापि कर्त्तव्य नहीं है। पति के बुलाने पर सब कार्य्यं त्याग करके शीघ्र ही उनके पास जावे और "हे स्वामिन्! क्यों बुलाया था, आज्ञा कीजिये" इस प्रकार कहे। पति के उच्छिष्ट अन्न फलादि महाप्रसाद समझकर सदा ही आनन्द के साथ ग्रहण करे। आवश्यकीय कार्य्य होने पर भी आराम से सोये हुए, बैठे हुए या किसी आनन्द में रत पति को कभी न उठावे। एकाकिनी कहीं न जावे, नग्न होकर स्नान न करे और पतिविद्वेषिणी स्त्रियों के साथ कभी बात न करे। घर के खर्च के लिये पति से जो कुछ द्रव्य मिले, घर का खर्च पूरा करके सावधानता से उसमें से कुछ बचावे। दान करने के लिये जो द्रव्य मिले उसमें से लोभी बनकर कुछ न बचावे और पति की आज्ञा के बिना अपने बन्धुओं को कुछ भी द्रव्य न देवे। पवित्रचित्त होकर छाया की नाईं पति का अनुवर्त्तन करे और उनके हितकार्य्यों में सखी की तरह व आदेश किये हुए कार्य्यों में दासी की तरह आचरण करे। गृहस्थाश्रम के सभी भार सती गृहिणी पति के साथ वहन करे क्योंकि अर्द्धाङ्गिनी सती सकल गृहस्थधर्म्मों की ही फलभागिनी होती है। सती

स्त्री के लिये पति नारायणरूप है और समस्त वृत व सनातन धर्म्मरूप है, पति की आज्ञा के विरुद्ध अर्थात् उनसे विमुख होकर स्त्री जो कार्य्य करती है वे सभी व्यर्थ होते हैं। व्याससंहिता में कहा है कि:—

योषितो नित्यकर्म्मोक्तं नैमित्तिकमथोच्यते।
रजोदर्शनतो दोषान्सर्व्वमेव परित्यजेत्॥
सर्व्वैरलक्षिता शीघ्रं लज्जिताऽन्तर्गृहे वसेत्।
एकाम्बरवृता दीना स्नानाऽलङ्कारवर्जिता॥
मौनिन्यधोमुखी चक्षुःपाणिपाद्भिरचञ्चला।
अश्नीयात्केवलं भक्तं नक्तं मृन्मयभाजने॥
स्वपेद्भूमावप्रमत्ता क्षपेदेवमहस्त्रयम्।
स्नायीत च त्रिरात्रान्ते सचैलमुदिते रवौ॥
विलोक्य भर्त्तुर्वदनं शुद्धा भवति धर्म्मतः।
कृतशौचा पुनः कर्म्म पूर्व्ववच्च समाचरेत्॥

स्त्रियों के नित्यकर्म्म कहे गये। अब नैमित्तिकर्म्म कहे जाते हैं। रजोदर्शन होने पर स्त्री सब नित्यकर्म्म त्याग करे और लज्जावती होकर एकान्त गृह में रहे। एक वस्त्र धारण करके, स्नान व अलङ्कार त्याग करके दीना व मौनिनी होकर रहे। नेत्र, हाथ और पाँव के द्वारा चाञ्चल्यप्रकाश न करे व केवल रात्रि को मिट्टी से बने हुए पात्र में अन्न भोजन करे। भूमिशय्या पर सोवे। इस प्रकार से प्रमादशून्य होकर तीन दिन व्यतीत करके चौथे दिन में सूर्य्योदय के बाद सवस्त्र स्नान करे और पति का मुख दर्शन करने से धर्म्मतः शुद्ध होगी। पति अनुपस्थित हों तो मन में उनका ध्यान करके सूर्य्यदर्शन करे ऐसी आज्ञा महर्षि भृगु ने की है। इसी प्रकार शुचिकर समस्त कार्य्य समाप्त करके पुनः पूर्व्ववत् नित्यकर्म्म करे। पराशरसंहिता में कहा है कि:—

स्नाता रजस्वला या तु चतुर्थेऽहनि शुध्यति।
कुर्य्याद्रजोनिवृत्तौ तु दैवपित्र्यादिकर्म्म च॥

रुग्णाना यद्रजः स्त्रीणामन्वहन्तु प्रवर्त्तते।
नाऽशुचिः सा ततस्तेन तत्स्याद्वैकालिकं मतम्॥
प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी।
तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थेऽहनि शुध्यति॥
आतुरे स्नान उत्पन्ने दशकृत्वो ह्यनातुरः।
स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततः शुध्येत्स आतुरः॥

रजस्वला स्त्री चौथे दिन स्नान करके शुद्ध होकर साधारण नित्यकर्म्म को कर सकेगी परन्तु दैव और पित्र्यकर्म्म रजोनिवृत्ति के बाद ही कर सकेगी। रोग के कारण यदि स्त्री का प्रत्यह रजःस्राव हो तो उससे स्त्री अशुद्ध नहीं होगी क्योंकि उस प्रकार का रजोदर्शन अस्वाभाविक है। रजोदर्शन के प्रथम दिवस स्त्री चाण्डालीतुल्या, द्वितीय दिवस ब्रह्मघातिनी-तुल्या व तृतीय दिवस रजकीतुल्या अशुद्धा रहती है और चौथे दिन शुद्धा होती है। रोगिणी स्त्री का ऋतुस्नान का दिन आने पर अरोगिणी कोई स्त्री दस बार स्नान करके प्रत्येक बार रोगिणी स्त्री को स्पर्श करने पर वह शुद्धा होगी।

गर्भवती होने पर स्त्रियों को क्या करना चाहिये इस विषय में मत्स्य-पुराण में कहा गया है किः—

सन्ध्यायां नैव भोक्तव्य गर्भिण्या वरवर्णिनि!।
न स्थातव्यं न गन्तव्य वृक्षमूलेषु सर्व्वदा॥
विलिखेन्न नखैर्भूमिं नाऽङ्गारेण न भस्मना।
न शयाना सदा तिष्ठेद्व्यायामञ्च विवर्ज्जयेत्।
न तुषाऽङ्गारभस्माऽस्थिकपालेषु समाविशेत्।
वर्ज्जयेत्कलहं लोके गात्रभङ्गं तथैव च॥
न मुक्तकेशी तिष्ठेत नाऽशुचिः स्यात्कदाचन।
न शयीतोत्तरशिरा न चाऽपरशिराः क्वचित्॥

न बीभत्सं किञ्चिदीक्षेन्न रौद्रां शृणुयात्कथाम् ।
गुरुं वाऽत्युष्णमाहारमजीर्णं न समाचरेत् ॥
गुर्विणी न तु कुर्व्वीत व्यायाममपतर्पणम् ।
मैथुनं न च सेवेत न कुर्य्यादतितर्पणम् ॥
न वस्त्रहीना नोद्विग्ना चाऽऽर्द्रचरणा सती ।
नाऽमाङ्गल्यां वदेद्वाचं न च हास्याऽधिका भवेत् ॥
कुर्याच्च गुरुशुश्रूषां नित्यमङ्गलतत्परा ।
सर्व्वौषधीभिः कोष्णेन वारिणा स्नानमाचरेत् ॥
कृतरक्षा सुभूषा च वास्तुपूजनतत्परा ।
तिष्ठेत्प्रसन्नवदना भर्त्तुः प्रियहिते रता ॥
दानशीला तृतीयायां पार्व्वत्या नक्तमाचरेत् ।
इतिवृत्ता भवेन्नारी विशेषेण तु गर्भिणी ॥
यस्तु तस्या भवेत्पुत्रः शीलायुर्वृद्धिसंयुतः ।
अन्यथा गर्भपतनमवाप्नोति न संशयः ॥

गर्भवती स्त्री सन्ध्याकाल में भोजन न करे, वृक्ष के तले नहीं जाया करे व न रहा करे। नख, कोयला व राख से भूमि पर रेखा न खींचे, सदा सोई न रहे व किसी प्रकार का व्यायाम न करे। अन्न का तुष, कोयला, राख, अस्थि व कपाल के ऊपर न बैठे या इन चीजों को साथ न रक्खे। किसीके साथ झगड़ा न करे और गात्रभङ्ग भी न करे। केश खोलकर व अशुचि अवस्था में कभी न रहे और उत्तर व पश्चिम की ओर सिर रखकर कभी न सोवे। कोई बीभत्सरस का दृश्य न देखे व रौद्ररस की कथा न सुने। गुरुपाक, अतिउष्ण या जिससे अजीर्ण हो ऐसी वस्तु न खाया करे। गर्भिणी को कदापि व्यायाम, अपतर्पण, मैथुन व अतितर्पण नहीं करना चाहिये। नग्न, उद्विग्नचित व आर्द्रपद होकर न सोवे, अमङ्गल-कर वाक्य न कहे और अधिक हास्य न करे। गुरुसेवा करे, मङ्गल-कार्य्य में सदा ही तत्पर रहे और औषधिमिश्रित ईषदुष्ण जल में स्नान

करे । रक्षाद्रव्य व सुन्दर अलङ्कार धारण करे और गृहदेवताओं की पूजा करे । सदा ही प्रसन्नवदन व पति के प्रिय और हितकर कार्य्य में तत्पर रहे । दानशीला होवे और पार्व्वतीतृतीया में व्रत रक्खे । जिस प्रकार के गुणी व धार्म्मिक पुत्र की इच्छा हो ऐसा ही इतिहास व धर्म्मवीरों की जीवनी पाठ करे अथवा सुने क्योंकि सन्तान के गर्भ में रहते समय माता का भाव जिस प्रकार का होता है पुत्र भी वैसी ही प्रवृत्ति, आयु और स्वभाव-वाला होता है । आर्य्यशास्त्रों में गर्भवती के लिये जो विषय चिन्ता या पुरुष सहवास का त्याग और धर्म्मचिन्ता, वीरचरित्र श्रवण व महापुरुषों के चित्रदर्शन आदि का विधान किया गया है, माता की भावशुद्धि सम्पादन करके सुपुत्र उत्पादन कराना ही उसका तात्पर्य्य है । पुराणों में इस प्रकार की अनेक कथाएँ मिलती हैं जिनसे उपर्य्युक्त विज्ञान सिद्ध होता है । भक्तप्रधान प्रह्लाद जिस समय मातृगर्भ में थे उस समय देवर्षि नारद उनकी माता को पौराणिक भक्ति कथाएं सुनाया करते थे इसीसे प्रह्लाद सदृश भक्त पुत्र उत्पन्न हुआ था । अभिमन्यु के गर्भ में रहते समय ही उनकी माता सुभद्रा को महावीर अर्जुन ने व्यूहभेद की विधि बताई थी इत्यादि अनेक कथाएँ मिलती हैं जिससे यह मत्स्यपुराण का प्रमाण स्पष्ट सिद्ध होता है । गर्भिणी उक्त प्रकार का आचरण न रक्खे तो गर्भपात की भी सम्भावना रहती है ।

बालमङ्के सुखं दध्यान्न चैनं तर्ज्जयेत्क्वचित् ।
सहसा बोधयेन्नैव नाऽयोग्यमुपवेशयेत् ॥
तच्चित्तमनुवर्त्तेत तं सदैवाऽनुमोदयेत् ।
निम्नोच्चस्थानतश्चाऽपि रक्षेद्बालं प्रयत्नतः ॥
अभ्यङ्गोद्वर्त्तनं स्नानं नेत्रयोरञ्जनं तथा ।
वसनं मृदु यत्तच्च तथा मृद्वनुलेपनम् ।
जन्मप्रभृति पथ्यानि बालस्यैतानि सर्व्वदा ॥

प्रसव होने के अनन्तर माता शिशु को सुख से अंक में धारण करे, उसे धमकावे नहीं, एकदम जगा देना या अयोग्य रीति से बैठा देना भी माता

को नहीं चाहिये। शिशु के चित्त के अनुसार बर्ताव करे, सदा उसका अनुमोदन करे और नीच उच्च स्थानों से गिरजाने से सदा उसकी रक्षा करे। तैलमर्द्दन, स्नान, आँखों में अञ्जन, मृदु वस्त्र धारण व लेपन, ये सब जन्म से लेकर शिशु की पुष्टि व स्वास्थ्य के लिये पथ्य हैं। प्रत्येक वस्तु का संस्कार शैशवकाल से चित्त पर जमजाने से उत्तरकाल में कदापि नष्ट नहीं होता है। बालकपन में पिता की अपेक्षा माता के साथ बालकों का सम्बन्ध अधिक रहता है इसलिये माता का कर्त्तव्य है कि बालकपन से अपने आचरण, आदर्श व शिक्षा के द्वारा पुत्र के चित्त में धर्म्मप्रेम, आस्तिकता, भक्ति, उदारता, सदाचार, सच्चरित्रता, जातीय गौरव व अभिमान, देशप्रियता व स्वार्थत्याग आदि सकल सद्वृत्तियों का संस्कार जमा देवे जिससे उनका पुत्र भविष्यद् जीवन में आदर्श आर्य्यसन्तान की तरह अपना और संसार का सर्व्वविध कल्याण साधन कर सके।

पति के प्रवास में जाने पर महर्षियों ने सती गृहिणी के लिये निम्न-लिखित कर्त्तव्यों का उपदेश किया है।

> श्वश्रूश्वशुरयोः पार्श्वे निद्रा कार्य्या न चाऽन्यथा।
> प्रत्यहं पतिवार्त्ता च तयाऽन्वेष्या प्रयत्नतः॥
> अप्रक्षालनमङ्गानां मलिनाम्बरधारणम्।
> तिलकाऽञ्जनहीनत्वं गन्धमाल्यविवर्जनम्॥
> क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
> हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका॥

अपने ही घर में सास आदि स्त्रियों के पास सोना चाहिये और पति के विषय में यत्न के साथ पूछना चाहिये। शरीर की शोभा की ओर दृष्टि नहीं रखनी चाहिये क्योंकि स्त्री की शरीरशोभा पति के लिये ही है अपने लिये नहीं है। इसलिये सुन्दर वस्त्र, तिलक, अञ्जन, गन्ध द्रव्य या माल्य आदि धारण नहीं करना चाहिये। क्रीडा, शरीर का संस्कार सभा या उत्सव देखना, कौतुक व निरर्थक परगृहगमन, ये सब प्रोषितभर्तृका अर्थात् जिसके पति विदेश में गये हुए हैं ऐसी स्त्री के लिये परित्याज्य हैं।

सती जीवन में श्री के साथ ही (लज्जा) का भी मधुर विकास नयन-गोचर होता है। चण्डी (सप्तशती) में कहा है कि:—

या देवी सर्व्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता।

मनुष्यों में लज्जा देवी का भाव है। स्त्रीजाति में देवीभाव नैसर्गिक होने से लज्जा भी नैसर्गिक है। सतीत्व के उत्कर्ष के साथ साथ देवीभाव का अधिक विकास होने से ह्री की भी पूर्णता होती है। सती स्त्री स्वभावतः ही विशेष लज्जाशीला हुआ करती है। लज्जा का कारण अनुसन्धान करने से यही प्रतीत होता है कि पशुधर्म्म के प्रति मनुष्यों की जो स्वाभाविकी घृणा है वही लज्जा का कारण है। मनुष्यप्रकृति में पशुत्व का आवेश अनुभव करने से ही लज्जा का उदय हुआ करता है। पशुप्रकृति में लज्जा नहीं है, पशु निर्लज्ज होकर आहार, निद्रा, मैथुनादि करता है। प्रकृति से अतीत ब्रह्मपद में स्थित होने पर भी भेदभावरहित होने से लज्जारूप पाश नहीं रहता है। इस सबसे अधम व सबसे उत्तम कोटि के सिवाय बीच की कोटि में लज्जा का विकास रहता है। दिव्यभाव के विकास के साथ साथ लज्जा का आविर्भाव और पशुभाव के विकास के साथ साथ लज्जा का तिरोभाव होता है। आहार, निद्रा, मैथुनादि कार्य्य स्थूलशरीर से साक्षात् सम्बन्ध रखने के कारण पशुभावयुक्त हैं, परन्तु जीवनरक्षा व वंशरक्षा के लिये इन कार्यों के अत्यावश्यकीय होने के कारण आर्य्य महर्षियों ने आध्यात्मिक भावों के साथ मिलाकर इन कार्य्यों में से पशुभाव का प्रभाव नष्ट करने का प्रयत्न किया है; तथापि दिव्यभावयुक्त प्रकृति में स्वभावतः इन सब कार्य्यों को करते हुए लज्जा आती है। पुरुष में देवीभाव (प्रकृतिभाव) से पुरुषभाव की अधिकता होने से पुरुष को इन सब कार्य्यों में स्वभावतः लज्जा कम होती है; परन्तु स्त्री में पुरुषभाव से देवीभाव (प्रकृतिभाव) की अधिकता होने से स्त्री को इन सब कार्य्यों में स्वभावतः अधिक लज्जा होती है। पुरुषप्रकृति के साथ स्त्रीप्रकृति का यही प्रभेद है। इसी प्रभेद को रखते हुए दोनों अपने-अपने अधिकार के अनुसार पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। पुरुष अपने ज्ञानस्वरूप की ओर अग्रसर होता हुआ अन्त में भेदभाव विस्मृत हो लज्जारूप पाश को काटसकता है; परन्तु स्त्री को

पूर्णता तभी होगी जब स्त्री अपने लज्जामूलक देवीभाव को पूर्णता पर पहुँचावेगी। देवीभाव की पूर्णता पातिव्रत्य की पूर्णता से होती है इसलिये लज्जाशीलता सतीधर्म्म का लक्षण है। निर्लज्जा स्त्री सती नहीं हो सकती है। लज्जा स्त्रीजाति का भूषण है, इसके न होने से स्त्री का स्त्रीभाव ही नहीं रहता है। लज्जा के बल से स्त्री अपने पातिव्रत्यधर्म्म को भी ठीक-ठीक पालन करसकती है। स्त्री को पुरुष का अधिकार या पुरुष की तरह शिक्षा देकर अथवा ऐसा ही आचार सिखाकर निर्लज्ज बनाने से उसकी बड़ी भारी हानि होती है। ऐसी निर्लज्जा स्त्रियों के द्वारा उत्तम सती का धर्म्मपालन होना असम्भव होजाता है क्योंकि जो आचार प्रकृति से विरुद्ध है उसके द्वारा कदापि किसी की उन्नति नहीं हो सकती है। लज्जा जब स्त्री-जाति का स्वाभाविक भाव है तो इसके नष्ट करने से स्त्री की कभी उन्नति नहीं हो सकती है, अधिकन्तु प्रकृति पर बलात्कार होने के कारण अवनति होना ही निश्चय है। इसमें और भी बहुत कारण हैं जो नीचे दिखाये जाते हैं।

पाश्चात्य देशों में स्त्री पुरुष के साथ बैठकर भोजन, आलाप और एकत्र भ्रमण आदि आचार विद्यमान है इसी कारण वहां की स्त्रियों में निर्लज्जता व पुरुषभाव अधिक है और पातिव्रत्य की महिमा पर भी दृष्टि कम है। उत्तम सती का क्या भाव है और पति के साथ सहमरण कैसा होता है? पाश्चात्य स्त्रियाँ स्वप्नमें भी इन बातों का अनुभव नहीं कर सकती हैं। आर्य्य-शास्त्रों में पातिव्रत्य के बिना स्त्री का जीवन ही व्यर्थ है ऐसा सिद्धान्त सुनिश्चित किया गया है इसलिये अवरोधप्रथा (Parda System) आदि के द्वारा आर्य्य नारियों में लज्जाभाव की रक्षा के लिये भी प्रयत्न किया गया है और इसीलिये स्त्री पुरुषों का एकत्र भोजन व भ्रमण आदि आर्य्यशास्त्रों में विधान नहीं किया गया है। मनुजी ने तो इन बातों की निन्दा ही की है जैसा कि पहले अध्याय में कहा गया है। आजकल धर्म्मशिक्षाहीन पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा विकृतमस्तिष्क कोई-कोई मनुष्य अवरोधप्रथा को नष्ट करके स्त्रियों को निर्लज्ज बनाना, उनसे पुरुषों के भीतर निरङ्कुश भाव से भ्रमण या नृत्य, गीत, वाद्य व नाटकादि कराना और विदेशीय नर-नारियों की तरह उनका हाथ पकड़कर डोलते रहना या हवाखोरी करने जाना आदि बातों को सभ्यता का लक्षण और स्त्रियों पर

दया समझते हैं और इससे विरुद्ध सनातन अवरोधप्रथा को उनपर अत्याचार, अन्याय व निर्दयता समझते हैं। विचार करने से स्पष्टरूप से सिद्ध होगा कि उन उन लोगों की इस प्रकारकी धारणा नितान्त भ्रममूलक है। किसी पर दया करना सदा ही अच्छा है; परन्तु जिस दया के मूल में विचार नहीं है उससे कल्याण न होकर अकल्याण होता है। स्त्रीजाति पर दया करना अच्छा है; परन्तु जिस दया से पातिव्रत्य का मूलही कट जाय, स्त्रीभाव नष्ट होजाय और संसार में अनर्थ उत्पन्न हो वह दया दया नहीं है, अथ च वह महापाप है। ज्ञानमय आर्य्यशास्त्र इस प्रकार की मिथ्या दया के लिये आज्ञा नहीं दे सकते हैं। और घर की स्त्रियों को निर्लज्ज बना कर बाहर न निकालने से निष्ठुरता होती है इसलिये सनातन अवरोधप्रथा निष्ठुरता से भरी हुई है ऐसा लाञ्छन जो लगाया जाता है वह भी सम्पूर्ण भ्रममूलक है क्योंकि विचार करने पर सिद्धान्त होगा कि आर्य्यशास्त्रों में स्त्रीजाति का जितना गौरव बढ़ाया गया है ऐसा और किसी देश या जाति या शास्त्र में नहीं है। अन्य देशों में स्त्री पुरुष के विषयविलास में सहचरी है और आर्य्यजाति में भार्य्या समस्त गार्हस्थ्य धर्म्म में सहधर्म्मिणी व अर्द्धांगभागिनी है। अन्य जातियों में स्त्रीशरीर काम का यन्त्ररूप है और आर्य्यजाति में स्त्री जगदम्बारूपिणी है जिनकी प्रत्येक दशा को दिव्य-भाव के साथ पूजा करने से साधक को मुक्तिलाभ हो सकता है। स्त्रियों के प्रकृतिरूपिणी होने से उनकी प्रत्येक दशा को देवीभाव से पूजने की विधि आर्य्यशास्त्रों में बताई गई है। दशमहाविद्या की दशमूर्त्ति दिव्यभाव में स्त्री की दश दशा की ही सूचना करती है और प्रत्येक दशा की पूजा हुआ करती है। दशमहाविद्याओं में से कुमारी गौरी रूपिणी है, युवती गृहिणी षोडशी व भुवनेश्वरी आदिरूपिणी है और वृद्धा व विधवा धूमावती रूपिणी है, यहां तक कि रजस्वला भी त्रिधारामयी छिन्नमस्ता रूपिणी है ऐसा सिद्धान्त आर्य्यशास्त्रों का है। देवीभागवत में लिखा है कि:—

सर्व्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाऽधममध्यमाः।
योषितामवमानेन प्रकृतेश्च पराभवः॥
रमणी पूजिता येन पतिपुत्रवती सती।

प्रकृतिः पूजिता तेन वस्त्राऽलङ्कारचन्दनैः ॥
कुमारी चाऽष्टवर्षा या वस्त्राऽलङ्कारचन्दनैः ।
पूजिता येन विप्रेण प्रकृतिस्तेन पूजिता ॥
कुमारी पूजिता कुर्य्याद्दुःखदारिद्र्यनाशनम् ।
शत्रुक्षयं धनाऽऽयुष्यं बलवृद्धिं करोति वै ॥

उत्तम मध्यम व अधम सभी स्त्रियाँ प्रकृति के अंश से उत्पन्न होती हैं। प्रकृतिमाता की ही रूप होने से स्त्रियों के निरादर व अवमानना से प्रकृति की अवमानना होती है। पतिपुत्रवती सती की पूजा से जगदम्बा की पूजा होती है। गौरी या कुमारी की पूजा से प्रकृति की पूजा होती है जिससे गृहस्थ का दुःखदारिद्र्यनाश, शत्रुनाश और धन, आयु व बलकी वृद्धि होती है। आर्य्यशास्त्रों में स्त्रियों का यही स्वरूप वर्णन किया गया है और इसीलिये उनकी रक्षा व गौरव वृद्धि करने की इतनी विधि बताई गई है। परन्तु जिनको जगदम्बा का रूप समझ कर पूजा करने की आज्ञा शास्त्र दिया करता है उनको निर्लज्जा होकर बाजार में घूमने की आज्ञा या रूप बनाकर पुरुषों के सामने नाटक करने की आज्ञा आर्य्यशास्त्र नहीं देसकता है। ऐसी आज्ञा दया नहीं होगी; परन्तु स्त्रीधर्म्म की सत्ता का नाश, पातिव्रत्यरूपी कल्पतरु के मूल में कुठाराघात और जगदम्बा पर मूर्खतामूलक अत्याचार होगा। प्रकृति की पूजा करने की आज्ञा देनेवाला आर्य्यशास्त्र ऐसी आज्ञा कभी नहीं करसकता है। जो वस्तु जिसको प्रिय होती है वह उसकी रक्षा भी यत्न से करता है। धन और अलङ्कारादि प्रिय वस्तुओं को गृहस्थ लोग बहुत यत्न के साथ छिपा के ही रखते हैं, बाजार में फेंक नहीं देते हैं। यदि आर्य्यजाति अपनी माताओं को निर्लज्जा की तरह बाजार में नहीं घुमाती है तो इससे आर्य्यजाति का माताओं के प्रति उपेक्षा या निर्द्दयता प्रकट नहीं होती है बल्कि प्रेम और भक्तिभाव ही प्रकट होता है। द्वितीयतः उनको यदि पुरुष हाथ पकड़ कर भ्रमण करावे तो इससे स्त्री व पुरुष दोनों ही की बहुत हानि होगी। शास्त्रों में कहा है कि:—

"सङ्गात्सञ्जायते कामः"।
"हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते"।

काम आदि वृत्तियाँ सङ्ग के द्वारा अधिक हुआ करती हैं, घटती नहीं हैं । अग्नि में प्रक्षिप्त घृत की तरह सङ्गद्वारा काम बढ़ता जाता है । इसी लिये स्त्री के साथ एकत्र रहने का अवसर जितना अधिक होगा उतना ही दिव्यभाव नष्ट होकर पशुभाव की वृद्धि होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है । आर्य्यमहर्षियों ने पशुभाव को नष्ट करके दिव्यभाव को बढ़ाना ही मनुष्य जन्म का लक्ष्य समझा था इसलिये जिन उपायों के द्वारा सतीधर्म्म की हानि, निर्लज्जता की वृद्धि व विषयासक्ति की सम्भावना है उनको वे तिरस्कार करते थे । धर्म्मशिक्षाहीन पाश्चात्यशिक्षा के द्वारा सब पवित्रभाव नष्ट होने लग गये हैं इसीलिये अवरोधप्रथा का उठा देना आजकल सभ्यता का लक्षण समझा जाने लगा है । परन्तु सब ओर विचार करके आर्य्यँजाति के मौलिक लक्षणों पर ध्यान देने से महर्षियों का सिद्धान्त ही समीचीन व दूरदर्शिता-पूर्ण प्रतीत होगा । तृतीयतः यह भी सिद्धान्त पूर्ण सत्य है कि जिस स्त्री को अनेक पुरुष कामभाव व कामदृष्टि से देखते हैं उसके पातिव्रत्य में अवश्य ही हानि होती है । मानसिक व शारीरिक बिजली की शक्ति आँख से, स्पर्श से या केवल चित्त के द्वारा ही अन्य व्यक्ति पर अपना प्रभाव डालकर कैसे उसको अभिभूत व मूर्च्छित कर सकती है सो आज कल मेसमेरिजम व हिप्नोटिजम (Mismrism and hypnotism) आदि विद्या के द्वारा सिद्ध हो चुका है । योगशक्ति के प्रभाव से या तपःशक्ति के प्रभाव से अन्य पुरुषों की उन्नति करना, कठिन रोग आराम करना और असाध्य साधन करना ये सभी इसी विज्ञान की प्रक्रिया है । शक्ति एक ही वस्तु है, उसे उत्पन्न करके सात्त्विकभाव के द्वारा सात्त्विक कार्य्यं किये जा सकते हैं अथवा तामसिकभाव के द्वारा तामसिक कामादि विषयसम्बन्धीय कार्य किये जा सकते हैं । स्थूल नेत्र या मन शक्ति के आधार हैं इसलिये नेत्र व मन के द्वारा सात्त्विक या तामसिक शक्ति का एक स्थान से अन्य स्थान पर प्रयोग करना विज्ञानसिद्ध है । इस सिद्धान्त पर विचार करने से विचारवान् पुरुष अवश्य ही जान सकेंगे कि जिस स्त्री के शरीर पर कामुक पुरुष कामशक्ति के द्वारा कामभाव से दृष्टि डालेंगे तो उसके पातिव्रत्य में धीरे धीरे हानि हो सकती है । अन्य पुरुष के नेत्र की या मन की तामसिक शक्ति के प्रभाव से स्त्री का चित्तचाञ्चल्य होना व सतीधर्म्म

का गाम्भीर्य्यं नष्ट होना अवश्य निश्चित है। इसलिये अवरोधप्रथा को तोड़ कर, स्त्रियों को निर्लज्जा होकर पुरुषों के बीच में रहने की और बाजार में घूमने की आज्ञा देने से आर्य्यस्त्रियों में से पातिव्रत्यधर्म्म धीरे धीरे नष्ट हो जायगा, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। पाश्चात्त्य देश में इस प्रकार निरङ्कुश घूमने के कारण ही वहां की स्त्रियाँ पातिव्रत्य की महिमा को नहीं जानती हैं। यहां भी उसी शिक्षा के प्रभाव से अनर्थ होना प्रारम्भ हो गया है। अतः विचारवान् पुरुषों को इन सब अनर्थकर कदाचारों से सदा सावधान रहना चाहिये। देवीभागवत के तृतीय स्कन्ध के २० बीसवें अध्याय में इसी विषय का एक प्रमाण दिया गया है। वहां शशिकला नाम्नी एक कन्या अपने पिता को अपने को स्वयंवरसभा में भेजने के लिये मना कर रही है और कह रही है कि स्वयंवरसभा में राजालोगों के कामदृष्टि से उस पर दृष्टि डालने से उसके पातिव्रत्य में हानि होगी इसलिये स्वयंवर विवाह भी ठीक नहीं है। यथा:—

तं तथा भाषमाणं वै पितरं मितभाषिणी ।
उवाच वचनं बाला ललितं धर्म्मसंयुतम् ॥
नाऽहं दृष्टिपथे राज्ञां गमिष्यामि पितः ! किल ।
कामुकानां नरेशानां गच्छन्त्यन्याश्च योषितः ॥
धर्म्मशास्त्रे श्रुतं तात ! मयेदं वचनं किल ।
एक एव वरो नार्य्या निरीक्ष्यः स्यान्न चाऽपरः ॥
सतीत्वं निर्गतं तस्या या प्रयाति बहूनथ ।
सङ्कल्पयन्ति ते सर्व्वे दृष्ट्वा मे भवतात्त्विति ॥
स्वयंवरे स्रजं धृत्वा यदा गच्छति मण्डपे ।
सामान्या सा तदा जाता कुलटेवाऽपरा वधूः ॥
वारस्त्री विपणिं गत्वा यथा वीक्ष्य नरान्स्थितान् ।
गुणाऽगुणपरिज्ञानं करोति निजमानसे ॥
नैकभावा यथा वेश्या वृथा पश्यति कामुकम् ।
तथाऽहं मण्डपे गत्वा कुर्व्वे वारस्त्रिया कृतम् ॥

पिताजी के इस प्रकार कहने पर शशिकला ने उनको निम्नलिखित धर्म्ममूलक मधुर वाक्य कहा है। "हे पितः ! मैं राजाओं के नेत्रों के सामने नहीं आऊँगी क्योंकि व्यभिचारिणी स्त्रियाँ ही कामुक पुरुषों की दृष्टि के सामने आती हैं। धर्म्मशास्त्र में मैंने सुना है कि पतिव्रता स्त्री केवल अपने ही पति को देखेगी और अन्य किसी पुरुष की ओर कभी दृष्टिपात नहीं करेगी। जो स्त्री अनेक पुरुषों के दृष्टिपथ में आती है उसका पातिव्रत्य नष्ट होता है क्योंकि उस समय 'यह स्त्री मेरी ही भोग्या बन जाय' ऐसी कामना सभी पुरुष करने लगते हैं। जो राजकन्या हाथ में बरमाला लेकर स्वयंवरसभा में आती है उसको वेश्या की तरह सभी की स्त्री बनना पड़ता है। जिस प्रकार वाराङ्गना दूकान में जाकर वहां समागत पुरुषों को देख कर उनके गुणागुण का विचार करती है और एकपुरुषपरा न होकर सब कामुकों की ही ओर ताकती है; उसी प्रकार स्वयंवरसभा में मुझको भी करना पड़ेगा"। शोक की बात है कि एक क्षत्रिय-कन्या जिन बातों को विचार करके निर्णय कर सकती थी आज कल के अनेक पण्डितम्मन्य विद्याभिमानी लोग उन पर सन्देह करने लग गये हैं और उनके पाश्चात्य-विद्याविकृतमस्तिष्क में इस गूढ विज्ञान का रहस्य प्रवेश नहीं करता है। आर्य्यसन्तानों को महर्षियों के सिद्धान्तों पर विचार करना चाहिये और धीर होकर सत्यासत्य-निर्णय करके सत्यमार्ग पर आरूढ होना चाहिये, तभी आर्य्यगौरव की पुनः प्रतिष्ठा होगी और आर्य्यमाताएं पुनः सतीधर्म्म के ज्वलन्त आदर्श को संसारभर की शिक्षा के लिये प्रकट कर सकेंगी। ऊपरलिखित प्रमाणों से केवल अवरोधप्रथा की ही पुष्टि कीगई है ऐसा नहीं है, अधिकन्तु स्वयंवर-विवाह की भी निन्दा कीगई है। स्वयंवर-विवाह आदर्श विवाह नहीं है सो सती शशिकला के वचनों से ही बुद्धिमान् पुरुष सोच सकेंगे। आर्य्यशास्त्रों के अनुसार ब्राह्म-विवाह ही प्रशंसनीय है। अवरोधप्रथा की पुष्टि वेदादि शास्त्रों में भी कीगई है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के चौथे अध्याय के २६ वें सूक्त में लिखा है कि:—

यो वां यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव।

अवगुण्ठन वस्त्र द्वारा आवृता वधू की तरह यज्ञ के द्वारा जो आवृत है।

इस प्रकार कहकर अवरोधप्रथा का ही समर्थन किया गया है। रामायण के कई एक स्थानों में अवरोधप्रथा की बातें लिखी हुई हैं। यथा:—

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥

श्रीभगवान् रामचन्द्रजी के साथ सती सीता को वनवास के लिये राजपथ से जाती हुई देखकर अयोध्या वासियों ने कहा कि "पहले जिस सीतादेवी को खेचर जीव भी नहीं देखने पाते थे उसी माता को आज राजमार्ग के पथिक लोग भी देखने लगे।" मृतपति रावण को देखकर मन्दोदरी विलाप करती हुई कह रही है कि:—

दृष्ट्वा न खल्वसि क्रुद्धो मामिहाऽनवगुण्ठिताम्।
निर्गतां नगरद्वारात्पद्भ्यामेवाऽऽगतां प्रभो!॥
पश्येष्टदार! दारांस्ते भ्रष्टलज्जाऽवगुण्ठनान्।
बहिर्निष्पतितान्सर्व्वान्कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि॥

हे स्वामिन्! मैं तुम्हारी महिषी होनेपर भी अवगुण्ठन त्याग करके आज नगर से बाहर पैदल यहाँ आई हूँ इसको देखकर भी क्या तुम्हें क्रोध नहीं होता है? यह देखो तुम्हारी सब स्त्रियाँ आज लज्जा व अवगुण्ठन को त्याग करके बाहर आगई हैं, ऐसा देखकर भी तुम्हें क्रोध क्यों नहीं हो रहा है? इन सब प्रमाणों के द्वारा प्राचीनकाल में अवरोधप्रथा थी ऐसा निश्चय होता है। मालविकाग्निमित्र व मृच्छकटिक आदि काव्य और उपन्यास ग्रन्थों से भी हजार वर्ष के पहले यहाँ पर अवरोधप्रथा प्रचलित थी ऐसा सिद्ध होता है। सीता, सावित्री व दमयन्ती आदि सतियाँ जो अपने पति के साथ बाहर गई थीं उसका विशेष कारण था। घटनाचक्र से उनको ऐसा करना पड़ा था। साधारण प्रथा के अनुकूल वह आचार नहीं था इसलिये अनुकरणीय नहीं है। हाँ, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आर्य्यजाति में स्त्रियों की शील रक्षा व स्त्रियों के लिये अन्तःपुर का निवास और अवरोधप्रथा यथाविधि प्रचलित रहने पर भी इस समय जो भारतवर्ष के किसी किसी देश में कठिन पर्दे की रीति जेलखाने की तरह

प्रचलित है सो आर्य्यरीति नहीं है। यह कठिन रीति यवन-साम्राज्य के कठिन समय में उनके ही अनुकरण पर प्रचलित हुई है सो उतनी कठिनता अवश्य त्याग करने योग्य है। और दूसरा आज कल भारत के किसी किसी प्रान्त में जो अवरोधप्रथा में शैथिल्य देखने में आता है वह सब आधुनिक व अनार्य्यभावमूलक है इसलिये वह भी अनुकरण करने योग्य नहीं है। अवरोधप्रथा सम्पूर्णरूप से विज्ञानसिद्ध और सतीधर्म्म के अनुकूल है। इसके पूर्णरूप से पालन करने से भारतमहिलाओं की सब प्रकार से उन्नति और आर्य्यगौरव की वृद्धि होगी इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

नारीजीवन की तृतीय दशा वैधव्य है। प्रारब्ध कर्म्म के चक्र से यदि सती को विधवा होना पड़े तो इस वैधव्य दशा में पातिव्रत्य का उद्यापन होता है। सतीत्व के परमपवित्रभाव में भावित सती का जो अन्तःकरण गृहस्थ दशा में पति के साकाररूप में तन्मय होगया था वही अन्तःकरण वैधव्यरूप संन्यासदशा में परमदेवता पति के निराकाररूप में तन्मय होकर पातिव्रत्य धर्म्म की पूर्णता का साधन व उद्यापन कराता है इसीलिये यह तृतीय दशा परम गौरवान्विता व पवित्रतामय है। यह बात पहले ही सिद्ध कीगई है कि भगवच्चरणकमलों में भक्तों की तरह पति के चरणकमलों में लवलीन होने सेही स्त्री को मुक्ति अर्थात् पुरुषयोनि प्राप्ति होती है। पति-व्रता सती पातिव्रत्य के प्रभावसे पतिलोक अर्थात् पञ्चम लोक में जाकर पति के साथ आनन्द में मग्न रहती है। इस प्रकार की तन्मयता द्वारा पातिव्रत्य की पूर्णता होने से ही पुनः जन्म के समय उसको स्त्रीयोनि में नहीं आना पड़ता है। वह पापयोनि से मुक्त हो निःश्रेयसप्रद पुरुषदेह को प्राप्त करती है। उद्भिज्जयोनि से लेकर उसको जो स्त्रीयोनि प्राप्त होना प्रारम्भ हुआ था; इस प्रकार पातिव्रत्य की पूर्णता से वह स्त्रीयोनि का प्रवाह समाप्त होजाता है। आर्य्यमहर्षियों ने जो स्त्रीजाति की सकल दशाओं में ही एक पातिव्रत का उपदेश दिया है उसका यही उपयुक्त कारण है क्योंकि बिना एकपतिवृत के तन्मयता नहीं होसकती। अनेकों में जो चित्त चञ्चल होता है उस में तन्मयता कभी नहीं आसकती है और बिना तन्मयता के पातिवृत्य की पूर्णता नहीं होसकती है एवं विना पातिवृत्य की पूर्णता के स्त्रीयोनि समाप्त होकर मुक्तिप्रद पुरुषयोनि प्राप्त नहीं होसकती है। इसलिये गृहिणी व

विधवा सकल दशा में ही महर्षियों ने एकपातिव्रत्यरूप धर्म्म पर इतना जोर दिया है । इस धर्म्म के बिना स्त्री का जन्म ही वृथा है ।

विवाह के विज्ञान पर संयम करने से ज्ञात होगा कि पुरुषशक्ति के साथ स्त्रीशक्ति को मिलाकर नवीन पदार्थ को उत्पन्न करने के लिये ही विवाह है। इन दोनों शक्तियों का मेल एक प्राकृतिक व्यापार है इसलिये अणु परमाणु से लेकर परमात्मा पर्य्यन्त इस प्रकार दोनों शक्तियों का सम्मेलन देखने में आता है । अणुओं में (Positive and negative pover) पुरुषशक्ति व स्त्रीशक्ति विद्यमान रहती है । द्वयणुक आदि क्रम से स्थूल जगत् की सृष्टि इन दोनों शक्तियों के सम्मेलन से होती है । स्त्रीपरमाणु व पुंपरमाणु मिलकर स्थूल सृष्टि को बनाते हैं । साधारणतः गर्भाधान के समय भी रजोवीर्य्य के मेल के द्वारा दोनों ही शक्तियुक्त परमाणुओं का सम्मेलन सन्तति के स्थूल शरीर उत्पन्न करने के लिये होता है । इन्हीं दोनों शक्तियों का सम्मेलन और उससे सृष्टि उद्भिज्ज जगत् में भी देखने में आती है । वृक्ष भी स्त्री व पुरुष दोनों प्रकार के होते हैं जिनके पराग या पुष्परेणु पृथक् पृथक् होते हैं । पुंपराग के साथ हवा या भ्रमर के द्वारा स्त्रीपराग का प्राकृतिकरूप से सम्बन्ध होने से ही उद्भिज्ज सृष्टि होने लगती है । कहीं कहीं एक पुष्प में भी दो शक्ति रहती हैं । पुंशक्तियुक्त पुंपराग पुष्प के ऊपर के भाग में और स्त्रीशक्तियुक्त स्त्रीपराग पुष्प के गर्भ (बीच) में रहता है । भ्रमर अपने शरीर के ऊपर वह पुंपराग लगाकर पश्चात् पुष्पगर्भस्थ स्त्रीपराग से पुंपराग को प्राकृतिक रीति पर ही मिलाता है और इसी प्रकार से उद्भिज्ज सृष्टि होती रहती है। इसी रीति पर स्वेदजयोनि के जीवों के जो स्थूल शरीर हैं उनकी भी सृष्टि पुरुषपरमाणु व स्त्रीपरमाणु के सम्मेलन से होती है । अण्डज व जरायुज में तो इस प्रकार दो शक्ति के सम्मेलन से सृष्टि प्रत्यक्ष ही है । अब विचार करने की बात यह है कि सर्व्वत्र सृष्टि में इस प्रकार दोनों शक्तियों का सम्मेलन क्यों देखने में आता है ? इसका कारण यह है कि जब संसार के निदानभूत पुरुष व प्रकृति में ही दो शक्ति विद्यमान हैं तो कार्य्यब्रह्मरूपी विराट् संसार में इन दोनों का सर्व्वत्र ही विकाश रहेगा इस में सन्देह ही क्या है ? अद्वितीय परमात्मा में प्रलय के बाद जीवों के कर्म्मानुसार जब सिसृक्षा उत्पन्न होती है तभी परमात्मा से प्रकृति का विकाश होता

है और इस प्रकार पुरुष व प्रकृति की दोनों शक्ति मिलकर निखिल सृष्टि का विस्तार करती हैं। कारण में दो शक्ति होने से कार्य्यरूप संसार के स्थूल, सूक्ष्म, कारण, सकल राज्य में ही दो शक्ति विद्यमान हैं इसमें सन्देह नहीं। सृष्टिधारा के विस्तार के लिये इन दोनों शक्तियों का सम्मेलन करना ही विवाह का प्रथम उद्देश्य है। विवाह का द्वितीय उद्देश्य वियुक्त दोनों शक्तियों को संयुक्त करके अद्वितीय पूर्णता सम्पादन करना है। ब्रह्मभाव में अद्वितीय पूर्णता है। ईश्वरभाव में प्रकृतिशक्ति अलग होकर अनन्त सृष्टि का विस्तार करती है एवं इसीलिये सृष्टिदशा में सर्व्वत्र दोनों शक्तियों का पृथक् पृथक् कार्य्य देखने में आता है। इसी वियुक्त व लीला-विलासशील प्रकृतिशक्ति को पुरुष में लय करके अद्वितीय पूर्णता स्थापन करना ही विवाह व सृष्टिविस्तार का उद्देश्य है। प्रत्येक सृष्टि के मूल में ही लय का बीज विद्यमान है। जिस सृष्टि के मूल में लय नहीं है अथवा जो सृष्टि लय की बाधक या प्रतिकूल है वह सृष्टि सृष्टि ही नहीं कहला सकती है अतः पुरुषशक्ति व प्रकृतिशक्ति के लीलाविलासमय संसार में सृष्टिविस्तारकारी वही विवाह यथार्थ ज्ञानमूलक होगा जिसके द्वारा प्रकृति-शक्ति पुरुष में लय होकर अद्वितीय पूर्णता सम्पादन कर सके। जो जिससे निकलता है उसका उसी में लय होना स्वतःसिद्ध है। प्रकृतिशक्ति पुरुष से निकली है इसलिये अद्वितीय पूर्णता तभी होगी जब वियुक्त प्रकृति पुरुष में विलीन होजाय। आर्य्यजाति का विवाह वही है जिससे प्रकृति सृष्टिविस-तार करती हुई अन्तमें पुरुष में ही लय होजाय। इसीलिये आर्य्यसिद्धान्त के अनुसार प्रकृतिरूपिणी स्त्रीजाति का वही धर्म्म होगा और वही विवाह का लक्ष्य होगा जिससे स्त्री सृष्टिविस्तार करती हुई अन्त में पुरुष में लय होजाय। इस लयसाधन में बाधक जो कुछ है सो स्त्री के लिये धर्म्म नहीं होसकता है। एकपतिव्रत ही स्त्री को पुरुष में लय साधन द्वारा मुक्ति प्रदान करा सकता है। स्त्री का अन्तःकरण एक ही पति में एकाग्रता के द्वारा तन्मय होसकता है। अनेक पति में अन्तःकरण जाने से एकाग्रता व तन्मयता होना असम्भव होगा इसीलिये एकपतिव्रत ही स्त्री के लिये एकमात्र धर्म्म होसकता है। कन्याकाल में इस धर्म्म की शिक्षा व गृहिणीकाल में इसका अभ्यास होकर विधवाकाल में इसकी समाप्ति होती है। इसलिये वैधव्य-

दशा में भी पातिव्रत्य का पूर्ण अनुष्ठान होकर मृतपति की आत्मा में अपनी आत्मा का लय साधन करना ही विधवा का एकमात्र धर्म्म है। इस के साथ पुरुषधर्म्म की बहुत विशेषता है। यदि स्त्री की मुक्ति पुरुष में तन्मयता द्वारा न होकर पुरुष की मुक्ति स्त्री में तन्मयता द्वारा होती तो स्त्री के लिये बहुपुरुषव्रत और पुरुष के लिये एकपत्नीव्रत ही यथार्थ धर्म्म होता; अर्थात् यदि प्रकृति पुरुष से न निकल कर पुरुष ही प्रकृति से निकलता तो भी ऐसा ही धर्म्म होता परन्तु आदि कारण में ऐसा न होने से कार्य्य में भी ऐसा कदापि नहीं होसक्ता है। आदिकारण में परमात्मा से ही उनकी इच्छारूपिणी प्रकृतिमाता की उत्पत्ति होती है और इसीसे कार्य्यरूप समस्त सृष्टि का विस्तार है। और पहले ही कहा गया है, कि जो जिससे उत्पन्न होता है उसका लय भी उसी में होता है। अतः पुरुष से उत्पन्न प्रकृति पुरुष में ही लय होकर मुक्त हो सक्ती है। लय होना एकाग्रता व तन्मयता साध्य है इसलिये एकाग्रता व तन्मयतामूलक धर्म्म ही प्रकृति का धर्म्म है। और इसीलिये एकपतिव्रत ही जाति का धर्म्म है, बहुपुरुषव्रत धर्म्म नहीं हो सक्ता है। परन्तु पुरुष की मुक्ति उनसे निकलीहुई और उनको मुग्ध करने वाली प्रकृति में सृष्टिविस्तार करते हुए उससे पृथक् होकर स्वरूप में अवस्थान द्वारा ही होसक्ती है, प्रकृति में लय होकर या प्रकृति की लीला में बद्ध होकर नहीं होसक्ती है। महर्षि पतञ्जलिजी ने कहा है कि:—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।
वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।

योगाभ्यास की परिसमाप्ति में द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान होता है और अन्य दशा में वृत्तिसारूप्य होता है। इन दोनों सूत्रों से महर्षि पतञ्जलिजी ने इसी भाव को प्रकट किया है कि पुरुष प्रकृति की त्रिगुणमयी लीलाओं को देखकर उससे अलग हो स्वरूप में स्थित होजाते हैं। अतः पुरुष के लिये बिवाह की विधि ऐसी ही होनी चाहिये जिसके द्वारा पुरुष प्रकृति की लीला का दर्शन करता हुआ सृष्टिविस्तार में सहायक हो। इसीलिये एकपत्नीव्रत पुरुष के लिये धर्म्म नहीं होसक्ता है क्योंकि वंशरक्षा के लिये सृष्टि-विस्तार व प्रकृति से पृथक् होकर मुक्तिलाभ के उद्देश्य से एक से अधिक

विवाह पुरुष के लिये शास्त्रानुसार आवश्यक होसक्ता है। यही विवाह के विषय में पुरुषधर्म्म से नारीधर्म्म की विशेषता है।

स्थूल सृष्टि का विस्तार व आध्यात्मिक उन्नति के द्वारा मुक्ति, इन दोनों उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये ही विवाह के द्वारा पुरुषशक्ति के साथ स्त्रीशक्ति का सम्मेलन होता है। शक्ति पुरुष व प्रकृति दोनों ही की होने के कारण आत्मा से लेकर स्थूल शरीर पर्य्यन्त व्याप्त रहती है इसलिये विवाह केवल स्थूल शरीर के साथ स्थूल शरीर के मेल को ही नहीं कहा जाता है; किन्तु विवाह के द्वारा स्त्री और पुरुष के स्थूल शरीर के साथ स्थूल शरीर का, सूक्ष्म शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर का, कारण शरीर के साथ कारण शरीर का और आत्मा के साथ आत्मा का मेल होता है। इस प्रकार उन्नत से उन्नततर सम्मेलन का अनुभव जीव प्रकृतिराज्य में अपनी उन्नति के साथ ही साथ करसक्ता है। वृक्षादि स्थूलप्रधान सृष्टि में स्थूल के साथ ही स्थूल का सम्मेलन और उसी से सृष्टिविस्तार हुआ करता है। पक्षी, पशु व अनार्य्यजाति में स्थूल के अतिरिक्त सूक्ष्म का भी कुछ सम्बन्ध रहने पर भी वहां सूक्ष्म भी स्थूलभावमूलक होने से स्थूल का ही प्राधान्य रहता है। इसलिये पक्षी, पशु व अनार्य्यजाति में स्त्रियों के लिये बहुविवाह प्रचलित हैं क्योंकि जहां केवल स्थूल शरीर के सुखभोग के लिये ही विवाह है वहां एक स्थूल शरीर के नष्ट होने से दूसरे के साथ सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इस प्रकार के विवाह में जो कुछ क्रिया सूक्ष्म शरीर में होती है उसका भी पर्य्यवसान स्थूल में ही जाकर होता है, बल्कि स्थूल को ही लक्ष्य करके होता है इसलिये वहां सूक्ष्म की गौणता व स्थूल की मुख्यता है। इस प्रकार का विवाह पशुविवाह या पशुप्रकृति मनुष्य का विवाह है। आर्य्यजाति पशु नहीं है। पशुभाव आर्य्यत्व का लक्षण नहीं है, अनार्य्यत्व का लक्षण है। दिव्यभाव ही आर्य्य का लक्षण है। आर्य्य व अनार्य्य में जितने भेद के कारण हैं उनमें से यह भी एक है। इसलिये आर्य्यशास्त्रों में विवाह स्थूल शरीर के भोगमात्र को ही लक्ष्य करके नहीं रक्खागया है क्योंकि इस प्रकार करने से भोगस्पृहा बलवती होकर आर्य्यत्व व मनुष्यत्व तक को नष्ट करदेगी और मनुष्य को पशु से भी अधम बनादेगी। आर्य्यजाति का विवाह भोग को बढ़ाने के लिये नहीं

हैं; किन्तु स्वाभाविक व अनर्गल भोगस्पृहा को घटाने के लिये है। स्त्री अपनी स्वाभाविकी पुरुषभोगेच्छा को अन्य सब पुरुषों से हटाकर एक ही पति में केन्द्रीभूत करती हुई उन्हीं में पातिव्रत्य द्वारा तन्मय हो मुक्त होजायगी इसलिये स्त्री का विवाह है। पुरुष अपनी स्वाभाविकी अनर्गल भोगेच्छा को एक ही स्त्री में केन्द्रीभूत करके उसी प्रकृति को देखकर उससे अलग हो मुक्त होजायँगे इसलिये पुरुष का विवाह है। स्त्री के लिये एक ही में तन्मय होना धर्म्म है, उसमें एक के सिवाय दूसरा होने से एकाग्रता नहीं रहेगी, अतः तन्मयता नहीं होगी और मुक्ति में बाधा होजायगी इसलिये एकपतिव्रत स्त्री के लिये परधर्म्म है; परन्तु पुरुष का धर्म्म सृष्टिधारा को अटूट रखना और कुल की परम्परा को स्थायी रखते हुए प्रकृति को देखकर उससे पृथक् हो मुक्त होना है। ये दोनों उद्देश्य यदि एक ही स्त्री से होजायँ तो पुरुष के लिये द्वितीय विवाह की कोई आवश्यकता नहीं होगी बल्कि इस प्रकार होने पर द्वितीय विवाह करना अधर्म्म व अनार्य्य विवाह होगा। और यदि प्रवृत्तिमार्ग के लिये कर्त्तव्यरूप वंशरक्षा की ओर से दृष्टि निवृत्तिमार्ग की ओर होजाय तथा प्रकृतिपरायण भावसमूह परमात्मा में जाकर लय को प्राप्त होजायँ तो ऐसी दशा में द्वितीय विवाह की कोई आवश्यकता नहीं होगी, बल्कि इस प्रकार के पुरुष के लिये प्रथम विवाह की भी कोई आवश्यकता नहीं हैं। परन्तु जहां पर ऐसा भाव अभी नहीं हुआ है; अर्थात् वंशरक्षा की प्रवृत्ति है व प्रकृति से पृथक् होने के लिये प्रकृति को देखने की आवश्यकता है वहां पर द्वितीय विवाह पुरुष के लिये विहित होगा। परन्तु स्मरण रहे कि इस प्रकार का विवाह प्रकृति के भोग में मस्त होने के लिये नहीं है क्योंकि भोग को लक्ष्य करके जहाँ विवाह होता है वहाँ भोग की निवृत्ति नहीं होसकती है, घृताहुत अग्नि की नाईं भोग से भोग की वृद्धि ही होती जाती है। इसलिये वंशरक्षा के साथ साथ यही लक्ष्य होना चाहिये कि स्वाभाविकी भोगेच्छा केन्द्रीभूत होकर धीरे धीरे नष्ट होजाय और अन्त में पुरुष प्रकृति से अलग होकर स्वरूपस्थित होसके। इस प्रकार से पुरुष का द्वितीय विवाह अधिकारानुसार कल्याणप्रद होसकता है। और दूसरा आदर्श समस्त कामना को भगवान् में लय करके निवृत्ति-सेवा करना है ही। परन्तु स्त्री के लिये इस प्रकार का द्वितीय विवाह धर्म्म

नहीं होसक्ता है क्योंकि स्त्री की मुक्ति पुरुष से अलग होकर नहीं होती है बल्कि पुरुष में तन्मय व लय होकर ही होती है। वहां वही धर्म्म होगा जो लय कराने में सुविधाजनक हो। एकपतिव्रत के द्वारा एकाग्रता होने से ही तन्मयता होसक्ती है, अनेक पतियों में वह एकाग्रता सम्भव नहीं है, अतः स्त्री की मुक्ति के लिये एकपतिव्रत होना ही उसका एकमात्र धर्म्म है, बहुविवाह कदापि धर्म्म नहीं होसक्ता है। द्वितीयतः पुरुष की विषयप्रवृत्ति व स्त्री की विषयप्रवृत्ति में बहुत अन्तर है। पुरुष को विषयप्रवृति में सीमा है इसलिये आर्य्यविवाह के नियमानुसार भावशुद्धिपूर्व्वक एक से अधिक विवाह होने पर भी निवृत्ति होसक्ती है और पुरुष प्रकृति से पृथक् होकर मुक्त होसक्ता है; परन्तु स्त्री की विषयप्रवृत्ति में सीमा नहीं है, वहां प्रवृत्ति को "मौका" देना भावशुद्धि व आर्य्यत्व को बिगाड़कर पशुभाव को ही बढ़ाना है। जहाँ प्रवृत्ति का असीम होना ही स्वाभाविक है वहाँ भावशुद्धिपूर्व्वक प्रवृत्ति नहीं होसक्ती है क्योंकि वहाँ भावमें शुद्धि कभी नहीं रहसक्ती है। वहाँ निवृत्तिमूलक या तपोमूलक धर्म्म का ही उपदेश होना युक्तियुक्त होगा जिस से नैसर्गिक असीम प्रवृत्ति का विकाश हो ही न सके। एकपतिव्रत के द्वारा ऐसा ही होता है, बहुपुरुषग्रहण से ऐसा नहीं होसक्ता है इसलिये स्त्रीजाति के लिये बहुविवाह अधोगतिकर होगा, उन्नतिकर कभी नहीं होगा।

पहले ही कहा गया है कि प्रकृति की जिस अवस्था में पुरुषशक्ति व स्त्रीशक्ति का केवल स्थूल सम्बन्ध है वह अवस्था पाशविक व अनार्य्यभाव युक्त है। मनुष्य अनार्य्यभाव को परित्याग करता हुआ आर्य्यभाव की ओर जितना अग्रसर होता है उतनी ही स्थूल सम्बन्ध की गौणता और सूक्ष्म की मुख्यता होती है। आर्य्यस्त्री के विवाह में पति के साथ सम्बन्ध स्थूल सूक्ष्म व कारण तीनों शरीर और आत्मा का भी होता है इसलिये पति के परलोक जाने पर भी स्त्री के साथ सम्बन्ध नहीं टूटता है क्योंकि मृत्यु केवल स्थूल शरीर का परिवर्त्तनमात्र है सूक्ष्म व कारण शरीर और आत्मा में परिवर्त्तन कुछ भी नहीं होता है अतः आर्य्यविवाह सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर व आत्मा के साथ होनेके कारण पति के परलोक जाने से भी नहीं नष्ट होसक्ता है। आर्य्यविवाह में कितना दृढ सम्बन्ध होता है उसका वर्णन श्रुति में किया गया है। यथाः—

प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधाम्यस्थिभिर-
स्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचमिति।

प्राण के साथ प्राण का, अस्थि के साथ अस्थि का, मांस के साथ माँस का और त्वचा के साथ त्वचा कासम्बन्ध करते हैं। और भी कहा है किः—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टि-
र्यथासः। भगोऽर्य्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वाऽदु-
र्गार्हपत्याय देवाः। अमोहमस्मि सा त्वं सात्वमस्य
मोहम्। सा माऽहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्।
तावेहि विवहावहै सहरेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै
पुत्रान् विन्द्यावहै बहून्।

तुम्हारे सौभाग्य के लिये मैं तुम्हारा पाणिग्रहण करता हूँ। तुम इसी भाव से वार्द्धक्य तक पातिव्रत्य पालन करती रहो। गृहस्थाश्रम पालन के लिये भग, अर्य्यमा, सविता व पुरन्धिनामक देवताओं ने तुम्हें मुझे दिया है। मैं "अम" हूँ, तुम "सा हो, तुम "सा" हो, मैं "अम" हूँ। तुम ऋग्वेद हो, मैं सामवेद हूँ। मैं द्यौ हूँ, तुम पृथिवी हो,। आओ हम दोनों विवाह करें और ब्रह्मचर्य्य धारण करके प्रजा को उत्पन्न करें व बहुत सन्तान प्राप्त होजायँ। इस प्रकार आर्य्यजाति के विवाह में स्थूल शरीर के साथ स्थूल का और अन्तःकरण अर्थात् सूक्ष्म शरीर के साथ सूक्ष्म के सम्बन्धविधान की आज्ञा की गई है। इसलिये पतिव्रता सती का सम्बन्ध पति की मृत्यु के बाद भी उसके सूक्ष्म शरीर व आत्मा के साथ रहता है और तदनुसार कर्त्तव्य और उसका फलनिर्देश भी स्मृतियों में किया गया है। मनुसंहिता में लिखा है किः—

कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामाऽपि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
आसीताऽऽमरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवङ्गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥
मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य्यव्रते स्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥

पति की मृत्यु के अनन्तर सती स्त्री पुष्प मूल व फल खाकर भी जीवन धारण करे परन्तु कभी अपने पति के सिवाय अन्य पुरुष का नाम तक नहीं लेवे। सती स्त्री की मृत्यु जबतक नहीं हो तबतक क्लेशसहिष्णु, नियमवती व ब्रह्मचारिणी रहकर एकपतिवृता सती स्त्री का ही आचरण करे। अनेक सहस्र आकुमार ब्रह्मचारी प्रजा की उत्पत्ति न करके भी केवल ब्रह्मचर्य्य के बल से दिव्य लोक में गये हैं। पति के मृत होने पर भी उन कुमारब्रह्मचारियों की तरह जो सती ब्रह्मचारिणी बनी रहती है उसको पुत्र न होने पर भी केवल ब्रह्मचर्य्य के ही बल से स्वर्गलाभ होता है। विष्णुसंहिता में लिखा है कि:—

मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्य्यं तदन्वारोहणं वा ।

पतिवियोग होने से सती स्त्री ब्रह्मचारिणी रहे अथवा पति के साथ सहमृता हो। इसी प्रकार हारीतसंहिता में लिखा है कि:—

या स्त्री मृतं परिष्वज्य दग्धा चेद्धव्यवाहने ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति हरिणा कमला यथा ॥

मृतपति के साथ जो स्त्री सहमृता होती है उसका वास, लक्ष्मी जिस प्रकार हरि के साथ रहती है उस प्रकार पति के साथ पतिलोक में होता है। दक्षसंहिता में लिखा है कि:—

मृते भर्त्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम् ।
सा भवेत्तु शुभाचारा स्वर्गलोके महीयते ॥

पति की मृत्यु होने पर जो स्त्री उसका अनुगमन करती है वह सदाचार-सम्पन्ना कहलाती है व स्वर्ग में देवताओं की भी पूज्या होती है। महर्षि पराशरजी ने लिखा है कि:—

मृते भर्त्तरि या नारी ब्रह्मचर्य्यव्रते स्थिता ।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥
तिस्रःकोट्योऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानवे ।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्त्तारं याऽनुगच्छति ॥

पति की मृत्यु के अनन्तर जो स्त्री ब्रह्मचर्य्य धारण करती है उसको ब्रह्मचारियों की तरह स्वर्ग लाभ होता है । और जो स्त्री पति के साथ सह-मरण में जाती है उसको, साढ़े तीन करोड़ रोम जो कि मनुष्य शरीर में हैं, उतने दिन तक स्वर्गवास होता है । इस प्रकार पातिव्रत्य के पूर्ण अनुष्ठान से ब्रह्मचारिणी सती में कितनी शक्ति होजाती है सो भी स्मृतिकारों ने वर्णन किया है । यथा-हारीतसंहिता में :—

ब्रह्मघ्नं वा सुरापं वा कृतघ्नं वाऽपि मानवम् ।
यमादाय मृता नारी तं भर्त्तारं पुनाति सा ॥

पति ब्रह्महत्याकारी, मद्यपानकारी या कृतघ्न हो, तथापि सती स्त्री उसके सहमृता होकर अपने सतीत्व के बल से उसको पवित्र करके पतिलोक में ले जा सकती है । महर्षि पराशर व दक्ष ने भी कहा है कि:—

व्यालग्राही यथा व्यालं बिलादुद्धरते बलात् ।
एवमुद्धृत्य भर्त्तारं तेनैव सह मोदते ॥

साँप पकड़नेवाला जिस प्रकार बिल से साँप को बलपूर्व्वक ऊपर उठा लेता है उसी प्रकार सती स्त्री अपने पति के अधोगति प्राप्त होने पर भी उसका उद्धार करके उसके साथ पतिलोक में दिव्य सुख लाभ करती है । मत्स्यपुराण में लिखा है कि:—

ततः साध्व्यः स्त्रियः पूज्याः सततं देववज्जनैः ।
तासां राज्ञा प्रसादेन धार्य्यतेऽपि जगत्त्रयम् ॥

इसीलिये सती स्त्री देवताओं की तरह सब की पूजनीया है । सती की ही कृपा व प्रसन्नता से राजा संसार की रक्षा करने में समर्थ होते हैं । अतः पतिव्रता सती राजाओं की भी पूजनीया है । स्कन्दपुराण में लिखाहै कि:—

पुरुषाणां सहस्रञ्च सती स्त्री हि समुद्धरेत् ।
पतिः पतिव्रतानाञ्च मुच्यते सर्व्वपातकात् ॥
नाऽस्ति तेषां कर्म्मभोगः सतीनां व्रततेजसा ।
तया सार्द्धञ्च निष्कर्मी मोदते हरिमन्दिरे ॥

सती अपनी शक्ति से हजारों मनुष्यों का उद्धार करती है। सती स्त्री का पति समस्त पापों से मुक्त होता है। पातिव्रत्य के तेज से सती के पति को कर्म्मफल भोग करना नहीं पड़ता है। वह समस्त कर्म्मभोग से मुक्त होकर सती के साथ बैकुण्ठ में निवास करता है। आर्य्यशास्त्रों में लिखित सावित्री आदि रमणीललामभूता सतियों की इस प्रकार पितृकुल, मातृकुल, व श्वशुरकुलोद्धारकारिणी पातिव्रत्यशक्ति जगत्प्रसिद्ध है जिसको और देश के लोग स्वप्न में भी नहीं लासकते हैं। श्रुति में लिखा है किः—

संपत्नी पत्या सुकृतेन गच्छतां यज्ञस्य
युक्तौ धुर्य्यावभूतां संजानानौ विजिह-
तामरातीर्दिवि ज्योतिरजरमारभेताम् ।

इस वचन से पति के साथ सती का पतिलोक में वास वर्णन किया गया है। अथर्व्ववेद में भी लिखा है किः—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना........
........धर्म्मं पुराणमनुपालयन्ती ।

इसी प्रकार के अनेक वचनों से पतिलोक की इच्छा करनेवाली सती के लिये सनातन पातिव्रत्य धर्म्म के पालन की ही आज्ञा की गई है।

अब इस प्रकार आर्य्यभावापन्न सती विधवा की जीवनरूप तरङ्गिणी पतिप्रेमरूप समुद्र की ओर गम्भीर घोर गति से कैसे अग्रसर होती है सो बताया जाता है। परमात्मा के हृदय में सृष्टि की इच्छा होने से ही उनमें से प्रकृति का विकाश होता है इसलिये प्रकृतिमाता परमात्मा की इच्छा-रूपिणी कहलाती हैं। इच्छा मनोधर्म्म है और उसी इच्छारूपिणी प्रकृति के अंश से ही स्त्रीजाति की उत्पत्ति हुईहै अतः पुरुष के साथ स्त्री का मानसिक सम्बन्ध अर्थात् सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध स्वाभाविक है और स्वाभा-

विक होने से ही मुक्ति के पहले तक इसका नाश नहीं होसकता है। स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध सूक्ष्म के कारण से ही है, स्वतन्त्र नहीं है इसलिये पति की मृत्यु से स्थूलशरीर का सम्बन्ध टूटजाने पर भी सूक्ष्म का सम्बन्ध मुक्ति तक बना रहता है। आज कल पाश्चात्य विद्या या सायन्स के द्वारा स्थूलजगत् के अतिरिक्त सूक्ष्मजगत् का भी कुछ कुछ प्रत्यक्ष आभास प्राप्त होने लगा है। एक मन के साथ दूसरे मन का मनोजगत् में किस प्रकार सम्बन्ध होसकता है, किसी मन में आघात लगने से मानसिक (ईथर) समुद्र में कम्पन उत्पन्न होकर उसका प्रभाव दूर से दूर तक पहुँचकर व्यापक मन को किस प्रकार आलोडित कर सकता है और नवीन आविष्कृत तारहोनवार्त्ता (Wireless telegraphy) की तरह परस्पर मिले हुए मनोयन्त्रों से आलाप व सुख दुःख का अनुभव किस प्रकार से होसकता है इन विषयों पर पाश्चात्य विज्ञानवित् पण्डितों की दृष्टि आकृष्ट होने लगी है और इसी सिद्धान्त की सहायता से टेलीपैथी (telepathy) आदि कई पदार्थविद्या का अद्भुत आविष्कार आज कल हुआ है। आर्य्यमहर्षिगण सूक्ष्म को पहले देखकर पश्चात् उसके ही विकाशरूप स्थूलजगत् को देखते थे इसलिये उनकी सूक्ष्म अतीन्द्रिय दृष्टि के सामने वे सब विषय करतलामलकवत् भासमान होते थे। मृत पितरों के साथ मनोराज्य में पुत्र का सम्बन्ध होकर मन मन्त्र व द्रव्यशक्ति के द्वारा कैसे उनका मूर्च्छा-भङ्ग किया जासकता है इसके तत्त्व को महर्षिलोग जानते थे। सूक्ष्मजगत् की विशालता के सामने और पवित्र व चिरकालस्थायी आनन्द के सामने स्थूलजगत् की क्षुद्रता व दुःखबहुलता जो नितान्त अकिञ्चित्कर है यह बात उनके नेत्रों के निकट झलकती थी तभी वे पशुभाव-प्रधान स्थूलशरीर-सम्बन्धीय विवाह-विज्ञान व बहुपुरुष-सम्बन्ध को अधर्म्म कहकर पातिव्रत्य की ही महिमा का कीर्त्तन करते थे। गृहिणी सती का जीवन गृहस्थ पुरुष की तरह है व उसमें पति की साकार मूर्त्ति की उपासना है एवं त्यागी संन्यासी ही साधारणतः निर्गुण निराकार उपासना के अधिकारी होते हैं; इसी प्रकार विधवा का जीवन वैराग्यवती संन्यासिनी का है इसलिये पति-देवता की निराकार मूर्त्ति की उपासना में विधवा का अधिकार है। अधिकार-विरुद्ध उपासना अधर्म्म है। महर्षिलोग संसार में धर्म्म का प्रचार

करते थे, अधर्म्म का नहीं करते थे इसलिये विधवा स्त्री के लिये संन्यासी का धर्म्म ही शास्त्र में बताया गया है । हारीतसंहिता में कहा है किः—

केशरञ्जनताम्बूलगन्धपुष्पादिसेवनम् ।
भूषणं रङ्गवस्त्रञ्च कांस्यपात्रेषु भोजनम् ॥
द्विवारभोजनञ्चाऽक्ष्णोरञ्जनं वर्ज्जयेत्सदा ।
स्नात्वा शुक्लाम्बरधरा जितक्रोधा जितेन्द्रिया ॥
न कल्पकुहका साध्वी तन्द्राऽऽलस्यविवर्ज्जिता ।
सुनिर्म्मला शुभाऽऽचारा नित्यं सम्पूजयेद्धरिम् ॥
क्षितिशायी भवेद्रात्रौ शुचौ देशे कुशोत्तरे ।
ध्यानयोगपरा नित्यं सतां सङ्गे व्यवस्थिता ॥
तपश्चरणसंयुक्ता यावज्जीवं समाचरेत् ।
तावत्तिष्ठेन्निराहारा भवेद्यदि रजस्वला ॥

अन्य शास्त्रों में भी परमपूज्यपाद महर्षियों ने वर्णन किया गया है किः—

द्विर्भोजनं पराऽन्नञ्च मैथुनाऽऽमिषभूषणम् ।
पर्य्यङ्कं रक्तवासश्च विधवा परिवर्ज्जयेत् ॥
नाऽङ्गमुद्धर्त्तयेद्वासैर्ग्राम्याऽऽलापमपि त्यजेत् ।
देवव्रता नयेत्कालं वैधव्यं धर्म्ममाश्रिता ॥

परमपूज्यपाद परमाराध्य श्रीभगवान् वेदव्यास ने भी आज्ञा की हैः—

अनुयाति न भर्त्तारं यदि दैवात्कथञ्चन ।
तत्राऽपि शीलं संरक्ष्यं शीलभङ्गात्पतत्यधः ॥
विधवाकबरीबन्धो भर्त्तृबन्धाय जायते ।
शिरसो वपनं कार्य्यं तस्माद्विधवया सदा ॥
एकाऽऽहारः सदा कार्य्यो न द्वितीयः कदाचन ।
पर्य्यङ्कशायिनी नारी विधवा पातयेत्पतिम् ॥

तस्माद्भूशयनं कार्य्यं पतिसौख्यसमीहया।
नैवाऽङ्गोद्वर्त्तनं कार्य्यं न ताम्बूलस्य भक्षणम्॥
गन्धद्रव्यस्य सम्भोगो नैव कार्य्यस्तथा क्वचित्।
श्वेतवस्त्रं सदा धार्य्यमन्यथा रौरवं व्रजेत्।
इत्येवं नियमैर्युक्ता विधवाऽपि पतिव्रता॥

केशरञ्जन, पान व गन्धपुष्प आदि सेवन, अलङ्कार, रंगे वस्त्र, कांसे के पात्र में भोजन, दो वार भोजन और आँखों में अञ्जन धारण, ये सब विधवा को त्याग करना चाहिये और विधवा स्नान के अनन्तर श्वेत वस्त्र पहना करे, क्रोध व इन्द्रियों को जय करे, पाप व छल को आश्रय न करे, तन्द्रा व आलस्य को त्याग करे, निर्म्मल व शुद्धाचारी होकर भगवान् की पूजा करे, पवित्र व कुश बिछाये हुए स्थान में भूमिशय्या पर शयन करे, सर्व्वदा ध्यान में रत व सत्सङ्गिनी होवे, तपस्विनी होकर यावज्जीवन काटे और रजस्वला होने के समय भोजन त्याग अथवा देश काल व शरीर के विचार से स्वल्पाहार करे। दो वार भोजन, परान्नग्रहण, मैथुन, आमिष, अलङ्कार, पर्य्यङ्कशयन व रञ्जित वस्त्र विधवा स्त्री त्याग करे और वस्त्र से देहमार्जन व असत् बातचीत त्याग करे एवं विधवा के धर्म्म को आश्रय करके देवव्रत होकर कालातिपात करे। पति के साथ यदि किसी दैव कारण से सहमृता न होसके तथापि विधवा स्त्री शीलरक्षा अवश्य करे क्योंकि शील के भङ्ग होने से पतन होता है, विधवा का वेणीबन्धन पति के बन्धन का कारण होता है अतः विधवा को मुण्डन कराना चाहिये, विधवा को एकाहार करना चाहिये, पर्य्यङ्क में नहीं सोना चाहिये उससे पति की अधोगति होती है, शरीर का मांजना, पान का खाना तथा गन्धद्रव्य का सेवन करना विधवा को नहीं चाहिये और सदा ही श्वेत वस्त्र पहनना चाहिये अन्यथा पाप होता है; इस प्रकार नियम से युक्त रहने पर विधवा होकर अपने पातिव्रत्य को पूरा पालन करसकती है।

इस प्रकार से संयमशीला तपस्विनी विधवा सती मृतपति की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को मिलाकर अनन्त आनन्द को प्राप्त करती है। पति की आत्मा चाहे किसी लोक में हो, चन्द्रलोक में हो या इन्द्रलोक में

हो, सती स्त्री की प्रेमशक्ति तारहीन बिजली की शक्ति के सदृश सती के मनोयन्त्र से निकलकर पति के हृदययन्त्र को स्पर्श करती है और उनके चित्त में आनन्द व शान्ति की अमृतधारा सिञ्चन करती है एवं संसार में सत्य सतीत्व व दाम्पत्य प्रेम का आदर्श स्थापन करती है । यही यथार्थ में आर्य्यजाति का विवाह-विज्ञान है । प्रेम सूक्ष्मजगत् की वस्तु है, पति के जीवित रहते समय स्थूल सूक्ष्म दोनों में बँटजाने से स्थूलसम्बन्ध के कारण प्रेम में कुछ तरलता रहती है, पति के स्थूल देह का नाश होने से केवल सूक्ष्म देह व आत्मा के साथ उसी प्रेम का पवित्र सम्बन्ध होने के कारण उसकी तरलता नष्ट होकर गभीरता बढ़ती है और जिस प्रकार स्थूल माया की लीला को छोड़कर समाधिस्थ पुरुष परमात्मा के परम सूक्ष्म अतीन्द्रिय स्वरूप में दिवा-निशि रमण करते रहते हैं, उसमें स्थूल जगत् का मलिनभाव नहीं रहता है; ठीक उसी प्रकार सती स्त्री परलोकगत प्राणपति के हृदय के साथ सूक्ष्मजगत् में सम्बन्ध करके उन्हीं के चरण कमल में तन्मय होकर पवित्र आनन्द को दिवा-निशि उपभोग करती है । और इसी तरह से यावज्जीवन अतिवाहित करके जिस प्रकार जीवन्मुक्त महापुरुष शरीर-त्याग के समय परब्रह्म में विलीन होकर विदेह मुक्तिलाभ करते हैं; ठीक उसी प्रकार सती विधवा भी देहत्याग के समय पति के स्वरूप में लय होकर पञ्चम लोक को प्राप्त होती हुई अपनी योनि से मुक्ति लाभ करती है । अनार्य्यजाति से आर्य्यजाति की जितनी विशेषता है उनमें से यह भी एक अपूर्व्व विशेषता है।

ऊपर लिखित सूक्ष्म विज्ञान पर संयम करने से विचारवान् पुरुष को अवश्य ही विदित होगा कि आज कल प्रधान आलोच्य विषय नियोग व विधवाविवाह कदापि आर्य्य अधिकार के अनुकूल धर्म्म नहीं होसकता है । किन्हीं किन्हीं अर्व्वाचीन पुरुषों ने नियोगविधि को सर्व्व साधारण धर्म्म प्रमाण करने के लिये बहुत ही क्लिष्ट कल्पना की है । कहीं कहीं उन्होंने वेद व स्मृत्यादि शास्त्रों से भी प्रमाण उठाकर उनके मिथ्या अर्थ किये हैं । परन्तु यदि उनको यह विचार होता कि "स्मृतियों की आज्ञा देश काल व पात्रानुसार लक्ष्य स्थिर रख कर सामञ्जस्य के साथ ही मानी जासक्ती है और आज्ञा यथार्थ होने पर भी यदि देश काल व पात्र उपयोगी न हो तो उसका उपयोग नहीं होसक्ता है" तो उनको इस विषय में इतना भ्रम नहीं होता। अब

नीचे स्मृतिसम्मत नियोग का पालन वर्त्तमान युग में होसकता है या नहीं ? इसी पर विचार किया जाता है । नियोग के विषय में मनुजीने कहा है कि:—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥
विधवायां नियुक्तस्तु घृताऽऽक्तो वाग्यतो निशि ।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥

यदि अपने पति के द्वारा सन्तानोत्पत्ति न हुई हो तो स्त्री देवर अथवा अन्य किसी सपिण्ड पुरुष से नियोग कराकर सन्तान लाभ करे । रात को सर्व्वाङ्ग में घृत लेपन करके मौनावलम्बनपूर्व्वक सगोत्र नियुक्त पुरुष विधवा स्त्री में एक ही पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा पुत्र कभी उत्पन्न न करे । इस प्रकार नियोग की विधि बताकर मनुजी ने इसको पशु-धर्म्म कहकर इसकी बड़ी निन्दा की है । यथाः—

नाऽन्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्म्मं हन्युः सनातनम् ॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः ॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्म्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥
स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ।
वर्णानां सङ्करञ्चक्रे कामोपहतचेतनः ॥
ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥

द्विजवर्ण को विधवा या निस्सन्ताना स्त्री का नियोग कदापि नहीं कराना चाहिये क्योंकि पति के सिवाय अन्य किसी पुरुष में नियुक्त होने से सनातन एकपतिव्रतधर्म्म की हानि होती है । विवाहक्रिया के लिये जितने वैदिक मन्त्र हैं उनमें नियोग की आज्ञा कहीं नहीं पाई जाती है और इसी

प्रकार वैदिक मन्त्रों में विधवाविवाह भी कहीं नहीं लिखा है। शास्त्रज्ञ द्विजगण नियोग को पशु का धर्म्म कहकर निन्दा करते हैं। यह विधि पापी महाराजा वेन के राज्य के समय मनुष्यों में भी प्रचलित हुई थी। महाराजा वेन ने समस्त पृथिवी का अधिपति व राजर्षियों के भी अग्रगण्य होकर अन्त में पापासक्त व कामोन्मत्त होकर इस प्रकार की विधि के द्वारा वर्ण-सङ्कर प्रजा की उत्पत्ति कराई थी। उसी समय से जो मनुष्य पुत्र के लिये विधवा स्त्री का नियोग कराता है, साधुगण उसकी बड़ी निन्दा करते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य स्मृतियों में भी नियोग की अत्यन्त निन्दा कीगई है। मनुष्य पशु नहीं हैं इसलिये पशु का जो धर्म्म है सो मनुष्यों के लिये विहित नहीं होसकता है। इसके सिवाय मनुष्यों में श्रेष्ठ जो आर्य्यजाति है उसमें पशुधर्म्म की जो आज्ञा देता है उसके तो सदृश पापी संसार में और कौन होसकता है। इन सब विचारों के अतिरिक्त नियोग की विधि वर्त्तमान देश काल व पात्र में सम्पूर्ण ही असम्भव होने से सर्व्वथा परित्याज्य है। नियोग के लिये घृताक्त होकर सम्बन्ध करने की जो आज्ञा मनुजी ने की है उसका कारण यह है कि नियोग में साधारण स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध की तरह कामभोग का सम्बन्ध ही नहीं है इसलिये गर्भाधान के अर्थ इन्द्रिय के स्पर्श होने के सिवाय और किसी अङ्ग का स्पर्श न हो इस कारण ही घृताक्त होने की आज्ञा कीगई है। मनुजी ने कहा है कि:—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्य्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा।
यवीयसस्तु या भार्य्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥

देवर के लिये ज्येष्ठ भ्राता की स्त्री गुरुपत्नी तुल्या है और कनिष्ठ भ्राता की स्त्री ज्येष्ठ भ्राता के लिये पुत्रवधू तुल्या है। अतः मनुजी की आज्ञानुसार इन में कामभोग सम्बन्ध होना अतीव गर्हित व पापजनक है। इसलिये सन्तान के लिये नियोग की आज्ञा होने पर भी नियोग में काम का बर्ताव होना सर्व्वथा पापजनक व निषिद्ध है। मनुसंहिता में लिखा है कि:—

विधवायां नियोगाऽर्थे निवृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम्॥
नियुक्तौ यो विधिं हित्वा वर्त्तेयातान्तु कामतः।

तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥

यथाविधि नियोग का प्रयोजन सिद्ध होजाने पर भ्राता व भ्रातृवधू पुनः पूर्व्वसम्बन्ध के अनुसार बर्ताव करें। नियुक्त ज्येष्ठ व कनिष्ठभ्राता नियोग विधि को छोड़करके यदि काम का बर्ताव करें तो पुत्रवधूगमन व गुरुपत्नीगमन के कारण दोनों ही पतित होजाते हैं। अब विचार करने की बात है कि इन्द्रियों का सम्बन्ध करते हुए भी और उस प्रकार स्त्री के सामने रहते हुए भी पुरुष को काम नहीं होगा ऐसा नियोग इस कलियुग में सम्भव है या नहीं ? मनुजी ने कहा है कि:—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्ताऽऽसनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

माता, भगिनी व कन्या के साथ भी एकान्त में पुरुष को नहीं बैठना चाहिये क्योंकि बलवान् इन्द्रियसमूह विद्वान् के भी चित्त को विषय की ओर खींचलेते हैं। इस प्रकार कहकर मनुजी ने इन्द्रियों की चित्तोन्मादकारिणी भीषण शक्ति बताई है। जब विषयों के सामने रहने से ही इतने भय व प्रमाद की सम्भावना है तो विषय-व्यापार को करते हुए कलियुग में तामसिक शरीर व संस्कारयुक्त विषयपूर्णचित्त मनुष्य अपने धैर्य्य को स्थायी रक्खेंगे यह बात कल्पना में भी नहीं आसकती है। कलियुग का देश काल हीन है व गर्भाधान आदि संस्कारों के नष्ट होने से और पिता माता के पाशविक कामोन्माद के द्वारा सन्तान की उत्पत्ति होने से कलियुग में सधारणतः शरीर कामज होता है। अतः इस प्रकार के शरीर में स्त्री से सम्बन्ध करते समय नियोगविधि के अनुकूल धैर्य्य रखना व कामभोग का अभाव होना सम्पूर्ण असम्भव है। इसलिये और युगों में नियोग की विधि प्रचलित थी ऐसा प्रमाण शास्त्रों में मिलने पर भी कलियुग में नियोग नहीं चलसकता है और इसीलिये महर्षियों ने नियोग की निन्दा करते हुए कलियुग में इसका पूर्ण निषेध किया है। यथा बृहस्पतिजी कहते हैं कि:—

उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु ।
युगक्रमादशक्योऽयं कर्त्तुमन्यैर्विधानतः ॥

तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः ।
द्वापरे च कलौ तेषां शक्तिहानिर्हि निर्म्मिता ॥
अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः ।
न शक्यन्तेऽधुना कर्त्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः ॥

मनुजी ने नियोग की आज्ञा देकर पुनः उसकी निन्दा स्वयं ही की है क्योंकि युगानुसार शक्ति के ह्रास होने से मनुष्य पहले की तरह नियोग अब नहीं करसकते हैं । सत्य त्रेता व द्वापर युगों में मनुष्य तपस्वी व ज्ञानी थे; परन्तु कलियुग में सत्य त्रेतादि युगों की वह शक्ति नष्ट होगई है इसलिये महर्षिलोग पहले जिस प्रकार नियोगादि से सन्तान उत्पन्न करते कराते थे वह अब शक्तिहीन कलियुग के मनुष्यों से नहीं होसकता है । पुराणों में भी लिखा है कि:—

देवरेण सुतोत्पत्तिः ।

देवर से सन्तान उत्पत्ति करना कलि में निषिद्ध है । इसप्रकार कई एक कार्य्य कलियुग में त्याग देने योग्य लिखे हैं । यथा-आदिपुराण में लिखा है कि:—

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः ।
निवर्त्तितानि कार्य्याणि व्यवस्थापूर्व्वकं बुधैः ॥

महात्मागण ने संसार की रक्षा के लिये इसी कारण कलियुग के आदि में व्यवस्थापूर्व्वक इन कार्य्यों का निषेध किया है । अतः ऊपर लिखित युक्ति व प्रमाणों से कलियुग में नियोग सर्व्वथा असम्भव सिद्ध होने से परित्याज्य है । अर्व्वाचीन पुरुषोंने जो कहीं कहीं "यदि स्त्री से या पुरुष से रहा न जाय तो नियोग करें" इत्यादि लिखकर नियोग के लिये काम को हेतु बताया है सो उनकी यह सर्व्वथा अयुक्त अपनी कपोलकल्पना है । उन्होंने मनुजी की आज्ञा को समझा ही नहीं है । नियोग पशुधर्म्म होने से निन्दनीय, मनुष्य के अयोग्य और देश काल पात्र के अयोग्य होने से कलियुग में सर्व्वथा परित्याज्य है ।

नियोग के विषय में कहा गया है । अब विधवाविवाह के विषय में कहा जाता है । पुरुषप्रकृति से स्त्रीप्रकृति की भिन्नता तथा प्रकृतिराज्य में दोनों की उन्नति व मुक्ति का प्रभेद, जो कि पहले कहा गया है, उस पर

विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि स्त्री की उन्नति व मुक्ति तन्मयता द्वारा स्त्रीयोनि से उद्धार होने के लिये एकपतिव्रत ही एकमात्र धर्म्म है। स्त्रियों को कन्याकाल से ऐसी ही शिक्षा देनी चाहिये जिससे उनके चित्त में पातिव्रत्य का अङ्कुर जम जाय और उससे भविष्यत् में वे पूर्ण सती बन कर अपना व संसार का कल्याण कर सकें। आज कल विधवाविवाह के विषय में बहुत लोगों के चित्त में भ्रम उत्पन्न होरहा है। वे, दोनों की प्रकृति में क्या क्या भिन्नता है इसको भूलकर स्त्री व पुरुष दोनों की ही प्रकृति एकसी समझकर दोनों के लिये एक ही प्रकार का धर्म्म बताना चाहते हैं और स्त्री की मृत्यु होने से जिस प्रकार पुरुष का विवाह में अधिकार है; उसी प्रकार पति की मृत्यु होजाने से स्त्री का भी अन्य पुरुष को प्रतिरूप से ग्रहण करने में अधिकार है ऐसा कह कर विधवाविवाह को चलाना चाहते हैं। कईयों के मस्तिष्क में तो विधवाओं की भ्रूणहत्या समा गई है और कईयों पर विधवाओं से सन्तान उत्पन्न करके हिन्दुओं की संख्या-वृद्धि करने का उन्माद सवार होगया है। शास्त्रों में कहा है कि:—

योग्यं योग्येन युज्यते ।

जो जिसके योग्य होता है वह उससे अवश्य ही जा मिलता है जब धर्म्महीन पश्चिमी विद्या से विकृतमस्तिष्क लोग स्त्री व पुरुष का समान अधिकार समझकर स्त्रियों के लिये फुटबॉल (Fcot-ball) खेलना, जमनास्टिक (Gymnastic) करना और पत्यन्तर ग्रहण करना आदि कार्य्यों को देश की उन्नति का कारण समझने लगे; उसी समय उनके साथ किसी स्वार्थ सम्बन्ध से बद्ध धर्म्मध्वजी पण्डितम्मन्य अदूरदर्शी पुरुष भी वेद व शास्त्रों में विधवाविवाह के अनुकूल मन्त्र व श्लोक ढूंढ़ने लग पड़े और अर्थ का अनर्थ करके धर्म्म के नाम से स्वार्थसिद्धि करने लगे एवं किसी को यह चिन्ता नहीं हुई कि धर्म्म का लक्षण क्या है तथा वेद व वेदसम्मत सभी शास्त्र धर्म्म का ही उपदेश करते हैं, अधर्म्म का उपदेश नहीं करते हैं। जब धर्म्म का उद्देश्य जीव में प्रवृत्ति भाव को घटाकर निवृत्ति में उसे लेजाना है और समस्त वेद व शास्त्र इसी धर्म्म को बताने के लिये हैं तो वेद व शास्त्रों में निवृत्तिभाव को नष्ट करके प्रवृत्ति के पापमय कूप में डुबाने के लिये आज्ञा कैसे होसकती है और ऐसा हो तो इस प्रकार

के वेद व शास्त्र विचारवान् पुरुष के मान्य कैसे होसकते हैं ? जब एकपति-व्रतरूप धर्म्म से ही नारीजाति की उन्नति व मुक्ति है तो धर्म्म बतानेवाले वेद व शास्त्रों में बहुविवाह की आज्ञा कैसे होसकती है ? अतः अर्वाचीन पुरुषों की इस प्रकार की कल्पना सर्व्वथा मिथ्या कल्पना है। इस प्रकार के मन्त्र वा श्लोकों का तात्पर्य्य और प्रकार का है जो नीचे क्रमशः बताया जायगा।

धर्म्म प्रकृति के अनुकूल होता है इसलिये स्त्री प्रकृति व पुरुष प्रकृति में प्रभेद रहने से स्त्री व पुरुष का धर्म्म एक नहीं होसकता है। इस विषय में पहले अनेक सूक्ष्म विचार किये गये हैं अतः अब इस विषय में स्थूल विचार कुछ किया जाता है। साधारणतः देख सकते हैं कि स्त्री के शरीर व पुरुष के शरीर में आकाश पातालसा अन्तर है। रजःप्राधान्य से स्त्रीशरीर और वीर्यप्राधान्य से पुरुषशरीर उत्पन्न होने से सृष्टि के मूल अर्थात् आदिकारण में ही प्रभेद है अतः कार्य्य में भी विशेष भेद रहेगा इसमें सन्देह ही क्या है। इस प्रकार से धातुगत विभेद होने से धर्म्म व सृष्टि के साथ के सम्बन्ध में बड़ी विशेषता रहती है। सृष्टिकार्य्य में पुरुष से स्त्री को "जिम्मेवरी" अधिक है। यथा यदि कोई पुरुष गर्भाधान करने के बाद ही मरजाय तो सन्तानोत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होती है; परन्तु माता को दस महीने तक गर्भ में धारण करने के लिये जीना पड़ता है और प्रसव के अनन्तर भी कुछ दिन जीये विना साधारणतः सन्तान का प्रतिपालन नहीं होता है। अतः जब सृष्टिकार्य्य में एक की जिम्मेवरी दो मिनट की और दूसरे की एक वर्ष की हुई तो दोनों के लिये समान धर्म्म नहीं होसकता है क्योंकि ऐसी आज्ञा प्रकृति ही नहीं देती है। द्वितीयतः यह भी बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि यदि एक पुरुष की एक से अधिक स्त्रियाँ हों और वे सब सती हों एवं पुरुष भी धार्म्मिक व ऋतुकालगामी हो तो एक पुरुष के द्वारा ऋतुकाल के अनुसार कई स्त्रियों का गर्भाधान होसकता है क्योंकि एक वार गर्भाधान के अनन्तर उस स्त्री को पति के साथ उस प्रकार का कामसम्बन्ध रखने की आवश्यकता नहीं होती है; परन्तु स्त्री का शरीर प्राकृतिक रूप से ऐसा ही है कि एक स्त्री अपने क्षेत्र में दो पुरुष की शक्तिको लेकर कभी सृष्टिविस्तार नहीं करसकती है, वे एक ही शक्ति को धारण कर सकती हैं, दूसरा काम का वेग उनमें भलेही कुछ हो परन्तु उससे गर्भधारण

कार्य्य में कोई उपकार नहीं होसकता है । अतः दोनों प्रकृति में विशेषता होने से धर्म्म की भी विशेषता अवश्य होगी और दोनों के लिये एक ही धर्म्म नहीं होसकेगा । तृतीयतः एकपतिव्रत या एकपत्नीव्रत पालन न होकर यदि व्यभिचार ही हो, तथापि दोनों के व्यभिचारों में बड़ा ही अन्तर हैं। पुरुष के व्यभिचार से उसका अपना ही शरीर नष्ट होता है और उसे पशुत्व-प्राप्ति होती है, उसका प्रभाव दूसरों पर नहीं पड़ता है; परन्तु स्त्री के व्यभिचार का प्रभाव समस्त कुल, समाज जाति व देश पर पड़ता है; दृष्टान्तरूप से समझा जासक्ता है कि यदि कोई स्त्री पाँच मिनट के लिये व्यभिचारिणी होकर अपने गर्भ में किसी नीचवर्ण के मनुष्य का या अनार्य्य का वीर्य्य लावे तो उसप्रकार के गर्भाधान से वर्णसङ्कर प्रजा या अनार्य्य प्रजा उत्पन्न होकर कुल, समाज, जाति व देश सभी को नष्ट करदेगी । अतः जब सृष्टि की पवित्रता रखने के लिये पुरुष से स्त्री की "जिम्मेवरी" अधिक हुई तो दोनों का धर्म्म भी पृथक् पृथक् होगा, इसमें सन्देह ही नहीं है। चौथी बात यह है कि स्त्री में अष्टमधातु अर्थात् रज, पुरुष के सप्तमधातु के अतिरिक्त होने के कारण और उस में प्रेरणा भी पुरुष से विशेष होने के कारण पुरुष से स्त्री में कामभाव अधिक रहता है । शास्त्रों में पुरुष से स्त्री का कामभाव आठगुणा अधिक कहा गया है । पुरुष व्यभिचार करने पर भी अधिक नहीं करसकता है क्योंकि शुक्रनाश के द्वारा पुरुष शीघ्र ही उस पाप के करने में असमर्थ होजाता है, प्रकृति उसको रोक देती है; परन्तु स्त्री की प्रकृति ऐसी है कि उसमें व्यभिचार का अन्त नहीं होसकता। महाभारत में कहा है कि:—

नाऽऽग्निस्तृप्यति काष्ठानां नाऽऽपगानां महोदधिः ।
नाऽन्तकः सर्व्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः ॥

जिसप्रकार काष्ठ कितना ही डालाजाय, कदापि अग्नि की तृप्ति नहीं होती है एवं नदियाँ कितनी ही समुद्र में मिल जायं, समुद्र की तृप्ति नहीं होती है तथा जीव कितने ही मृत्यु के मुख में आजायँ, मृत्यु की तृप्ति नहीं होती है; उसी प्रकार कितने ही पुरुष भोग के लिये क्यों न मिलजायँ, उससे स्त्री की कदापि तृप्ति नहीं होसकती है । ऐसे और भी अनेक प्रमाण शास्त्रों में मिलते हैं जिससे उक्त बात सिद्ध होती है । अतः जब पुरुष में व्यभिचार

होने पर भी उसकी सीमा है और स्त्री में व्यभिचार की सीमा ही नहीं है तो दोनोंका अधिकार व धर्म्म एकसा नहीं होसकता है। यह बात पहले ही कही गई है कि स्त्रीजाति प्रकृति का अंश होने के कारण उसमें विद्या व अविद्या दोनों प्रकृति विद्यमान हैं। अविद्याभाव के कारण पुरुष से आठ-गुणा काम अधिक होने पर भी विद्याभाव के कारण उसमें पुरुष से धैर्य्य अधिक है। अतः जिस प्रकार किसी की ऐसी प्रकृति यदि हो कि एक छटांक भोजन से भी निर्व्वाह करसकता है और लोभ बढ़ाया जाय तो मन भर खिलाने से भी तृप्ति नहीं होती है तो उसके लिये एक छटांक में निर्व्वाह कराने का अभ्यास कराना ही बुद्धि व विचार का कार्य्य होगा व मन मन भर खाने का लोभ दिलाना अविचार का कार्य्य होगा; ठीक उसी प्रकार जब स्त्रीजाति की प्रकृति ही ऐसी है कि एकपतिव्रता होकर तपोधर्म्म के अनुष्ठान द्वारा उसी में आनन्द के साथ निर्व्वाह करके मुक्ति पा सकती है और अनेक पुरुषों के साथ भोग करने का लोभ दिलाने से अजस्र कामभोग करके संसार व अपने को भ्रष्ट कर सकती है तो स्त्री के लिये वही धर्म्म व विचार का कार्य्य होगा जिससे उसमें एकपतिव्रता का संस्कार बढ़ता रहे एवं अनेक पुरुषों से भोग का भाव कुछ भी न हो। विषयसुख एक प्रकार का चित्त का अभिमानमात्र होने से पुराने की अपेक्षा नवीन वस्तु में अधिक सुखबोध होने लगता है क्योंकि पुरानी वस्तु अभ्यस्त होने के कारण उसमें ऐसा अभिमान भी कम होजाता है। नवीन में नवीन सौन्दर्य्य आदि का अभिमान होने से नवीन सुख व आग्रह होने लगता है। यह सब माया की ही लीला है। इसी सिद्धान्त के अनुसार जिसमें काम जितना होगा उसमें नवीन भोग की लालसा भी उतनी ही होगी। अतः पुरुष से स्त्री में काम का वेग जब आठगुणा अधिक है तो स्त्री में नवीन नवीन पुरुषसम्भोगलालसा भी पुरुष से आठगुणी अधिक होगी। इसीलिये महाभारत में कहा गया है कि:—

न चाऽऽसां मुच्यते कश्चित्पुरुषो हस्तमागतः।
गावो नवतृणान्येव गृह्णन्त्येता नवंनवम् ॥

जिस प्रकार गौ नई नई घास खाने की इच्छा से एक ही स्थान पर न

खाकर इधर उधर मुँह मारती रहती है; उसी प्रकार नवीन नवीन पुरुष-भोग की स्पृहा स्त्रियों में स्वाभाविक है। उनके हाथ में आया हुआ कोई पुरुष खाली नहीं जासकता है। यही स्वाभाविक नवीन नवीन भोगस्पृहा स्त्रीजाति में अविद्या का भाव है। पातिव्रत्य के द्वारा इस अविद्याभाव का नाश होकर विद्याभाव की वृद्धि होती है; परन्तु विधवा-विवाह के द्वारा विद्याभाव का नाश होकर अविद्याभाव की ही वृद्धि होगी जिससे स्त्रीजाति की सत्ता नाश होजायगी। जिस दिन बिचारी अबला स्त्रियों को यह आज्ञा दीजायगी कि उनके एक पति के मरने के अनन्तर नवीन पति उन्हें भोग के लिये मिल जायगा और इस प्रकार से अनेक पुरुषों से भोग करती हुई भी वे धार्म्मिका रह सकेंगी, उस दिन से उनके चित्त में नवीन नवीन पुरुषों से भोग की इच्छा कितनी बलवती होजायगी इसको सभी लोग समझ-सकते हैं। धर्म्म का लक्ष्य कामादि प्रवृत्तियों को रोककर निवृत्ति की पुष्टि करना ही है; परन्तु जब अजस्र कामभोग करने पर भी पतिव्रता व धार्म्मिका रहसकती हैं ऐसी आज्ञा उन्हें मिल जायगी तो कौन चाहता है कि कठिन तपश्चर्य्या व एकपतिव्रत को पालन करे, उस समय सभी स्त्रियों के चित्त में आठगुणा काम व नवीन पुरुषों से भोग करने का दावानल धकधकाकर जल उठेगा जिसके तेज से संसार की शान्ति व प्रेम आदि सब कुछ नष्ट होकर संसार भीषण श्मशानरूप में परिणत होजायगा। इस प्रकार विधवा-विवाह की आज्ञा के द्वारा सतीत्वरूपी कल्पतरु, जिसके अमृतफल श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र, श्रीभगवान् रामचन्द्र ऋषि, महर्षि व ध्रुव एवं प्रह्लाद आदि हैं और जिस कल्पतरु के मधुरफल भगवान् शङ्कर व महाराणा प्रताप आदि हैं उसके मूल में कठिन कुठार का आघात होकर उसे नष्ट करदेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। भारत से सतीधर्म्म का गौरव, जिस गौरव के कारण आज भी भारत इतनी हीनदशा होने पर भी समस्त संसार में ज्ञानगुरु होकर इतने विप्लवों को सहन करता हुआ भी अपनी सत्ता को प्रतिष्ठित रखने में समर्थ हुआ है, वह भारत-गौरव-रवि चिरकाल के लिये अस्त होकर भारत को घोर अज्ञानान्धकारमय नरकरूप में परिणत करदेगा एवं दुःख, दारिद्र्य, अविद्या और अशान्ति आदि पिशाचिनी उस नरक में नृत्य करेंगी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। संसार

में कितनी ही जातियाँ कालसमुद्र पर बुद्‌बुद की तरह उठकर पुनः कालसमुद्र में ही विलीन होगई, आज उनका नाम निशान भी नहीं है; हमारे भारत ने केवल माताओं की ही कृपा से व सतीधर्म्म के बल से चिरजीवी आर्य्यपुत्रों को उत्पन्न करके आर्य्यजाति को जीवित रक्खा है। यह महिमा एवं आर्य्यजाति की यह चिरायुता पातिव्रत्य के नाश से पूर्ण नष्ट होजायगी जिससे आर्य्यजाति नष्ट होजायगी। केवल आर्य्यजाति ही नहीं, परन्तु विधवा-विवाह के प्रचार होने से घर घर में अशान्ति फैल जायगी। आर्य्यशास्त्रों में सती चार प्रकार की कहीगई है। उत्तम सती वह है जो अपने पति को ही पुरुष देखे और अन्य पुरुषों को स्त्री देखे अर्थात् उनमें सतीत्व का भाव इतना उच्च है व धारणा इतनी पूर्ण है कि सिवाय पति के और किसी मनुष्य में पुरुषभाव की दृष्टि हो नहीं होती है। मध्यम सती का यह लक्षण है कि जो अपने पति को ही पति समझे एवं अपने से अधिक आयु वाले पुरुष को पिता, समान आयुवाले पुरुष को भ्राता व कम आयुवाले पुरुषों को पुत्र समझे। तृतीय श्रेणी की सती वह है कि जिसमें धारणा इतनी पक्की न होने पर भी धर्म्म व कुल-मर्य्यादा आदि के विचार से जो शरीर व अन्तःकरण को पवित्र रक्खे। और अधम सती वह है कि जो मनके द्वारा परपुरुषचिन्ता को न छोड़सकने पर भी स्थूलशरीर की पवित्रतारक्षा करे। इसप्रकार के पातिव्रत्य के प्रभाव से ही शास्त्रों में कहा गया है किः—

अर्द्धं भार्य्या मनुष्यस्य भार्य्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्य्यावन्तः क्रियावन्तो भार्य्यावन्तः श्रियाऽन्विताः ॥
सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः।
पितरो धर्म्मकार्य्येषु भवन्त्यार्त्तस्य मातरः ॥

संसार में स्त्री पुरुष की अर्द्धाङ्गिनीस्वरूपिणी व परम मित्ररूपा है। जिनके भार्य्या है उन्हींको सब धर्म्मकार्य्यों में सफलता व श्रीवृद्धि हुआ करती है। एकान्त में प्रियवादिनी सखा, धर्म्मकार्य्यों में पिता के सदृश सहायता देनेवाली और रोगादि क्लेशों के समय माता की तरह शुश्रूषा करनेवाली भार्य्या ही हुआ करती है। दुःखमय संसार में गृहस्थ पुरुषों को यदि कोई गार्हस्थ्य-शान्ति है तो यही है कि उनके घर में उनकी सम्पत्ति के समय अधिकतर आनन्ददायिनी और विपत्ति के समय पर अर्द्धांशभागिनी-

रूप से विपत्ति के भार को कम करके हताशहृदय में आशामृत-सिञ्चनकारिणी सहधर्म्मिणी है जो कभी स्वप्न में भी परपुरुष को नहीं जानती है; परन्तु विधवा-विवाह के प्रचार के द्वारा पुरुष के हृदय में बद्धमूल यह आशालतिका दग्ध होकर हृदय को भीषण मरुभूमिरूप में परिणत कर देगी क्योंकि पुरुष के चित्त में सदा ही यह सन्देह उत्पन्न होता रहेगा कि "न जाने यह मेरी स्त्री मुझे मारकर दूसरे से विवाह करलेवे क्योंकि स्त्रीप्रकृति नवीन नवीन पुरुष को चाहनेवाली है, विधवा-विवाह के प्रचार से नवीन नवीन पुरुष प्राप्त करना धर्म्मरूप होगया इसलिये वह क्यों मेरे जैसे पुराने के पास रहेगी, अनेक दिनों का सम्बन्ध होने के कारण मैं पुराना होगया हूँ, मेरा शरीर भी नाना कारणों से उसकी पूर्णतृप्ति करने लायक नहीं रह गया है" इत्यादि इत्यादि । और इस प्रकार की चिन्ता उस दशा में स्वाभाविक भी है क्योंकि विधवा-विवाह की आज्ञा को धर्म्म कहकर प्रचार करने से स्त्रीजाति के चित्त से सतीत्व का संस्कार ही नष्ट होजायगा जिस से एकपति में ही संयमपूर्व्वक नियुक्त रहने की कोई आवश्यकता स्त्रियाँ नहीं समझेंगी और इसका यही फल होगा कि स्त्रीजाति की स्वाभाविक कामपिपासा व नवीन नवीन पुरुषभोग-प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती होकर स्त्री-चित्त की सत्ता को नाश करदेगी । और जहां एक बार सतीत्व का बन्ध टूट गया, फिर कहना ही क्या है ? उसे कभी रोक नहीं सकते । सिंह को नररक्त का स्वाद मिलने पर उसकी मनुष्य मारने की प्रवृत्ति कभी नहीं नष्ट होसकती है । अतः इस प्रकार की आज्ञा देने का यही फल होगा कि गृहस्थाश्रम में बड़ी भारी अशान्ति फैलेगी, गृहस्थाश्रम श्मशान हो जायगा, उसकी गृहलक्ष्मी अपने स्वरूप को छोड़कर व पिशाचिनी बनकर उसी श्मशान में नृत्य करेगी, प्रेम की मन्दाकिनी शुष्क हो जायगी, काम का हुताशन भीषणरूप से जलने लग जायगा और पति का पवित्र देह उसी हुताशन में आहुतिरूप हो जायगा । संसार में थोड़ी थोड़ी बात पर ही लड़ाई होगी, लड़ाई में दाम्पत्यप्रेम नष्ट हो जायगा, पति सदा ही स्त्री से डरने लगेंगे, "क्या जाने कब मुझे मार न देवे, मेरा शरीर कुछ वृद्ध होगया है, बहुत सुन्दर भी नहीं है, मैंने आज धमकाया था, उसको

क्रोध तो नहीं आगया, शायद क्रोध करके मुझे रात को मार न दे, किसी दूसरे से गुप्त प्रेम करके मुझे दुग्ध के साथ जहर देकर मार न डाले क्योंकि मेरे से उसका चित्त नहीं भरता है, मैं पुराना व बुड्ढा होगया हूँ" इत्यादि इत्यादि सब दुर्दशाएं गृहस्थाश्रम में होने लग जायंगी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। पुरुष को सामान्य रोग होते ही वह आधे रोग में चिन्ता ही से पूरा मर जायगा क्योंकि उधर तो आठगुणी काम की अग्नि निशिदिन आहुति के लिये लहलहाती है और इधर रोग से विषय करने की शक्ति कम होगई है अतः इस दशा में व्यभिचार का भय व मार डाले जाने का भय सदैव पुरुष को सताया करेगा और वह सामान्य रोग से ही दुश्चिन्ता के कारण मर जायगा, सब स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी होजायँगी पति की बात नहीं सुनेंगी, पति को रोटी मिलनी कठिन हो जायँगी, वे कुछ नहीं कह सकेंगे क्योंकि जहां कुछ कहें कि वहीं मरने का डर, विष का डर और हत्या का डर लगेगा, वह स्त्री नाराज़ होकर सब कुछ कर सकती है, अन्य पुरुष से मिलकर उसे मार डाल सकती है क्योंकि तब तो अन्य पुरुष से मिलना धर्म्म होजायगा। यही सब विधवा-विधवा का भारत को श्मशान बनानारूप विषमय फल है जिसको विचारवान् व दूरदर्शी पुरुष विचार कर देखने से अक्षरशः सत्य जान सकेंगे। क्या यही सब भारतवर्ष की उन्नति का लक्षण है ? इसी प्रकार करने से भारतवर्ष की उन्नति होगी ? यही सब आर्य्यत्व का लक्षण है ? समुद्र के गर्भ में डूबजाय वह भारत और नष्ट हो जाय वह आर्य्यजाति जिसमें अपने आर्य्यभाव को नष्ट करके इस प्रकार के अनार्य्य आचार को ग्रहण करना ही उन्नति का लक्षण हो। प्रमादी हैं वे लोग जो इन सब विषयों को बिना सोचे ही पवित्र आर्य्य-जाति के मौलिकभावों के उड़ा देने में अपना पुरुषार्थ और देश की उन्नति समझते हैं। उन्नति अपने जातिगत संस्कारों की उन्नति से हुआ करती है, अपनी सत्ता को नष्ट करके नहीं हो सकती है। भारत यूरोप होकर उन्नत नहीं हो सकता है, आर्य्य अनार्य्य होकर उन्नत नहीं होसकते हैं और आर्य्य-सतियाँ बिलायती मेम बनकर उन्नत नहीं होसकती हैं; परन्तु सीता सावित्री बनकर ही उन्नत होसकती हैं, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इन्हीं सब कारणों से मनुजी ने स्त्री के लिये द्वितीयवार विवाह मना किया है। यथाः—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥

पैत्रिकसम्पत्ति एक ही बार विभक्त होती है; कन्या एक ही बार पात्र में दान की जाती है और दान एक ही बार सकल वस्तुओं का हुआ करता है और सत्पुरुष इन तीनों को एक ही बार करते हैं पहले ही मनुजी का मत कहा गया है कि:—

न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः।

विवाहविधि में विधवा का विवाह कहीं नहीं बताया गया है। ऐसा कहकर मनुजी, वेद में विधवा-विवाह लिखा है कि नहीं इसकी मीमांसा करते हैं। यथाः—

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।
नाऽकन्यासु कचिन्नृणां लुप्तधर्म्मक्रिया हि ताः॥
पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥

विवाह के लिये जितने वैदिक मन्त्र मिलते हैं सभी कन्या अर्थात् पहले से अविवाहिता स्त्री के लिये प्रयुक्त हैं; एक बार विवाहिता स्त्री में वे सब मन्त्र नहीं लगाये जासकते हैं क्योंकि वे इस प्रकार के कार्य्य से बहिर्भूत हैं। वैवाहिक मन्त्र सभी भार्य्यापन के निश्चय करनेवाले हैं और इस प्रकार का निश्चय सप्तपदीगमन के पश्चात् होता है। मनुजी के इस प्रकार के सिद्धान्त से यही बात स्पष्ट होती है कि वेद में विधवा-विवाह की आज्ञा कहीं नहीं दीगई है। ऐसी आज्ञा वेद कभी देही नहीं सकते हैं क्योंकि वेद की ही आज्ञानुसार कन्या का दान होता है। वैवाहिकमन्त्रों से यही बात स्पष्ट होती है। सब स्मृति और मनुजी भी इसमें सहमत हैं। देय वस्तु एक ही बार दीजाती है। दी हुई वस्तु उठाकर दूसरेको देना धर्म्म व विचार से विरुद्ध कार्य्य है। समस्त स्मृतिकार व मनुजी ने यह बात लिखी है और सभी गृहस्थ लोग जानते हैं कि हिन्दुजाति में विवाह के अनन्तर स्त्री का गोत्र तक बदलकर पति के गोत्र की प्राप्ति स्त्री को होता है और तदनन्तर

श्राद्ध, तर्पण, देवकार्य्य आदि सभी पति के गोत्र से होते हैं। ऐसी दशा में दत्ता स्त्री का पुनर्द्दान कैसे होसक्ता है और वेद भी इस अधर्म्म के लिये कैसे आज्ञा देसकते हैं सो बुद्धिमान मनुष्यमात्र ही सोच सकेंगे। अर्व्वाचीन पुरुषों ने मन्त्रों का मिथ्या अर्थ करके ऐसी कल्पना की है। वेद में ऐसी आज्ञाएँ कभी नहीं होसकती हैं क्योंकि मनुसंहिता में लिखा है किः—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्म्मो मनुना परिकीर्त्तितः।
स सर्व्वोऽभिहितो वेदे सर्व्वज्ञानमयो हि सः॥

जो कुछ धर्म्म मनुजी ने कहा है सभी वेदानुकूल धर्म्म हैं क्योंकि भगवान् मनु सर्व्वज्ञ हैं इसलिये दत्ता कन्या का पुनर्द्दान व विधवा का विवाह जब मनुजी ने निषेध किया है तो वेद में इसके लिये आज्ञा कभी नहीं होसकती है। पातिव्रत्य की महिमा अथर्व्व आदि श्रुतियों में कैसी कीर्त्तन कीगई है सो पहले ही कहागया है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

अब जो वाग्दत्ता कन्या के विवाह का विषय है सो इस विषय में भी मनुजीने स्पष्ट विवाह नहीं लिखा है। यथाः —

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥
यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्।
मिथो भजेताऽऽप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ॥

यदि विवाह के पहले वाग्दत्ता कन्या के पति की मृत्यु हो तो इस नियमानुसार देवर के साथ उसका संसर्ग होसकता है कि यथाविधि इस प्रकार की स्त्री को प्राप्त करके देवर सन्तान होने तक प्रतिऋतु में उससे संसर्ग करे; परन्तु वह स्त्री शुभ्र वस्त्र पहने हुई व शुचिव्रता होनी चाहिये। शुभ्र वस्त्र पहनना व शुचिव्रत होना विधवा का धर्म्म है, सधवा का नहीं है। अतः इस प्रकार की आज्ञा के द्वारा मनुजी वाग्दत्ता का विवाह नहीं बता रहे हैं परन्तु केवल सन्तानोत्पत्ति करना ही बतारहे हैं। अधिकन्तु यदि कोई मनुष्य ऊपर के श्लोकों से वाग्दत्ता का विवाह समझलेवे तो इस सन्देह के निराकरणार्थ मनुजी ने पुनः तीसरे श्लोक में कहा है किः—

न दत्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ।
दत्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषाऽनृतम् ।।

एक बार वाग्दान करके ज्ञानी लोगों को अपनी कन्या को अन्य पात्र में समर्पण नहीं करना चाहिये क्योंकि एक पुरुष को दान करना अङ्गीकार करके दूसरेको देने पर समस्त संसार को प्रतारणा करने का पाप होता है । मनुजी की यह आज्ञा उत्तम कोटि की है क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि:—

यद्यन्मनुरवदत्तत्तदेव भेषजम् ।

जो कुछ मनुजी ने कहा है, मनुष्यों के लिये वह सब ही कल्याणकर है । इसलिये उनकी आज्ञा को मानना ही वेदानुकूल तथा सर्व्वथा आर्य्य-भावयुक्त है । परन्तु भिन्न भिन्न देशकाल के विचार से अन्यान्य स्मृतियों में कहीं कहीं अनुकल्प भी देखने में आता है । उनमें मध्यम व अधम कोटि की भी आज्ञाएँ मिलती हैं तदनुसार वाग्दत्ता कन्या का अन्य पात्र में समर्पण भी माना जाता है । उनका यह सिद्धान्त है कि मन्त्रसंस्कार के अनन्तर सप्तपदीगमन होने से ही जब कन्या पर पूर्णतया वर का अधिकार होता है तो केवल वाग्दत्ता होने से पूरा दान नहीं हुआ अतः उसका विवाह होसक्ता है यह विचार कुछ स्थूलभावमूलक है । मनुजी का विचार स्थूल सूक्ष्म दोनों भावों को साथ लेकर है इसलिये मनुजी ने वाग्दत्ता तक का विवाह निषेध किया है और अन्य महर्षियों ने वाग्दत्ता का पुनर्द्दान विधान किया है । यथा-वशिष्ठसंहिता में लिखा है कि:—

अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेताऽथो वरो यदि ।
न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा ।।
यावच्चेदाहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता ।
अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा ।।

यदि ऐसा हो कि केवल जल से या वाक्य से दानमात्र हुआ है परन्तु मन्त्रों के द्वारा संस्कार नहीं हुआ है तो इस दशा में वर की मृत्यु होने से वह कन्या पिता की ही रहेगी । इसलिये मन्त्रसंस्कृत न होने के कारण वह कन्या अन्य पात्र में दी जासकती है क्योंकि ऐसी अवस्था में वाग्दत्ता

कन्या और अवाग्दत्ता कन्या दोनों ही बराबर हैं । इस प्रकार वशिष्ठादि महर्षियों ने वाग्दत्ता कन्या के विवाह की आज्ञा दी है और मनुजी ने मना किया है । यह श्रेष्ठकल्प व अनुकल्प का विचार है । यथा-दृष्टान्तरूप से समझ सकते हैं कि यदि किसीने किसीको धन देना अङ्गीकार किया उसके बाद जिससे अङ्गीकार किया था उसकी मृत्यु हो जाय तो सर्व्वोत्तम मनुष्य वही होगा जो दूसरेके लिये संकल्प किये हुए उस धन को अपने काम में नहीं लावेगा; परन्तु इतना ऊंचा सिद्धान्त करनेवाले लोग संसार में विरले ही होते हैं और साधारणतः यही होता है कि जब लेनेवाला मर गया है तो उस धन को अन्य किसीको दे दिया जाय । वाग्दत्ता के दान होने या न होने के विषय में अन्यान्य महर्षि व मनुजी के मत में भेद होने का कारण भी इसी प्रकार का है । परन्तु वाग्दत्ता के विषय में मतभेद होने पर भी मन्त्रसंस्कृता विधवा के विवाह के विषय में सभी महर्षियों ने एकवाक्य होकर विरुद्ध मत दिया है । एकपतिव्रत के विषय में अनेक अनेक वर्णन पहले किया गया है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है ।

किन्हीं किन्हीं अर्व्वाचीन पुरुषों का यह विचार है कि जब पाश्चात्य अनेक जातियों में विधवा-विवाह प्रचलित रहने पर भी वहां उन्नति देखने में आती है और बड़े बड़े वीर भी वहां उत्पन्न होते हैं तो पातिव्रत्य के नष्ट होने से भारत में उन्नति क्यों न होगी ? इस प्रकार की शङ्काओं का उत्तर वर्णधर्म्म के अध्याय में कई वार दिया गया है । प्रत्येक जाति अपने अपने संस्कार पर ही उन्नत होसक्ती है, संस्कार को नष्ट करके उन्नत नहीं हो सकती है । किसी नवीन संस्कारवाली नवीन जाति को उन्नत करना और बात है और किसी पुराने संस्कारों के बिगड़ जाने से बिगड़ी हुई जाति को उन्नत करना और बात है । नवीन जाति नवीन संस्कारों के साथ उन्नत हो सकती है; परन्तु पुराने संस्कारवाली जाति पुराने बिगड़े हुए संस्कारों को सुधार कर ही उन्नत हो सकती है । उन संस्कारों को नष्ट कर देने से वह जाति मर जाती है, उन्नत नहीं होती है । अतः जिस देश की स्त्रियों में पातिव्रत्य का संस्कार नहीं है वह दूसरे संस्कारों से दूसरी तरह से उन्नत हो सकती है; परन्तु जहां पर पातिव्रत्य का संस्कार अनादि काल से इस प्रकार व्याप्त है कि इसके बिना स्त्री का स्त्रीत्व ही व्यर्थ होता

है वहां इस संस्कार के भ्रष्ट करने से स्त्रियों की सत्ता नाश हो जायगी जिससे जाति की भी सत्ता नाश हो जायगी। यह बात सर्व्वथा सत्य और विज्ञानसिद्ध है कि जहाँ पर क्रिया है वहाँ पर प्रतिक्रिया भी होती है परन्तु जहाँ क्रिया ही नहीं है वहाँ प्रतिक्रिया नहीं हो सकती है। जहाँ प्रकृति जितनी सूक्ष्म है वहाँ प्रतिक्रिया भी उतनी ही सूक्ष्म व अधिक हुआ करती है। जड़प्रकृति या स्थूलप्रकृति में प्रतिक्रिया भी स्थूल व कम होती है। पातिव्रत्य सूक्ष्मप्रकृति का विषय है। जहाँ यह प्रकृति विकाश को प्राप्त है वहाँ इसके विरुद्ध कार्य्य की प्रतिक्रिया से धक्का भी लगता है; परन्तु जहाँ ऐसी सूक्ष्मप्रकृति अभी तक विकाश को ही प्राप्त नहीं हुई है वहाँ प्रतिक्रिया क्या होगी और धक्का ही वा क्या लगेगा? आर्य्यजाति के सिवाय और जातियों में पातिव्रत्य की सूक्ष्मप्रकृति अभी विकाश को भी नहीं प्राप्त हुई है इसलिये वहाँ पर प्रतिक्रिया न होने से हानि भी नहीं होती है। परन्तु आर्य्यजाति की स्त्रियों में इस सूक्ष्मप्रकृति का पूर्ण विकाश है अतः इस पर चोट लगने से इसका धक्का जाति पर बहुत लगेगा जिससे आर्य्यजाति रसातल को चली जायगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसमें सूक्ष्म विचार और भी गम्भीर है। सतीत्व के पूर्ण आदर्श से रहित धर्म्ममार्ग पृथिवी की अन्य मनुष्यजातियों में प्रचलित रहने पर भी वहाँ जाति की कुछ काल तक सुरक्षा व जातिगत जीवन की साधारण उन्नति होना सम्भव है; परन्तु नारीजाति में आदर्श सतीधर्म्म का विकाश न रहने से न उस जाति का आर्य्यत्व (श्रेष्ठत्व) रह सकता है, न उस जाति में पूर्ण ज्ञानयुक्त मानवों का जन्म हो सकता है और न वह जाति चिरस्थायी हो सकती है। इस विज्ञान का विस्तारित विवरण अगले अध्यायों में वर्णन करेंगे। प्रत्येक जाति की उन्नति अपने माता पिता की उन्नति से ही हुआ करती है। जिस जाति में माता व पिता का जो संस्कार है वह जाति वैसी ही बनती है, अन्यथा नहीं बन सकती है। आर्य्यजाति के माता पिता में जो भाव है उसीसे आर्य्यजाति बन सकती है। आर्य्यपिता का आर्य्यत्व आदिपुरुष महर्षियों की ज्ञानगरिमा में और आर्य्यमाता का आर्य्यत्व एकपतिव्रताधर्म्म की पूर्णता में है। इन दोनों भावों को तिलाञ्जलि देकर आर्य्यजाति कभी उन्नति को प्राप्त नहीं कर सकती है। आर्य्य अ। य्य

होकर उन्नति नहीं कर सकते हैं । हिन्दुस्तान यूरोप होकर उन्नति नहीं कर सकता है । आर्य्यमाताएं सीता सावित्री होकर ही वीर पुत्र उत्पन्न कर सकती हैं; मेम बनकर वीर पुत्र कभी नहीं उत्पन्न कर सकती हैं । उन्हें मेम बनाने का प्रयत्न करने से पातिव्रत्य का संस्कार बिगड़कर उनकी सत्ता नाश हो जायगी जिससे उनके गर्भ से नालायक, भीरु, चरित्रहीन, दुर्ब्बल व नीच पुत्र उत्पन्न होंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है । अतः आर्य्यजाति के मौलिकभावों को भूलकर अर्व्वाचीन पुरुषों को इस प्रकार भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये और अज्ञान के मद से संसार में अनर्थ फैलाना नहीं चाहिये । हाय ! ! ! इस बात को कहते हुए लज्जा मालूम होती है और चिन्ता करते हुए हृदय विदीर्ण होता है कि जहां की स्त्रियां पति की मृत्यु होने से अपना शरीर धारण करना व्यर्थ समझकर हँसती हंसती ज्वलन्तचिता में प्राण छोड़ती थीं वहीं पर पति के मरने के बाद ब्रह्मचारिणी होकर शरीर धारण करना तो दूर रहा, कामवृत्ति के वशीभूत होकर अन्य पुरुष के सङ्ग की इच्छा होती है और उसके लिये वेद और स्मृतियों से प्रमाण ढूंढ़े जाते हैं ? इससे अधिक आर्य्यजाति के घोर अधःपतन का प्रमाण और क्या होगा धिक्कार है उन लोगों की बुद्धि व विचार पर जो इतने अधःपतित होने पर भी आर्य्यत्व के डिण्डिम बजाने में संकुचित नहीं होते हैं ।

चिकित्साशास्त्र का यह सत्य सिद्धान्त है कि जिस स्त्री के चित्त में गर्भवती दशा में बहुत काम हो उसके स्तन का दूध बिगड़ जाता है । उस दूध को पीकर सुपुत्र नहीं होसकता है । गर्भावस्था में माता के चित्त में जो भाव रहता है उसका प्रभाव सन्तान पर कितना पड़ता है इसका वर्णन पहले ही किया गया है और उसमें पुराणादि का भी प्रमाण दिया गया है । विधवा-विवाह के प्रचार से पातिव्रत्यधर्म्म का नाश होकर स्त्रियों के चित्त में कामाग्नि भीषणरूप से प्रज्वलित होगी जिसका फल यह होगा कि गर्भावस्था में भी स्त्री से पुरुषसंसर्ग त्याग नहीं किया जायेगा और रजोधर्म्म उस समय न होने से प्राकृतिक प्रेरणा कुछ कम होने पर भी अभ्यास व संस्कार बिगड़ जाने के कारण मानसिक कामसंकल्प तो अवश्य ही रहेगा जिसका फल यह होगा कि अनार्य्य व अयोग्य प्रजा उत्पन्न हो भारत की सत्ता नाश

कर देगी । भारत में प्रकृति की पूर्णता होने से यहां पर प्रकृति की अंशस्वरूपिणी माताओं में भी पातिव्रत्य की पूर्णता है और इसीलिये श्रीभगवान् के पूर्णावतार कृष्णचन्द्र, रामचन्द्र आदि भी यहाँ पर लीला करते व धर्म्म का उद्धार करते आये हैं; परन्तु विधवा-विवाह के प्रचार से राम व कृष्ण की लीला नष्ट होकर भारत में भूत, प्रेत, पिशाचों की लीला होगी और पृथवीभर में अमरपुर भारत, प्रेतपुर होजावेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। केवल इतना ही नहीं विधवा-विवाह के प्रचार से वर्णसङ्कर प्रजा घर घर में उत्पन्न होगी क्योंकि इस प्रकार प्रचार का यह विषमय फल यह होगा कि स्त्रियों का धैर्य्यगुण पूर्ण नष्ट होकर पुरुष से अष्टगुण काम की अग्नि बढ़ जायगी जिससे एक पुरुष उनकी कामाग्नि को कदापि शान्त नहीं कर सकेगा । इस तरह से अतृप्ता स्त्रियाँ परपुरुष से अवश्य ही सम्बन्ध करेंगी जिसके कारण भारतवर्ष में वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होगी । मनुजी ने कहा है कि :—

अन्नादेर्भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्य्याऽपचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ॥

जो भ्रूणहत्या करनेवाले का अन्न खाता है उसको वह पाप स्पर्श करता है । व्यभिचारिणी स्त्री का पाप पति को स्पर्श करता है और शिष्य व याज्य का पाप गुरु को स्पर्श करता है एवं चोर का पाप राजा को स्पर्श करता है। अतः विधवा-विवाह के प्रचार से संसार में पाप की वृद्धि व उसीसे नाश होगा । द्वितीयतः इस प्रकार वर्णसङ्कर प्रजा होने से पितरों का पिण्ड-लोप होगा और जैसा कि श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है, पितरलोग अधः-पतित होंगे । तर्पण आदि के लुप्त होने से नित्य पितरों की भी संवर्द्धना बन्द होजायेगी जिसका फल यह होगा कि संसार की स्थल उन्नति पितरों के अधिष्ठान से होने के कारण उनकी संवर्द्धना के अभाव से देश की स्थूल-उन्नति में हानि होगी; अर्थात् देश में दुर्भिक्ष, महामारीभय आदि सदा ही प्रबल होकर मनुष्यों की आधिभौतिक शान्ति को नष्ट कर देगा । स्वर्णप्रसविनी भारतमाता आज जो दुर्भिक्ष के कराल ग्रास में पतित होरही है व चारों ओर महामारी का आर्त्तनाद दिङ्मण्डल को मुखरित कर रहा है इसमें अर्व्वाचीन पुरुषों के दोष से भारत की नारियों में पातिव्रत्य की

न्यूनता होना भी एक कारण है। आज चित्तौड़ के दृष्टान्त को लोग भूल रहे हैं कि आर्य्यसती देश व धर्म्म की रक्षा के लिये अपने हाथ से युद्ध सज्जा में सज्जित करके वीरदर्प के साथ रणाग्नि में शरीर की आहुति देने के लिये अपने पति को कैसे भेजसकती है और पति की पवित्र मृत्यु के अनन्तर अपने सतीत्व पर कोई कलङ्क न आवे इसलिये धक् धक् जलती हुई अग्निशिखा में शरीर को विसर्ज्जन करके पतिलोक में जाकर अनन्त सुखों का भोग किस प्रकार कर सकती है। इस महान् तत्त्व को पश्चिमी विद्या से परलोक पर विश्वासहीन पशुभावप्रयासी अर्व्वाचीन लोग भूल रहे हैं; परन्तु विचार करने पर यही सिद्धान्त होगा कि भारतवर्ष में यथार्थ गार्हस्थ्यसुख व उन्नति तभी थी जब कि भारत में सतीत्व की गौरवपताका चारों ओर फैली हुई थी। भारत अपने इस प्राचीन मौलिक गौरव पर ही पुनः प्रतिष्ठा लाभ कर सकता है अन्यथा भारत को अपने आदर्श से गिरा देने पर इसकी कुछ भी उन्नति नहीं हो सकती है।

अदूरदर्शी किसी किसी मनुष्य ने करुणा का पक्ष लेकर और किसी किसी ने सब हिन्दुसन्तानों की संख्यावृद्धि का पक्ष लेकर विधवा-विवाह का मण्डन करना प्रारम्भ कर दिया है। पहले मतवालों का यह विचार है कि विधवाएँ पतिप्रेम से च्युत होकर बहुत ही कष्ट पाती हैं इसलिये उन्हें इस कष्ट से बचाना चाहिए सो विवाह कर देने पर उनका वह कष्ट दूर हो जायगा। इस प्रकार का विचार सर्व्वथा भ्रमयुक्त है क्योंकि प्रारब्ध व भवि-ष्यत् कर्म्म पर संयम किये बिना ही यह विचार किया गया है। प्रकृति के राज्य में धर्म्म की नियामिका शक्ति के द्वारा ही सब कार्य्य होता है और कोई भी कार्य्य नियम से विरुद्ध नहीं होता है, नियम के बिना एक पत्ती भी नहीं हिल सकती है। अतः जिस संसार में प्रत्येक कार्य्य के साथ इतना कारण लगा हुआ है वहां स्त्री व पुरुष के सांसारिक भोग के मूल में कोई भी कारण नहीं है ऐसा कैसे हो सकता है? योगदर्शन में लिखा है कि :—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः ।

दृष्ट व अदृष्ट कर्म्मके मूलमें रहने से उनके फलरूप से जीव को जाति, आयु व भोग मिलते हैं। कर्म्म मूल में न रहे बिना कुछ नहीं हो सकता है। अतः स्त्री का सधवा रहना या विधवा हो जाना दोनों के ही मूल में पूर्व्व

कर्म्म विद्यमान हैं इसलिये विधवा-विवाह के द्वारा उन कर्म्मों पर हस्ताक्षेप न करके जिससे वैधव्य-उत्पन्नकारी कर्म्म ही उत्पन्न न हो ऐसी युक्ति ही विचार व धर्म्म होगा। संसार में सुख दुःख क्या वस्तु है और विषयबद्ध सधवा स्त्री से निर्विषय विधवा स्त्री का जीवन दुःखमय है या नहीं इस का विचार आगे किया जायगा। परन्तु यदि यही मान लिया जाय कि विधवा पतिसङ्ग से च्युत होकर दुःखिता रहती है तो विवाह करादेने से उस दुःख की निवृत्ति कैसे होगी? करुणा अच्छी वृत्ति होने पर भी विचार-हीन करुणा कहीं कहीं अनर्थ उत्पन्न करती है इससे सभी वृत्तियों का प्रयोग विचार के साथ होना ही धर्म्म है। सुख दुःख के लक्षण के विषय में गीताजी में बताया गया है कि:—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

जो वस्तु पहले सुखकर प्रतीत हो और आगे जाकर महान् दुःख देवे वही दुःखकर है और जो वस्तु पहले दुःखकर प्रतीत होने पर भी आगे जाकर अमृत के तुल्य सुख देवे वही सुखकर है। श्री भगवान् की आज्ञानुसार सुख दुःख का यही लक्षण है। अतः यदि विधवा का विवाह करा देने से उसको परलोक में या परजन्म में सुख प्राप्त होगा तो करुणापक्षपाती मनुष्यों की युक्ति मानी जा सकती है; परन्तु यदि विधवा को पुनर्विवाह से इस लोक में थोड़ासा तुच्छ विषयसुख मिलने पर भी इसके परिणाम से परलोक व पर जन्म में अत्यन्त दुःख की प्राप्ति होगी तो इसप्रकार का विधवा-विवाह श्रीगीताजी के सिद्धान्तानुसार दुःख ही कहा जायगा, सुख नहीं कहा जायगा। मनुजी ने विधवा के पुरुषान्तर ग्रहण में महान् परलोक दुःख लिखा है। यथाः—

व्यभिचारात्तु भर्त्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥

परपुरुष के संसर्ग से इहलोक में स्त्री निन्दिता होती है और परजन्म में

श्रृगालयोनि को प्राप्त होती है एवं बहुत प्रकार के कुष्ठ आदि पापरोगों से दुःख पाती है । आस्तिक व नास्तिक के लक्षण के विषय में शिवपुराण में लिखा है कि :—

यस्येहाऽस्ति सुखं दुःखं सुकृतैर्दुष्कृतैरपि ।
तथा परत्र चाऽस्तीति मतिरास्तिक्यमुच्यते ॥

जिस प्रकार पुण्य व पाप से इहलोक में सुख व दुःख होता है ऐसा ही परलोक में भी पुण्य व पाप से सुख व दुःख होता है इस प्रकार का विश्वास ही आस्तिकता का लक्षण है । कैय्यट ने भी कहा है कि :—

परो लोकोऽस्तीति मतिर्यस्य स
आस्तिकस्तद्विपरीतो नास्तिकः ।

परलोक के अस्तित्व पर विश्वास करनेवाला ही आस्तिक और उससे विपरीत नास्तिक है । अतः मनुजी की उक्त आज्ञा आस्तिक आर्य्यजाति को अवश्य ही माननीय है इसलिये जब विधवा का पुरुषान्तरग्रहण इहलोक में तुच्छ कामसुखप्रद होने पर भी परलोक में भीषण दुःखप्रद है तो इसको दुःख ही कहना चाहिये । अतएव करुणापक्षपाती अर्व्वाचीन पुरुषों की युक्ति भ्रमपूर्ण है । और भी गूढ़ विचार करने पर यह सिद्धान्त निकलेगा कि पुरुषान्तरग्रहण से केवल परलोक में पापरोगादि से पीड़ा ही नहीं होती है; अधिकन्तु इस प्रकार की विधवा को जन्म जन्म वैधव्ययन्त्रणा नहीं छूटती है । इसका प्रमाण भी कहीं कहीं मिलता है । सती अनसूया ने सीता के सामने पातिव्रत्य की महिमा वर्णन करते समय ऐसा ही कहा था । यह बात सत्य भी है क्योंकि प्रकृति के राज्य में क्रिया जैसी होती है, उस की प्रतिक्रिया भी वैसी ही होती है । यथा—वाक्संयम करने से परजन्म में मनुष्य अच्छा वक्ता होता है, वृथा अर्थ (धन) बिगाड़ने से परजन्म में दरिद्र होता है और वृथा जल का अपचय करने से परजन्म में मरुदेश में जन्म होता है । ये सब प्रकृतिराज्य में क्रिया के अनुकूल प्रतिक्रिया के ही दृष्टान्त हैं । इसी प्रकार प्रारब्धकर्म्म के फल से जो वैधव्य प्राप्त हुआ है, उसको उसी दशा में रहकर अपना व्रत पालन करते हुए समाप्त करदेना ही प्रकृति के अनुकूल व परलोक में कल्याणप्रद है जिस व्रतको कि पातिव्रत्य-

धर्म्म कहते हैं । परन्तु पूर्व्वकर्म्मानुसार प्राप्त उस प्राकृतिक दशा को तोड़कर पुनर्विवाह करने से प्रकृति पर विरुद्ध क्रिया उत्पन्न होगी जिसकी प्रतिक्रिया भी ऐसी ही होगी अर्थात् वैधव्य के तोड़ने के लिये विपरीत क्रिया प्रकृतिराज्य में उत्पन्न करने से उसकी प्रतिक्रिया में पुनः पुनः वैधव्य होगा व उसके अनन्त दुःख भोगने पड़ेंगे, यही विज्ञानसिद्ध सत्य है अतः इसमें सन्देह नहीं हो सकता है इस कारण विधवाओं पर दयाकर के पुरुषान्तरग्रहण करा देना दया नहीं है, वह निर्द्दयता, अदूरदर्शिता, प्रकृति पर बलात्कार और इसीलिये महापाप हैं ।

विधवा-विवाह के मण्डन में द्वितीय युक्ति यह दी जाती है कि हिन्दुजाति की संख्या बहुत घट रही है इसलिये विधवा स्त्रियाँ खाली क्यों बैठी रहें, उनसे बच्चे पैदा कराकर हिन्दुओं की संख्या बढ़ानी चाहिये । बड़े ही आश्चर्य्य और खेद की बात है कि आर्य्यजाति अपनी जातीयता के सब लक्षणों को भूलकर केवल संख्या पर ही आगई है । संख्या बढ़ना या घटना जाति का लक्षण नहीं है; परन्तु जातीयता का दृढ़ रहना ही जाति का लक्षण है । यदि संख्या बहुत बढ़जाय परन्तु जातीयता नष्ट होजाय या दुर्ब्बल होजाय तो उससे जाति की उन्नति कभी नहीं हो सकती है और यदि संख्या घट जाय परन्तु जातीयता का बीज नष्ट न हो तो इससे जाति की उन्नति है क्योंकि उस प्रकार बीज से पुनः जाति बढ़ सकती है । इस विषय की विस्तारित मीमांसा अगले अध्यायों में की जायेगी । आर्य्यजाति अनेक करोड़ों की संख्या में होजाय यह बड़ी अच्छी बात है परन्तु इस प्रकार संख्या बढ़ने में यदि आर्य्यत्व ही नष्ट होजाय, आर्य्य अनार्य्य होजायं तो ऐसी संख्यावृद्धि से जाति की अवनति ही नहीं है बल्कि नाश है, यह उन्नति नहीं है । हम असंख्य होजायँ परन्तु हमारा "हमपन" ही मरजाय तो इस प्रकार अनेक होने से क्या लाभ है ? केवल संख्या बढ़ाना ही उन्नति का कारण नहीं होता है । भारतवर्ष में भेड़ बकरों की संख्या अनेक है उस से भारत की उन्नति नहीं होती है अतः यथार्थ आर्य्यपुत्र उत्पन्न होने से ही आर्य्यजाति की उन्नति होगी, अन्यथा नहीं होगी । दूसरी सीधी बात यह है कि यदि देश में सैकड़ों वर्णसंकर खच्चर रहें तो थोड़े काल के बाद खच्चर का वंश न चलने से देश खच्चरों से भी रहित होजायगा; परन्तु यदि उसी

देश में थोड़ेसे भी घोड़ों की रक्षा कीजाय तो कालान्तर में देश भर में अच्छे घोड़ों की बहुतायत होजायगी। हिन्दुस्तान यूरोप नहीं है और हिन्दुस्त्रियाँ पश्चिमदेश की स्त्रियाँ नहीं हैं कि जैसे चाहे वैसे सन्तान उत्पन्न करके जाति की उन्नति कर लेवें। पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक जाति अपने जातिगत संस्कारों को उन्नत करके ही उन्नत हो सकती है, अन्यथा नहीं। आर्य्यसतियों में जो पातिव्रत्य का संस्कार विद्यमान है उसको नष्ट करके कोई चाहे कि केवल संख्यावृद्धि द्वारा आर्य्यजाति की उन्नति कर लेवे तो कदापि नहीं हो सकती है। इस गूढ़ विज्ञान के रहस्य को दूरदर्शी विचारवान् पुरुष सोच सकते हैं। पातिव्रत्य के पूर्ण पालन के बिना चाहे अन्य जातियों में और प्रकार की उन्नति हो परन्तु आर्य्यजाति में पातिव्रत्य के बिना सुसन्तान कभी नहीं उत्पन्न हो सकती है क्योंकि यहाँ का संस्कार अन्यरूप होने से प्रतिक्रिया भी उसी प्रकार होगी, अन्यथा नहीं हो सकती है। राजस्थान आदि का इतिवृत्त पढ़ने पर पता लग सकता है कि आर्य्य-नारियों में जब तक पातिव्रत्य का गौरव था तभी तक महाराणा प्रताप जैसे वीरपुत्र भारत में उत्पन्न होते थे। जब से भारतवर्ष में पातिव्रत्य का गौरव कम होने लगा है तभीसे भारतमाता "वीरजननी" होने के सौ-भाग्य से वञ्चित होने लगी है। एक सिंह हजारों भेड़ों को "हुंकार" से मार सकता है; परन्तु लाखों भेड़ उत्पन्न होकर केवल प्रकृति का अन्न-ध्वंस-मात्र करते हैं। आर्य्यमाताओं का सतीत्व नाश करके विधवा-विवाह के द्वारा संख्यावृद्धि करने से भारत ऐसे भेड़ों से ही भर जायेगा, पुरुषसिंह उत्पन्न नहीं होंगे। अतः इस प्रकार की संख्यावृद्धि से हिन्दुजाति की उन्नति कभी नहीं हो सकती है। अल्पबुद्धि मनुष्य भी इस बात को समझ सकते हैं कि यदि मनुष्यसंख्यावृद्धि ही मनुष्यजाति की उन्नति का कारण हो सकता तो चिउंटियों के सदृश असंख्य भारतवासी होने पर भी आत्मो-न्नति के लिये उनको आज स्वल्पसंख्यक, शिक्षित, कर्त्तव्यपरायण, स्व-देशहितैषी और स्वजातिप्रिय अंग्रेजजाति का मुँह ताकना नहीं पड़ता। द्वितीयतः प्रकृति के किसी अङ्ग पर आघात करके दूसरे अङ्ग की उन्नति कभी नहीं होसकती है क्योंकि प्रकृति के अनुकूल चलने से ही धर्म्म होता है, प्रकृतिप्रवाह वा प्राकृतिक नियमों पर धक्का देने से धर्म्म नहीं होता है,

पाप होता है। स्त्रीजाति की उन्नति व मुक्ति जब एकपतिव्रत के द्वारा ही हो सकती है, बहुपुरुषसम्बन्ध से नहीं हो सकती है तो इस प्राकृतिक नियम पर धक्का देकर विधवा-विवाह की आज्ञा प्रचार करने से इसकी प्रतिक्रिया समस्त हिन्दुजाति पर पड़ेगी जिससे समष्टिभूत पाप उत्पन्न होकर हिन्दुजाति को नष्ट कर देगा। हमारा क्या अधिकार है कि अपनी संख्या बढ़ाने के लिये स्त्रीजाति को इहलोक में निन्दनीय, परलोक में दुर्दशाग्रस्त व पुनःपुनः वैधव्यदशा से ग्रसित करावें ? विचारवान् लोग इस बात पर विचार करें। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये अन्य को दुःखभागी करना क्या पाप नहीं है ? क्या इस प्रकार के पाप से हिन्दुजाति रसातल को नहीं जायेगी ? हम ज्ञानी व (Enlightened) बनने का दम्भ रखते हैं और एक स्त्री की सद्गति का उपाय तक हमसे नहीं किया जाता है इससे बढ़कर हमारे लिये लज्जा की बात और क्या होसकती है ? जो लोग, विधवा बहुत बढ़ गई हैं इसलिये विधवा-विवाह कराकर उस संख्या को घटाना चाहते हैं वे भी भ्रान्त हैं क्योंकि इस प्रकार विवाह से विधवाओं की संख्या कम न होकर उलटा जन्म जन्म विधवा होने का उपाय हो जायेगा और संसार में अनाचार, व्यभिचार, दुःख, दारिद्रय, रोग, शोक, सभी बढ़ जायेंगे। इन्हीं सब कारणों से मनुजी ने कहा है कि :—

अपत्यलोभाद्या हि स्त्री भर्त्तारमतिवर्त्तते ।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥
नाऽन्योत्पन्ना प्रजाऽस्तीह न चाऽप्यन्यपरिग्रहे ।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्त्तोपदिश्यते ॥

पुत्र के लोभ से जो स्त्री परपुरुषसम्बन्ध करती है वह इहलोक में निन्दनीया वह पतिलोक से च्युत होती है। पति के सिवाय अन्य पुरुष से उत्पन्न पुत्र के द्वारा स्त्रियों का कोई कार्य्य नहीं होसकता है अथवा सहधर्म्मिणी के सिवाय अन्य स्त्री में उत्पन्न सन्तान द्वारा पुरुष का भी कोई कार्य्य नहीं होता है और किसी शास्त्र में सती स्त्री के लिये द्वितीय पति की आज्ञा नहीं दी गई है। अतः संख्यावृद्धि के लिये विधवा-विवाह करना सर्व्वथा शास्त्र व युक्ति से विरुद्ध है। संख्यावृद्धि माताओं को सच्ची पतिव्रता

बनाकर और स्वयं ब्रह्मचारी व चरित्रवान् बनकर करना ठीक है। उसी से भारत की यथार्थ उन्नति होगी और आर्य्यभाव की प्रतिष्ठा के साथ साथ हिन्दुजाति की संख्या व जातीयता बढ़ेगी।

विधवा-विवाह-मण्डन के विषय में अर्व्वाचीन पुरुषों की तीसरी युक्ति यह है कि विधवा स्त्रियाँ सब व्यभिचारिणी भ्रूणहत्या करेंगी इसलिये विवाह करादेना ही अच्छा है। यह भी युक्ति अदूरदर्शिता व भ्रम से पूर्ण है। अर्व्वाचीन पुरुषों को यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि आदर्श उच्च होने पर तब जाति उन्नत हो सकती है। छोटे आदर्शवाली जाति बड़ी नहीं होसकती है। जो जाति पहले ही से अपनी स्त्रियों को व्यभिचारिणी व भ्रूणहत्या करनेवाली समझती है और इसी कल्पना को ही आदर्श बनाकर उसीके अनुसार धर्म्म की व्यवस्था करने लगती है वह जाति कभी उन्नति को प्राप्त नहीं करसकती है इसलिये चाहे आदर्श की पूर्ण सीमा पर पहुँच न सकें तथापि आदर्श सदा ही ऊंचा रहना चाहिये। हमारी स्त्रियाँ विधवा होते ही भ्रूणहत्या करने लग जायँगी अतः उनको इससे बचाने के लिये सिवाय विवाह करादेने के और कोई भी उपाय नहीं है ऐसी चिन्ता ठीक नहीं है, अधिकन्तु लज्जाजनक है। बल्कि जिससे विधवा का जीवन आदर्शसतीत्वमय हो उसीके लिये उद्योग करना चाहिये।

पहले ही कहा गया है कि स्त्रीजाति में अविद्या का अंश होने के कारण पुरुष से अष्टगुण अधिक काम होने पर भी विद्या के अंश से लज्जा व धैर्य्य बहुत कुछ है अतः विधवा का जीवन इसप्रकार बनादेना चाहिये कि जिससे उनमें अविद्या का अंश नष्ट हो जाय और विद्या का अंश पूर्ण प्रकट हो जाय। आजकल जो विधवाएं बिगड़ती हैं, उनमें शिक्षा व उनके साथ ठीक ठीक वर्ताव का अभाव ही कारण है। विधवा होने के दिन से ही गृहस्थ लोग उनके लिये यह भाव उत्पन्न करने लगते हैं कि संसार में उनके सदृश दुःखी व हतभाग्य और कोई भी नहीं हैं। ऐसा करना सर्व्वथा भ्रमयुक्त है। यह केवल विचार के विरुद्ध ही नहीं है किन्तु शास्त्र के भी विरुद्ध है। आर्य्यशास्त्रों में भोग से त्याग की महिमा अधिक कही गई है। महाभारत में लिखा है कि:—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम् ।।

संसार में कामजनित सुख अथवा स्वर्ग में उत्तम भोगसुख ये दोनों ही वासनाक्षयजनित अनुपम सुख के सोलह भागों में से एक भाग भी नहीं हो सकते हैं । श्रीभगवान् ने गीताजी में कहा है किः—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ।।
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।

विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से जो कुछ सुख होता है वह दुःख को उत्पन्न करनेवाला होने से दुःखरूप ही है और इस प्रकार के सुख आदि अन्त से युक्त व नश्वर हैं इसलिये विचारवान् पुरुष विषयसुख में मत्त नहीं होते हैं । संसार में वही सच्चा सुखी व योगी है जिसने आजन्म काम व क्रोध के वेग क्रोध के वेग को धारण किया है । महर्षि पतञ्जलिजी ने भी परिणाम और ताप आदि दुःख होने से विषयसुख को दुःखमय और निवृत्ति को सुखशान्तिमय कहा है । विधवा का जीवन संन्यासी का जीवन है । इसमें निवृत्ति की शान्ति व त्याग का विमल आनन्द है, फिर विधवा स्त्री हतभागिनी क्यों कही जाती है ? क्या त्याग करना हतभाग्य बनने का लक्षण है ? संन्यासी गृहस्थों के गुरु व आनन्दपदधारी क्यों होते हैं ? जब तक गृहस्थ में रहते हैं तब तक तो आनन्दपदधारी नहीं होते हैं, फिर संन्यास में क्या हुआ कि आनन्दी हो गये ? सोचने से पता लगेगा कि निवृत्ति में ही आनन्द है प्रवृत्ति में नही है त्याग में ही आनन्द है भोग में नहीं है और वासना के क्षय में ही आनन्द है वासना के अधीन बनने में नहीं है । गृहस्थ विषयी होने से दुःखी हैं और संन्यासी विषय त्याग करने से सुखी हैं । जब यही अवस्था विधवा की है तो विधवा हतभागिनी है या वास्तव में उत्तम भाग्यवती है सो विचारशील पुरुष सोच सकेंगे । विधवा का पुरुष के साथ कामभोग छूटगया है इसलिये विधवा दुःखिनी हो गई यह बात बड़ी ही कौतुकजनक है । क्या काम के द्वारा किसीको सुख भी होता है ? आज तक किसीको काम के द्वारा सुख मिला था ? या किसी शास्त्र में

ऐसा लिखा भी है ? गीताजी में काम को नरक का द्वार कहा है, आनन्द का द्वार नहीं कहा है। काम चित्त का एक उन्मादमात्र है। मनुष्य उस उन्माद में फंस जाया करता है; परन्तु फँस जाकर सुखप्रतीति होना और बात है और यथार्थ सुख प्राप्त होना और बात है। कामके द्वारा किसीको सुख नहीं प्राप्त होता है इसको विषयबद्ध गृहस्थ भी स्वीकार करेंगे क्योंकि वे भी चाहते हैं कि वासना छूटकर शान्ति हो जाय; परन्तु पूर्व्वजन्म का संस्कार अन्य होने से वासना छूटती नहीं है इसलिये विषयों में मत्त रहते हैं; अपि च चित्त दुर्ब्बल होने के कारण विषयों में मत्त होने से ही विषय सुखकर हो-जायँगे यह बात कोई नहीं कहेगा; बल्कि विषय छूटजाने पर ही सच्चा सुख होगा यही बात सब लोग कहेंगे। जब विधवा को विषयों को त्याग करके निवृत्ति के परमानन्द प्राप्त करने का मौका मिला है तो विधवा दुःखिनी नहीं है सुखिनी है, हतभागिनी नहीं है परन्तु उत्तम भाग्यवती है और गृहस्थ सधवा स्त्रियों से अधम नहीं है परन्तु उनकी गुरु व पूज्या है क्योंकि संन्यासी गृहस्थों के गुरु व पूज्य होते हैं। आहार,, निद्रा, भय, मैथुन, ये पशु भी करता है, इसमें मनुष्य की विशेषता क्या है ? लाखों जन्म से यही काम होता आया है। यदि विधवा गृहस्थ में रहकर बालबच्चे पैदा करती तो उन्हें लाखों जन्म के किये हुए कामों को और एक बार करती; परन्तु इस में क्या धरा है ? इसलिये अनन्त जन्म तक संसार का दुःख भोगने पर भी विषय-मदोन्मत्त जीव को जो भगवान् का अलभ्य चरणकमल प्राप्त नहीं होता है और जिसके लिये समस्त जीव लालायित होकर संसारचक्र में घटीयन्त्रवत् घूमरहे हैं; उसी चरणकमल में यदि भगवान् ने विधवा को संसार से अलग करके शीघ्र बुलाया है और निवृत्तिसेवन करके नित्यानन्द प्राप्त करने का मौका दिया है तो इससे अधिक सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है ?

जब गृहस्थ में कोई स्त्री विधवा होजाय तो वहाँ के सब लोगों का प्रथम कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि विधवाओं को उनकी अवस्था का गौरव समझा देवें, उनपर श्रद्धा के साथ पूज्यबुद्धि का वर्ताव करें, उनके पास गृहस्थाश्रम के अनन्त दुःख और विषयसुख की परिणामदुःखता का वर्णन करें और साथ ही साथ निवृत्तिमार्गपरायण होने के कारण उनको कितना आनन्द, कितनी शान्ति व कितना सौभाग्य प्राप्त हो सकता

है इसका ध्यान दिलावें एवं उनके भाग्य की अपूर्व्वता व संसारबन्धन मोचन का मौका जो कि उनकी सङ्गिनी गृहस्थ स्त्रियों को न जाने कितने जन्म में जाकर मिलेगा सो उनको इसी जन्म में मिलगया है अतः वे धन्य हैं व पूज्य हैं इस प्रकार का भाव विधवा के हृदय में जमादेवें। ऐसा समझा देने से विधवा को अपनी दशा के लिये दुःख नहीं होगा, अधिकन्तु सुख ही होगा, भोग न मिलने से दुःख नहीं होगा, संन्यासी की तरह त्यागी बनने में गौरव ज्ञात होगा, शम दमादि साधन क्लेशकर व देवपीडन मालूम नहीं होंगे परन्तु संयम व अनन्त आनन्द के सहायक मालूम होंगे। यही वैधव्यदशा में पातिव्रत्य रखने का व अविद्याभाव को दूर करके विद्याभाव के बढ़ाने का प्रथम उपाय है। संसार में सुख दुःख करके कोई वस्तु नहीं है। भिन्न भिन्न दशा में चित्त के भिन्न भिन्न भावों के अनुसार सुख दुःख की प्रतीति होती है। एक ही वस्तु एक भाव में देखने से सुख देनेवाली और दूसरे भाव में देखने से दुःख देनेवाली हो जाती है। संसारी के लिये कामिनी, काञ्चन, आदि जो सुख है, संन्यासी के लिये वही दुःख है अतः संन्यासी के लिये जो सुख है, गृहस्थ के लिये वही दुःख है। प्रवृत्ति की दृष्टि से देखने पर सांसारिकभोग की वस्तुओं में सुख प्रतीत होने लगता है; परन्तु वे ही सब वस्तु निवृत्ति की दृष्टि से देखेजाने पर दुःखदायी मालूम होने लगते हैं इसलिये विधवाओं के भीतर ऐसी बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिये कि वे साँसारिक सभी वस्तुओं को निवृत्ति की दृष्टि से अकिञ्चित्कर व दुःखपरिणामी देखें। यही वैधव्यदशा में पातिव्रत्यपालन का द्वितीय उपाय है। विधवा की हृदयकन्दरा में निहित पवित्र प्रेमधारा को हृदय में ही बद्ध रखकर सड़ जाने देना नहीं चाहिये; किन्तु संन्यासी की तरह उसे "वसुधैव कुटुम्बकम्" भाव में परिणत करना चाहिये। परिवार में जितने बालबच्चे हैं सबकी माता मानो विधवा ही है इस प्रकार का भाव विधवा के हृदय में उत्पन्न करना चाहिये। उनके हृदय में निःस्वार्थ प्रेम व परोपकारप्रवृत्ति का भाव जगाना चाहिये। यही वैधव्यदशा में पातिव्रत्यरक्षा का तृतीय उपाय है। इसका चतुर्थ उपाय सबसे सहज व सबसे कठिन है वह यह है कि पितृकुल में यदि विधवा रहे तो उसके माता पिता और श्वशुरकुल में यदि विधवा रहे तो उसके सास व श्वशुर जिस दिन से घर में स्त्री

विधवा हो उसी दिन से विलासक्रिया छोड़ देवें। ऐसा होने से घर की विधवा कभी नहीं बिगड़सकती है। उसके सामने का ज्वलन्त आदर्श उसके चित्त को कभी मलिन होने नहीं देता है। इसका पञ्चम उपाय यह कि जिस घर में कोई विधवा हो वहाँ के सभी स्त्री पुरुष बहुत सावधानता से विषय-सम्बन्ध करें जिसका कुछ भी पता विधवा को न मिले। इसका षष्ठ उपाय सदाचार है। विधवा स्त्रियाँ आचारवती होवें। खानपान आदि के विषय में सावधान रहें। विधवा को श्वेत वस्त्र पहनना चाहिये और अलङ्कार धारण नहीं करना चाहिये क्योंकि रङ्गीन वस्त्र और धातु का अलङ्कार स्नायविक उत्तेजना उत्पन्न करके विधवा के ब्रह्मचर्य्यव्रत में हानि पहुँचा सक्ता है इसमें वैज्ञानिक कारण बहुत हैं। उनको निर्लज्जा होकर इधर उधर घूमना नहीं चाहिये। नाटक देखना, जिसके तिसके मकान पर जाना और वैषयिक बातें करना वा इस प्रकार की तसवीर या पुस्तक देखना कभी नहीं चाहिये। विधवा के खान पान की व्यवस्था परिवार के स्वामी ही करें; अन्य कोई न करे। जिस प्रकार देवता के नाम पर आई हुई वस्तु अन्य कोई नहीं खाते उसीप्रकार विधवा के लिये निर्दिष्ट वस्तु को कोई ग्रहण न करें। रात को एक दो शिशु के साथ विधवा को शयन करना चाहिये। विधवा को किसी बात की आज्ञा करनी हो तो श्वशुर सास वा पिता माता स्वयं ही करें, वधू कन्या आदि के द्वारा कभी न करावें। उनको गृहकार्य्य में उन्मुख करके सधवाओं की सहचारिणी व उनपर कृपा करनेवाली बना देवें। विधवा कोई व्रत करना चाहे तो उसी समय करा देना चाहिये; उसमें कृपणता कभी नहीं करनी चाहिये। अन्यान्य सधवाओं की अपेक्षा विधवा के व्रतोद्यापन में अधिक व्यय व आडम्बर रहना चाहिये। इसका सप्तम उपाय यह है कि बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह उठा देना चाहिये। पूर्व्वकथनानुसार बालिकापन में विवाह न कराकर रजस्वला से पहले ही करादेना चाहिये। पुत्र होने पर भी अन्य कारणों से वृद्धावस्था में विवाह नहीं करना चाहिये। इसका अष्टम उपाय यह है कि ब्रह्मचर्य्य व संन्यासाश्रम में पुरुष के लिये शारीरिक वाचनिक व मानसिक जितने तपों का विधान किया गया है और सात्त्विक भोजन, मनःसंयम, सदाचारपालन आदि जितने नियम बताये गये हैं उन सबोंका ठीक ठीक अनुष्ठान विधवा के लिये होना

चाहिये। भगवद्भजन, शास्त्रचर्चा, वैराग्यसम्बन्धीय ग्रन्थों का पठन व मनन, पातिव्रत्यमहिमाविषयक ग्रन्थों का विचार और आध्यात्मिक उन्नतिकारी ग्रन्थों व उपदेशों का श्रवण व मनन होना चाहिये। गृहस्थदशा में पतिदेवता की साकार मूर्त्ति की उपासना थी। अब संन्यास की तरह वैधव्यदशा में उनके निराकारस्वरूप की उपासना का अधिकार प्राप्त हुआ है जिसमें उपासना द्वारा तन्मयता प्राप्त करने से मुक्ति प्राप्त होगी, यह अवस्था तुच्छ विषयसुख में मत्त गृहस्थ नर नारियों की अवस्था से उन्नत व गौरवान्वित है, सदा ही उनके चित्त में यह भाव विराजमान कराना चाहिये, जिस परमपति भगवान् की कृपा से प्रारब्धानुसार यह उन्नत साधनदशा प्राप्त हुई है उनके चरणकमल में कृतज्ञता व भक्ति के साथ नित्य बारबार प्रणाम व उनका नियमित ध्यान करना सिखाना चाहिये। इन सब उपायों को अवलम्बन करने से घर में विधवा स्त्री साक्षात् जगदम्बारूपिणी बन जाती है। उसकी अविद्याप्रकृति लय होकर विद्याप्रकृति का पूर्ण प्रकाश होजाता है। ऐसी विधवा स्वयं ही भोगवासना आनन्द के साथ त्याग कर देती है, विषय का नाम लेने से उसको घृणा आती है, गृहकार्य्य में परम निपुणा होती है, अतिथिसत्कार अभ्यागत कुटुम्ब व आत्मीयजनों की संवर्द्धना आदि कार्य्य को परम प्रेम के साथ करने लगती है, सबल नीरोग व तेजस्विनी हो जाती है, ईर्षा आदि दोषों को त्याग करके सधवा स्त्रियों के प्रति दयावती और गृहस्थ के सन्तानों के प्रति मातृवत्स्नेहशीला होती है। जिस संसार में इस प्रकार की विधवा विद्यमान है वहां एक प्रत्यक्ष देवीमूर्त्ति का अधिष्ठान समझना चाहिये। वहां पर सभी लोग ऋषिचरित्र के द्रष्टा व फलभोक्ता हैं और जहाँ इस प्रकार दृष्टि, भाव व फलभोग है वहाँ पहले कहे हुए अदूरदर्शी व्यक्तियों की पाप व भ्रूणहत्या की शङ्का व कल्पना कभी नहीं आसक्ती है। आर्य्यजाति ऐसी ही थी और यदि भारत को यथार्थ उन्नत करना हो तो ऐसे आदर्श की ही प्रतिष्ठा करनी चाहिये। अन्य किसी आदर्श के द्वारा आर्य्यजाति अपने स्वरूप पर स्थित रहकर उन्नत नहीं हो सकती है। अपने जातिगत मौलिक आदर्श को त्यागकरके अन्यदेश के आदर्श ग्रहण करने की चेष्टा करने से संस्कारविरुद्ध होने के कारण "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" हो जायगा और आर्य्यजाति

घोर अवनति को प्राप्त हो जायगी। अतः आजकल के सभी नेताओं को इन सब नारी धर्म्म सम्बन्धीय विज्ञानों का रहस्य समझकर यथार्थ उन्नति के पुरुषार्थ में सन्नद्ध होना चाहिये।

अन्त में एक दो विषय और भी विचार करने योग्य हैं। ऊपरलिखित नियमों के अनुसार विधवाओं की रक्षा व शिक्षा होने से वैधव्यदशा में पातिव्रत्यधर्म्म का पूर्ण पालन हो सकेगा इस में कोई सन्देह नहीं। परन्तु यदि प्रारब्ध मन्द होने के कारण इतनी शिक्षा देने पर भी कोई विधवा अपने धर्म्म को पालन न करसके और अजस्र व्यभिचार द्वारा कुल में कलङ्क आरोपण करने लगजाय तो उस दशा में अच्छूद्रजातियों के सिवाय अन्यके लिये यही करना होगा कि अनेक पुरुषों का सङ्ग व अजस्र व्यभिचार को घटाने के लिये एक पुरुष के साथ उसका सम्बन्ध कराकर उसे जाति से अलग कर देना होगा। इस प्रकार से पुरुष सम्बन्ध करादेना आदर्श धर्म्म नहीं होगा या विवाह नहीं कहलावेगा; परन्तु अनेक पुरुषसङ्ग द्वारा अधिक व्यभिचार से बचाने के लिये एक पुरुष-संग्रहण मात्र कहलावेगा पहले ही मनुजी की आज्ञा बताई गई है कि वेद में विधवा विवाह के लिये कोई मन्त्र नहीं है अतः इस प्रकार पुरुषान्तरग्रहण विवाह नहीं कहला सकता। और ऐसी पतिता स्त्री को घर में सती स्त्रियों के साथ कभी नहीं रखना चाहिये क्योंकि ऐसा होने से कुसङ्ग के कारण सतियाँ भी बिगड़ जायँगी, कम से कम उनके चित्त से पातिव्रत्य की गंभीरता कम हो जायगी, कुल में कलङ्क लगेगा, संसार नरक हो जायगा इत्यादि अनेक दोषों के कारण इस प्रकार निन्दनीया व हतभागिनी स्त्री को घर से अलग कर देना ही ठीक रहेगा। इस प्रकार सती व असती स्त्रियों में भेद रखने पर सती स्त्रियों पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा; वे मन से भी सती धर्म्म से च्युत नहीं होंगी और विधवा होने पर भी व्यभिचार करने की इच्छा नहीं करेंगी, कम से कम शरीर को तो पवित्र रक्खेंगी, अर्थात् पूर्व्वकथित चार श्रेणी की सतियों में से अधम सती तो बनी हो रहेगी। आजकल भारत के दुर्भाग्य से कहीं कहीं इस प्रकार की व्यभिचारिणी विधवा अच्छी कहलाने लग गई हैं और इस प्रकार परपुरुषसङ्ग के लिये उपदेश व उत्तेजना दी जा रही है सो ऐसा करना महापाप और भारत को गारत करने वाला है अतः

अर्व्वाचीन पुरुषों को आर्य्यजाति की जातीयता पर ध्यान देकर सावधान होना चाहिये, अन्यथा इस कुकर्म्म के लिये आगे अनुताप व नरकभोग करना पड़ेगा । इस प्रकार से व्यभिचारिणी स्त्री के लिये अन्यपुरुससम्बन्ध के विषय में महर्षि पराशर का वचन मिलता है । यथा:—

> नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
> पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

पति का निरुद्देश होना, मर जाना, संन्यासी हो जाना, क्लीव या पतित हो जाना, इन पांच प्रकार की आपत्तियों में स्त्री अन्य पति ग्रहण करसकती है । पराशरसंहिता के जिस प्रसंग में यह श्लोक लिखा गया है उसके देखने से ही विदित होगा कि इस प्रकार की विपत्ति में अन्य पुरुषग्रहण केवल अजस्र व्यभिचार के निषेध के लिये ही है क्यों कि इसी श्लोक को लिख-कर ही महर्षि पराशरजी ने इसके आगे तीन श्लोकों के द्वारा पातिव्रत्य की अनुपम महिमा का कीर्त्तन किया है । यथा—पतिवियोग के अन-न्तर जो स्त्री ब्रह्मचारिणी रहती है उसको स्वर्गवास होता है, जो पति का अनुगमन करती हैं वह अनन्त काल तक पतिलोक में वास करती है और यदि पति पतित भी होता है तो भी अपने पातिव्रत्य के बल से उसको ऊपर उठा लेती है इत्यादि । अतः जहाँ पर पातिव्रत्य का इतना गौरव बताया गया हो वहाँ पर पाँच विपत्ति आने से ही सती स्त्री अपने पातिव्रत्य को तिलाञ्जलि देकर अन्य पुरुष से सम्बध कर लेगी ऐसा मत पराशरजी कभी नहीं दे सकते हैं इसलिये यह श्लोक अति-अधम पक्ष में व्यभिचारिणी हतभागिनी स्त्री के लिये ही पराशरजी ने बताया है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि इस श्लोक के प्रत्येक शब्द व भाव पर विचार करने से भी यही अर्थ विदित होगा । इस श्लोक में जो पाँच घटनाएँ आपत् करके वर्णन की गई हैं वे सब सती के लिये कभी आपत् हो ही नहीं सकती है, व्यभिचारिणी के लिये भले ही आपत् हो जाय । जो सती हंसती हंसती पति के साथ सहमरण में जा सकती है और जो सती अपने हृदयमन्दिर में पति के निरा-कार स्वरूप को धारण करके चतुर्दशलोकों में से जहाँ कहीं पति हो जहाँ ही तारहीन टेलिग्राम की तरह पति की आत्मा के साथ मानसिक सम्बन्ध

कर सकती है उसके लिये पति का निरुद्देश होना वा मर जाना कोई आपत् नहीं है। और तृतीय आपत् के विषय में कहा ही क्या जाय, यदि पति के संन्यासी होने पर स्त्री को आपत् मालूम हो तो उसके ऐसी नालायक और पापिनी स्त्री और कौन होगी ? पति निवृत्तिमार्ग में जाकर आत्माराम हो गये, जितेन्द्रिय होकर संसार को छोड़ दिया और उनकी प्यारी स्त्री अपने चित्त में पति की इस आध्यात्मिक उन्नति को आपत् मानकर अन्य पुरुष से लग गई तो इससे अधिक पाशविक व लज्जाजनक बात और क्या हो सकती है ? इसलिये व्यभिचारिणी स्त्री के लिये ही पति का संन्यासी हो जाना आपत् हो सकता है, सती के लिये कदापि आपत् नहीं हो सकती है। उसके लिये पति की ऐसी उन्नति होगी तो परम आनन्द और सौभाग्य की बात है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इसी तरह पति का किसी रोग या और प्रकार से नपुंसक हो जाना या पतित हो जाना भी व्यभिचारिणी स्त्री के लिये ही आपद्रूप हो सकता है, सती के लिये नहीं। सतीधर्म्म तपोमूलक व संयममूलक है, विषयभोगमूलक नहीं है और सती में जब इतनी शक्ति है कि पतित पति को भी उद्धार करके स्वर्ग में ले सकती है तो उसके लिये पति का क्लाव या पतित हो जाना कभी आपद्रूप नहीं हो सकता है अतः पराशरजी का ऐसा कहना केवल व्यभिचारिणी विधवाओं को अधिक व्यभिचार से बचाने के लिये ही है जिसको अर्व्वाचीन लोग न समझ कर मिथ्या अर्थ करके अनर्थ उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार वेद में भी कई प्रकार के मन्त्र मिलते हैं जिनके अर्थ भी और प्रकार के हैं, उनमें से कोई भी विधवा-विवाह परक नहीं है क्योंकि वेद में विधवा विवाह के लिये मन्त्र ही नहीं है ऐसा मनुजी ने बताया है। अर्व्वाचीन लोग उनका उलटा अर्थ करते हैं। यहाँ पर बाहुल्यभय से वे सब मन्त्र नहीं दिये गये हैं, परन्तु शुद्धान्तःकरण से उन मन्त्रों पर विचार करने से और ही तत्व निकलेगा जिससे सतीधर्म्म का गौरव स्थापित होगा। पराशरजी के उक्त श्लोक का अर्थ "पतौ" शब्द का प्रयोग होने से कोई को वाग्दत्ता पर भी लगाते हैं परन्तु मनुजी ने वाग्दत्ता कन्या का विवाह उत्तम कोटि का नहीं माना है और सन्तान के अर्थ देवर के साथ वाग्दत्ता को सम्बन्ध विधिमात्र बताने पर भी विवाह विधि नहीं बताई है।

उक्त प्रकार से अक्षतयोनि विधवा के विषय में जहाँ कहीं पुरुषान्तर-ग्रहण की विधि देखने में आवे वह भी ऐसी ही दुष्ट-लक्षणयुक्ता स्त्री के विषय में समझना चाहिये क्योंकि यदि किसी अक्षययोनि विधवा की प्रकृति इंगित व और और लक्षण इस प्रकार के देखने में आवें कि वह क्षत-योनि होकर निश्चय ही घोर व्यभिचारिणी बन जायगी और कुल में कलंक आरोपण तथा संसार को भ्रष्ट करेगी तो ऐसी अक्षययोनि विधवा को भावी अधिक व्यभिचार से बचाने के लिये किसी एक पुरुष से सम्बन्ध कराकर जाति से अलग कर देना ही अन्तिम उपाय होगा। परन्तु स्मरण रहे कि यह कोई आदर्श धर्म्म या विवाह नहीं है, केवल भावी अधिक व्यभिचार से बचाने की युक्तिमात्र है। मनुजी ने अपनी संहिता के नवम अध्याय में ऐसा ही एक वैदिक विवाह संस्कार के अतिरिक्त पुनर्भूसंस्कार लिखा है। यथा :—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥
सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागताऽपि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥

दोषी होने से पति ने त्याग कर दिया है अथवा विधवा हो गई है ऐसी स्त्री अपनी इच्छा से किसी की स्त्री बनकर अर्थात् व्यभिचार द्वारा जो पुत्र उत्पन्न करे उसे पौनर्भव पुत्र कहते हैं। ऐसी कुलक्षणाक्रान्त कोई विधवा अक्षययोनि हो अथवा कोई सधवा घर से भाग कर फिर लौट आई हो तो पौनर्भव पति के साथ इन दोनों का पुनर्भूसंस्कार हो सकता है। इस श्लोक में पौनर्भव पति साधारण पुरुष नहीं है परन्तु घर से भागी हुई या परित्यक्ता या विधवा स्त्री के व्यभिचार द्वारा उत्पन्न पुरुष है और इसमें जो विधवा का उल्लेख किया गया है वह भी साधारण पतिव्रता विधवा नहीं है क्योंकि श्लोक में "सा" शब्द के द्वारा पूर्व्वश्लोकोक्त लक्षणानुसार ऐसी ही विधवा वह है जो स्वेच्छया (अपनी इच्छा से) अन्य पुरुष से संसर्ग करके पौनर्भव पुत्र उत्पन्न करनेवाली हो। इसी प्रकार से दुष्टलक्षणयुक्ता विधवा यदि अक्षत योनि हो और उसके लक्षणों से यदि निश्चय हो जाय कि भविष्यत् में

वह अपनी इच्छा से व्यभिचार करेगी तो ऐसी अक्षतयोनि विधवा का सम्बन्ध पुनर्भूसंस्कार के द्वारा ऊपर लिखे हुए पौनर्भव भर्त्ता के साथ हो सकता है और घर लौटी हुई सधवा अक्षत वा क्षत योनि स्त्री का पुनर्भू-संस्कार उसके पति से (जो भी पौनर्भव कहलावेगा, यदि पति की इच्छा हो तो) हो सकता है ! इन दोनों श्लोकों से अक्षतयोनि विधवा का विवाह नहीं कहा गया है; परन्तु भावी अधिक व्यभिचार से बचाने के लिये व्यभि-चार से उत्पन्न किसी पौनर्भव पुरुष के साथ सम्बन्धमात्र कहा गया है। यहाँ पुनः संस्कार साधारण वैदिक संस्कार नहीं है; परन्तु निन्दनीय पुनर्भू-संस्कार है अतः साधारण विवाह में इसकी गणना नहीं हो सकती है। इस प्रकार अक्षतयोनि विधवा के विषय में और भी कहीं प्रमाण मिले तो वह सब ही इसी भाव से लिखा गया है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि क्षत हो या अक्षत हो जब एक बार विवाह होने के बाद द्वितीय विवाह के लिये वेद में मन्त्र ही नहीं है तो फिर इस प्रकार का विवाह कैसे हो सकता है ? मनुजी ने अन्यान्य अनेक श्लोकों से जोकि पहले बताये गये हैं इसका पूर्ण निषेध किया है। और केवल वेद में द्वितीय विवाह के लिये मन्त्र नहीं है यही कारण नहीं है, अधिकन्तु जब प्रथम विचार के द्वारा सप्तपदीगमन के पश्चात् स्त्री अपने गोत्र आदि से च्युत होकर पति की ही हो जाती है उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता है तो फिर अन्य पति से पुनः गोत्र बदलकर कैसे विवाह हो सकता है ? यह बात विचार से पूर्ण विरुद्ध प्रतीत होती है। लिखितसंहिता में कहा है कि :—

स्वगोत्राद्भ्रश्यते नारी उद्वाहात्सप्तमे पदे ।
भर्त्तृगोत्रेण कर्त्तव्यं दानं पिण्डोदकक्रिये ॥

सप्तपदीगमन के अनन्तर स्त्री अपने गोत्र से च्युत हो जाती है। उसके बाद दान, श्राद्ध, तर्पण आदि सभी क्रिया पति के गोत्र से हुआ करती है। इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त अक्षतयोनि विधवा का विवाह विचार से भी विरुद्ध प्रतीत होता है। इस विषय में जब कोई भी सन्देह नहीं है कि एक पति में तन्मय होकर ही स्त्री अपनी उन्नति व मुक्ति प्राप्त कर सकती है और स्त्री के लिये द्वितीय धर्म्म कोई भी नहीं है तो जो कुछ विधि इससे

विरुद्ध भाव को उत्पन्न करेगी उससे स्त्री की उन्नति में अवश्य ही हानि होगी । मन्द प्रारब्ध के कारण स्वभावतः व्यभिचारदोष से दूषित अथवा व्यभिचार की सम्भावनायुक्त क्षत वा अक्षतयोनि स्त्री को एक पुरुष से सम्बन्धयुक्त करके जाति से अलग कर देना उसे अधिक पाप से बचाने के लिये एक युक्तिमात्र है, आदर्शधर्म्म नहीं है । अक्षतयोनि के लिये यह उपाय तभी किया जा सकता है जब कि वह कुलक्षणाक्रान्त हो और ऐसा निश्चय हो जाय कि एक पुरुष से सम्बन्ध न कर देने से वह अनेक के साथ व्यभिचार करेगी; परन्तु जहां ऐसी सम्भावना व संशय न हो वहां पर ऐसा करने से महापाप होगा क्योंकि अक्षतयोनि विधवा स्त्री क्षतयोनि होने के अनन्तर यदि एकपतिव्रत का पालन कर सकने योग्य और ब्रह्मचारिणी होकर पतिलोक प्राप्त कर सकने योग्य निकले तो पहले से ही उसको पुरुषसम्बन्ध कराकर पातिव्रत्य से भ्रष्ट कर देने का अधिकार किसका है ? अपनी कपोलकल्पना, अहङ्कार या भ्रान्त सिद्धान्तों से अन्य को उसके धर्म्म से गिरा देना विचार व धर्म्मराज्य का कार्य्य नहीं होगा; परन्तु महापाप होगा । इसलिये क्षत व अक्षत दोनों प्रकार की विधवाओं के लिये ही पातिव्रत्य का एक ही आदर्श होना चाहिये ।

जिस प्रकार स्त्री के लिये एक पतिव्रता होना प्रशंसनीय है उसी प्रकार पुरुष के लिये भी एक पत्नीव्रत होना प्रशंसनीय है; परन्तु स्त्री प्रकृति के साथ पुरुष प्रकृति की विशेषता होने से जिस प्रकार एक पतिव्रत होना ही स्त्री के लिये एकमात्र धर्म्म व मुक्ति का कारण है ऐसा पुरुष के लिये एक पत्नीव्रत होना मात्र ही धर्म्म नहीं है । दोनो प्रकृति की विशेषता ही इस में कारण है । विवाह के उद्देश्यवर्णन के प्रसंग में पहले ही कहा गया है कि स्त्री का विवाह सृष्टि विस्तार करते हुए एक पति में तन्मय होकर अपनी योनि से मुक्ति लाभ करने के लिये है और पुरुष का विवाह सृष्टिविस्तार में सहायता करते हुए प्रकृति को देखकर स्वरूपस्थित होने के लिये है । स्त्री की मुक्ति एक पति में तन्मयता द्वारा ही सम्भव होने से स्त्री का सृष्टिविस्तार उस तन्मयता को मुख्य रखता हुआ होना चाहिये, तन्मयता को बिगाड़कर नहीं होना चाहिये क्योंकि इस प्रकार सृष्टिविस्तार मुक्ति का विरोधी होने से स्त्री के लिये अधर्म्म होगा । तन्मयता एक पति में ही

सम्भव है, अनेक पति में सम्भव नहीं है इसलिये एकपतिव्रत को दृढ़ रखती हुई ही स्त्री सृष्टिविस्तार कर सकती है और अन्त में पति में तन्मय होकर मुक्त हो सकती है। इसके अतिरिक्त स्त्री का अस्तित्व गोत्रादि के बदलने से स्वतन्त्र न होकर पति के अधीन होने के कारण सन्तान भी पति के ही सम्बन्ध से होता है, स्त्री के स्वतन्त्र सम्बन्ध से नहीं होता है इसलिये व्यावहारिक जगत् में भी स्त्री का अपने सम्बन्ध से सृष्टिविस्तार निरर्थक है; परन्तु पुरुष का धर्म्म और मुक्ति का उपाय इस प्रकार का नहीं है। पुरुष की मुक्ति प्रकृति में सृष्टिविस्तार करते हुए उससे पृथक् होकर स्वरूप में स्थित होने पर तब होती है। यदि एकपत्नी के द्वारा ये दोनों उद्देश्य सिद्ध हों तो पुरुष के लिये द्वितीय विवाह की कोई आवश्यकता नहीं होगी; परन्तु यदि किसी कारणवशात् ऐसा न हो सके तो पुरुष के लिये द्वितीय दारपरिग्रह की आवश्यकता हो जाती है। श्रुति में कहा है कि:—

तस्मादेको बह्वीर्विन्देत।
तस्मादेकस्य बह्वयो जाया भवन्ति।

इन वचनों से श्रुति ने भी इस आवश्यकता के विषय में कथन किया है। अब द्वितीयदारपरिग्रह के लिये "सृष्टिविस्तार" व "प्रकृतिदर्शनात्स्वरूपस्थिति" ये दो ही कारण हुए सो किस अवस्था में कार्यरूप में परिणत हो सकते हैं सो बतायाजाता है। सृष्टिविस्तार अर्थात् सन्तान उत्पन्न करके वंशरक्षा व पितरों का ऋणशोध लौकिक प्रवृत्तिमार्ग का धर्म्म है, निवृत्तिमार्ग का नहीं है। निवृत्तिमार्ग में प्रवृत्ति की "जिम्मेवरी" या प्रवृत्तिमार्ग का कर्त्तव्य कुछ भी नहीं रहता है इसलिये यदि सन्तान होने से पहले ही स्त्री की मृत्यु हो अथवा प्रथम स्त्री द्वारा सन्तान-उत्पत्ति न हो तो इस दशा में द्वितीय विवाह करना तभी आवश्यक होगा जब पुरुष की चित्तवृत्ति प्रवृत्तिमार्गीय सृष्टिविस्तार आदि चाहती हो अन्यथा, स्त्री के रहते हुए सन्तान न रहने पर भी यदि पुरुष निवृत्तिपरायण हो जाय अथवा प्रथम स्त्री की मृत्यु होने के अनन्तर पुरुष निवृत्तिसेवी हो जाय और आत्मा व जगत् की उन्नति में चित्त को समर्पण करे तो ऐसे पुरुष के लिये द्वितीय विवाह की कोई आवश्यकता नहीं होती है। उसको पितृ-ऋण पुत्रोत्पत्ति द्वारा शोध

करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि उसके आध्यात्मिक बल से ही चतुर्दश पुरुष उद्धार हो जाते हैं अतः सृष्टिविस्तारपक्ष में निस्सन्ताना स्त्री के जीते रहते हुए या निस्सन्तान अवस्था में स्त्री की मृत्यु होने से द्वितीय विवाह की आवश्यकता लौकिक प्रवृत्तिदशा में होगी, निवृत्ति-दशा में नहीं होगी यह सिद्धान्त स्थिर हुआ। भगवान् मनुजी व अन्यान्य संहिताकारों ने ऐसी ही दशा में द्वितीयदारपरिग्रह की आज्ञा दी है। यथाः—

भार्य्यायै पूर्व्वमारिण्यै दत्त्वाऽग्नीनन्त्यकर्म्मणि।
पुनर्दारक्रियां कुर्य्यात् पुनराधानमेव च॥
वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याऽब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥

भार्य्या की मृत्यु यदि पहले हो तो उसका दाहादि व अन्त्येष्टिक्रिया समाप्त करके पुनः दारपरिग्रह व अग्निपरिचर्य्या करे। स्त्री यदि वन्ध्या हो तो प्रथम ऋतु से आठवें वर्ष में, मृतवत्सा हो तो दसवें वर्ष में और केवल कन्या प्रसव करनेवाली हो तो ग्यारहवें वर्ष में द्वितीय विवाह करे; किन्तु अप्रियवादिनी होने से शीघ्र ही द्वितीय विवाह करे। इसप्रकार का द्वितीय दारपरिग्रह साधारणतः सृष्टिविस्तार को लक्ष्य करके ही है। इसके सिवाय व्यसनिनी व दुश्चरित्रा स्त्री के रहतेहुए भी द्वितीय दारपरिग्रह करने की आज्ञा मनुजी ने दी है। यथाः—

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्।
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्व्वदा॥

मद्यपानासक्ता, दुश्चरित्रा, पतिविद्वेषिणी, असाध्यरोगग्रस्ता, हिंस्रप्रकृति व धनक्षयकारिणी स्त्री के रहते हुए द्वितीय विवाह होना चाहिये। स्त्री रोगग्रस्त होने से विवाह करना साधारणतः मनुष्यत्व से विरुद्ध कार्य्य है; परन्तु कठिनरोग ऐसा हो जाय कि सन्तति न हो सके तो सन्तति के लिये विवाह करना आवश्यकीय है इसलिये दोनों विषयों के सामञ्जस्य रखने के लिये मनुजी कहते हैं कि:—

या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः।

साऽनुज्ञाप्याऽधिवेत्तव्या नाऽवमान्या च कर्हिचित् ॥

असाध्यरोगग्रस्ता परन्तु पतिप्राणा व सुशीला स्त्री की सम्मति लेकर तब द्वितीय विवाह करना चाहिये, कदापि उसकी अवमानना नहीं करना चाहिये। इस तरह से मनुजी ने व अन्यान्य स्मृतिकारों ने भी कुलरक्षा व पितृपिण्डदान के लिये प्रवृत्तिमार्गशील गृहस्थों को द्वितीय वार दार-परिग्रह करने की आज्ञा दी है। परन्तु स्त्री के लिये ऐसी आज्ञा नहीं हो सकती है क्योंकि पहले कहे हुए अन्यान्य कारणों के सिवाय यह भी एक कारण है कि स्त्री के गर्भ से उत्पन्न पुत्र पुरुष का होता है, उसका गोत्र पुरुष का होता है, उससे पतिकुल की रक्षा व पिण्डदान कार्य्य होता है, स्त्री के पितृकुल का उससे इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता है अतः वंशरक्षा व पिण्डदान के लिये स्त्री के द्वितीय विवाह की कोई युक्ति नहीं है। ऊपर लिखित युक्ति व प्रमाणों से यही सिद्धान्त हुआ कि एक सन्तान होजाने पर वंश-रक्षा के अर्थ पुरुष के द्वितीय विवाह की और कोई आवश्यकता नहीं है। महर्षि आपस्तम्ब ने ऐसा कहा भी है कि :—

धर्म्मप्रजासम्पन्ने दारे नाऽन्यां कु-
र्व्वीताऽन्यतराऽपाये तु कुर्व्वीत ।

सन्तान रहने से व गार्हस्थ्य धर्म्म के निभानेवाली स्त्री के रहने से द्वितीय दारपरिग्रह नहीं करना चाहिये। यदि सन्तान न हो या स्त्री मनुजी के उपदेशानुरूप अनुकूल न हो तो द्वितीय दारपरिग्रह करना चाहिये।

पुरुष के लिये द्वितीय विवाह का अन्य कारण प्रकृति को देखकर मुक्ति है। विवाह का उद्देश्य वर्णन करते समय पहले ही कहा गया है कि स्वाभाविकी सकल-स्त्रीपरायणा प्रवृत्ति को रोककर एक ही स्त्री में उस प्रवृत्ति को केन्द्री-भूत करते हुए क्रमशः उससे अलग होकर मुक्ति प्राप्त करना ही पुरुष के लिये विवाह का लक्ष्य है। प्रवृत्ति का यही स्वभाव है कि यदि मुक्ति को लक्ष्य करके भावशुद्धिपूर्व्वक प्रवृत्ति की जाय तभी कुछ दिनों में प्रवृत्ति का नाश व निवृत्ति का उदय हो सकता है। अन्यथा, भावशुद्धि व मुक्ति का लक्ष्य न होने से प्रवृत्ति के द्वारा घृताहुत वह्नि की नाईं प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ने लगती है, घटती नहीं है। इसलिये गृहस्थाश्रम में जो प्रवृत्ति की आज्ञा

है वह अनर्गल व मलिनभावयुक्त प्रवृत्ति नहीं है। परन्तु शुद्धभावमूलक व नियमित प्रवृत्ति है जिसके अन्त में निवृत्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्रवृत्तिमार्ग की एक अवधि है जहांपर निवृत्तिभाव का उदय होता है और पुरुष प्रकृति को छोड़कर मुक्त हो जाता है। उस अवधि पर पहुँचने के लिये भावशुद्धियुक्त नियमित प्रवृत्ति की आवश्यकता रहती है क्योंकि वह शुद्ध भावमूलक प्रवृत्ति ही कुछ दिनों में गृहस्थ को उस अवधि पर पहुँचाकर निवृत्ति दे सकती है। परन्तु यदि घटनाचक्र से उस अवधि पर पुरुष के पहुँचने के पहले ही भावशुद्धिपूर्व्वक प्रवृत्ति की चरितार्थता की केन्द्ररूप स्त्री का वियोग होजाय तो उस दशा में प्रवृत्ति की अवधि पर पहुँचने के लिये दो उपाय हो सकते हैं। प्रथम—प्रवृत्ति के वेग को संसार की ओर से मोड़कर सकल रस के अधारभूत भगवान् में लगा दिया जाय और दूसरा—द्वितीय विवाह करके भावशुद्धिमूलक प्रवृत्ति की चरितार्थता के लिये द्वितीय स्त्रीरूप केन्द्र बनाया जाय। प्रथम उपाय को जो पुरुष अवलम्बन करसकते हैं अर्थात् एक स्त्री के मर जाते ही समस्त वासना को श्रीभगवान् के चरण-कमलों में विलीन करके निवृत्तिपथ के पथिक हो सकते हैं वे महात्मा हैं, उनका जीवन धन्य है और वे आर्य्यजाति के अनुकरणीय हैं। श्रीभगवान् रामचन्द्र आदि का जीवन इसी आदर्श का बतानेवाला था। इसलिये एकपत्नीव्रत का यह आदर्श यदि पालन होसके तो बड़ी ही अच्छी बात है। इसप्रकार के महान पुरुष अपना व संसार का बहुत कल्याण कर सकते हैं। परन्तु यदि पुरुष का अधिकार ऐसा उन्नत न हो तो दूसरा उपाय करने के सिवाय प्रकृति से अलग होने की और कोई भी युक्ति नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति अभी तक भीतर रहने के कारण केन्द्र न पाने से जिधर तिधर घूमती हुई पापपङ्क में अनर्गल भोग में पुरुष को डुबा सकती है। इसलिये ऐसी अवस्था में अनर्गल प्रवृत्ति को एक स्त्रीरूप केन्द्र में बाँधना युक्तियुक्त होगा। परन्तु स्मरण रहे कि इस प्रकार केन्द्र में बाँधना प्रवृत्ति के बढ़ाने के लिये नहीं होगा परन्तु उसके घटाने के लिये होगा; अर्थात् पूर्व्व रीति के अनुसार मुक्ति को लक्ष्य करके प्रवृत्ति को त्याग करने के लिये जो भावशुद्धि-पूर्व्वक भोग की व्यवस्था हुई थी; अवधि में पहुँचने के पहले ही केन्द्र के बीच में नष्ट हो जाने के कारण उसी भावशुद्धि के साथ अवधि में पहुँचने

के लिये नवीन केन्द्र का संग्रह करना ही इस प्रकार के विवाह का लक्ष्य होगा। निवृत्ति के प्राप्त करने के लिये प्रवृत्ति हो तभी प्रवृत्ति की अवधि हो सकती है, अन्यथा, प्रवृत्ति में मत्त हो जाने से कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती हैं। इसलिये यदि उसी भावशुद्धि पूर्व्वक निवृत्ति व मुक्ति को लक्ष्यीभूत करके द्वितीय विवाह किया जाय तभी उससे सुफल व निवृत्ति-लाभ हो सकता है। अन्यथा केवल कामसेवा के लिये द्वितीय विवाह भोगबुद्धि को और भी बढ़ाकर मनुष्य की बड़ी ही अधोगति कर देगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। महाभारत में लिखा है कि:—

एकस्य बह्वयो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन ! ।
नैकस्या बह्वः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित् ॥

एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ हो सकती हैं परन्तु एक स्त्री के अनेक पति नहीं हो सकते हैं। इस कथन में बहुपत्नीसम्बन्ध ऊपरलिखित द्वितीय उपाय के अनुसार भावशुद्धि द्वारा प्रवृत्तिसेवा करके निवृत्ति के लिये ही हो सकता है, अन्यथा भावशुद्धि व निवृत्ति लक्ष्य न रहने से कदापि उन्नति व प्रकृति से मुक्ति नहीं हो सकती है। ऊपर जो इस प्रकार से द्वितीय विवाह की युक्ति बताई गई है वह एक स्त्री की मृत्यु के अनन्तर दूसरे विवाह के विषय की है और महाभारत के उक्त श्लोक में एकदम ही अनेक स्त्री रखने के विषय में कहा गया है। महाभारत का यह कथन और भी निम्नकोटि पुरुष के वास्ते प्रवृत्तित्याग की युक्ति है अर्थात् असंख्य स्त्रियों में भोगपरायण प्रवृत्ति को स्वल्पसंख्यक स्त्रियों में बाँधकर धीरे धीरे निवृत्तिपथ में लाने की युक्तिमात्र है। यह प्रथा प्रशंसनीय नहीं है और इससे कहीं कहीं घोर अनर्थ भी उत्पन्न हुआ है। परन्तु चाहे एक स्त्री की मृत्यु के अनन्तर दूसरी का ग्रहण हो या साथ ही साथ दो चार स्त्रियों का ग्रहणरूप निम्न श्रेणी का विवाह हो भावशुद्धिपूर्व्वक प्रवृत्ति द्वारा निवृत्तिप्राप्ति को लक्ष्यीभूत न रखकर कामभोग लक्ष्य रखने से दोनों प्रकार के विवाहोंमें ही घोर अवनति होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसप्रकार पशुभाव से स्त्रीसंग्रह करनेवाले पुरुष आजकल भारत में देखने में आते हैं। उनका यह केवल कामभोग-लक्ष्य से किया हुआ विवाह पाशविक विवाहमात्र है, आर्य्यजाति के

आदर्श के अनुकूल विवाह नहीं है अतः जिस प्रकार व्यभिचारिणी क्षत वा अक्षतयोनि स्त्री को अधिक व्यभिचार से बचाने के लिये एक पुरुष से सम्बन्ध कराकर समाज कुल व सतीधर्म्म के आदर्श की रक्षा के लिये जाति से अलग कर देना युक्तियुक्त है उसी प्रकार आर्य्यजाति में विवाह व आर्य्यगौरव का आदर्श स्थायी रखने के लिये ऐसे पशुप्रकृति कामोन्मत्त पुरुषों को भी जाति से च्युत कर देना चाहिये ।

जिन कारणों से पुरुष के लिये द्वितीय विवाह द्वारा प्रकृति से पृथक् हो कर निवृत्ति व मुक्ति का उपाय बताया गया है वे सब स्त्री के द्वितीय विवाह में कारण नहीं हो सकते हैं क्योंकि स्त्रीप्रकृति व पुरुषप्रकृति पृथक् पृथक् है। पुरुष में भोग की सीमा रहने से भावशुद्धिपूर्व्वक भोगद्वारा पुरुष प्रवृत्ति की सीमा पर पहुँचकर निवृत्ति व मुक्ति पा सकता है; परन्तु स्त्री के लिये भोग की सीमा न रहने से वहां पुरुष की तरह भावशुद्धि हो ही नहीं सकती है। वहां नवीन पुरुष के पाने से नवीन नवीन कामभोगस्पृहा की वृद्धि ही होगी क्योंकि वहाँ भोगशक्ति असीम है । जहाँ भोगशक्ति में सीमा है वहाँ भावशुद्धि द्वारा भोगप्रवृत्ति घटते हुए अन्त में निवृत्ति आ सकती है; परन्तु जहाँ भोग-शक्ति में सीमा नहीं है वहाँ भावशुद्धि की चेष्टा न करके भोगशक्ति को बढ़ने का मौका न देना ही धर्म्म व विचार का कार्य्य होगा । एकपतिव्रतधर्म्म के द्वारा भोगशक्ति को बढ़ने का मौका नहीं मिलता है, बल्कि संयमशक्ति, धैर्य्यशक्ति व विद्याप्रकृति को बढ़ने का मौका मिलता है जिससे सती स्त्री अविद्यामूलक कामप्रवृत्ति को छोड़ पति में तन्मय होकर अपनी योनि से मुक्त हो जाती है । अनेक पुरुष के सङ्ग से ऐसा कभी नहीं हो सकता है इस लिये पुरुष व स्त्री के धर्म्म में और उन्नति व मुक्ति के मार्ग में आकाश पाताल-सा विभेद है । अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार साधन करते हुए उन्नत व मुक्त होना ही सुखसाध्य व धर्म्मानुकूल है । प्रकृतिविरुद्ध कार्य्य होने से उन्नति के बदले में अवनति होना निश्चय है अतः सब आर्य्य-नेताओं को इन सब बातों पर ध्यान रखकर स्त्री व पुरुष का धर्म्म बताना चाहिये । नारीधर्म्म और पुरुषधर्म्म से उसकी विशेषता, ये दोनों पूर्णरूप से जो बताये गये हैं इन पर विचार कर चलने से आर्य्यजाति परम कल्याण व उन्नति कर सकेगी, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है ।

पुरुषधर्म्म से नारीधर्म्म किस प्रकार स्वतन्त्र व विलक्षण है यही इस अध्याय में विस्तारितरूप से दिखाया गया है। पुरुषधर्म्म यज्ञप्रधान है और नारीधर्म्म तपप्रधान है। सृष्टिकार्य्य में पुरुष गौण और नारी प्रधान होने के कारण नारीजाति की विशेषता, नारीजाति का महत्त्व, नारीजाति की सुरक्षा, नारीजाति की पवित्रता, नारीजाति की अस्वतन्त्रता और नारीजाति की विशेष शिक्षा की उपयोगिता आदि को लक्ष्य में रखकर पूज्यपाद महर्षियों ने नारीधर्म्म का वर्णन किया है। नारीधर्म्म पातिव्रत्यमूलक है क्योंकि बिना पुरुष में तन्मयता प्राप्त किये नारीजाति कदापि नारीयोनि से पुरुष नहीं हो सकती है इसी कारण नारीजाति की शिक्षा, नारीजाति का विवाह, नारीजाति का गृहिणीधर्म्म और नारीजाति का वैधव्यधर्म्म सभी पातिव्रत्यमूलक होना चाहिये। आर्य्यजाति में स्त्री के लिये आदर्श सतीधर्म्म के बीज के सुरक्षित किये बिना आर्य्यजाति का आर्य्यत्व कदापि स्थायी नहीं रह सकता है। आर्य्यजाति में पुरुष का विवाह अधर्म की निवृत्ति करके धर्म्ममार्ग में सुविधा प्राप्त करने के लिये है और नारी का विवाह पुरुष में अनन्यभाव से तन्मयता लाभ करके स्त्रीयोनि से मुक्त होनेके लिये है अतः आर्य्यजाति के वैवाहिक विज्ञान के अनुसार न आर्य्यस्त्रियाँ स्वतन्त्रा हो सकती हैं और न उनमें विधवा-विवाह का कलङ्क लग सकता है। आर्य्यनारी ही पृथिवीभर में आदर्श नारी है। आर्य्यजाति में विधवा स्त्रियाँ उपेक्षा व घृणा की पात्री नहीं हैं; महर्षियों के विज्ञान व आर्य्यशास्त्र के अनुसार वे प्रत्यक्षदेवी हैं, संसार में वे पूजनीय हैं और आश्रमधर्म्म में संन्यासधर्म्म के महत्त्व के अनुरूप आर्य्यविधवाओं का महत्त्व सर्व्वसम्मत है।

तृतीय समुल्लास का चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।



श्रीधर्मकल्पद्रुम

(श्रीसत्यार्थविवेक)

का

प्रथम खण्ड समाप्त हुआ ।